मुख्यमंत्री सामुदायिक नेतृत्व क्षमता विकास कार्यक्रम

समाजकार्य स्नातक पाठ्यक्रम (तृतीय वर्ष)

(सामुदायिक नेतृत्व में विशेषज्ञता सहित)

Bachelor of Social Work (Third Year)

(With Specialization in Community Leadership)

मॉड्यूल–15

समाज कार्य की सहायक पद्धतियाँ एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणायें

(Secondary Methods of Social Work & Psychological Concepts)

प्रायोजक

महिला एवं बाल विकास विभाग, मध्यप्रदेश

आदिम जाति कल्याण विभाग, मध्यप्रदेश

मध्यप्रदेश जन अभियान परिषद

संचालन

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय

चित्रकूट, सतना (म.प्र.) – 485334

स्व–निर्देशित अध्ययन सामग्री
Self -Instructional Learning Material

मुख्यमंत्री सामुदायिक नेतृत्व क्षमता विकास कार्यक्रम

मॉड्यूल-15

समाजकार्य की सहायक पद्धतियाँ एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणाएँ
(Secondary Methods of Social Work & Psychological Concepts)

समाजकार्य स्नातक पाठ्यक्रम (सामुदायिक नेतृत्व)
Bachelor of Social Work (Community Leadership)

महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट
जिला-सतना (मध्यप्रदेश) - 485334

मॉड्यूल–15 : समाजकार्य की सहायक पद्धतियाँ एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणाएँ
(Secondary Methods of Social Work & Psychological Concepts)

अवधारणा एवं रूपरेखा : **संस्करण 2017**

बी.आर. नायडू , आई.ए.एस. प्रमुख सचिव
जे.एन. कंसोटिया, आई.ए.एस. प्रमुख सचिव
अशोक शाह, आई.ए.एस. प्रमुख सचिव

प्रेरणा एवं मार्गदर्शनः

प्रो. नरेश चन्द्र गौतम, कुलपति, महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट

परामर्शः

डॉ. टी. करुणाकरन, पूर्व कुलपति
जयश्री कियावत, आई.ए.एस., आयुक्त, महिला सशक्तिकरण
उमेश शर्मा, कार्यपालन निदेशक, मध्यप्रदेश जन–अभियान परिषद

लेखक मण्डलः

प्रो. संजय, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
डॉ. नंदलाल मिश्र
डॉ. विनोद शंकर सिंह
डॉ. अजय आर. चौरे

संपादक मण्डल :

डॉ अमरजीत सिंह
डॉ. वीरेन्द्र कुमार व्यास

मुद्रक एवं प्रकाशक :

ग्रामोदय प्रकाशन के लिए कुलसचिव
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट
जिला–सतना (मध्यप्रदेश) – 485334, दूरभाष– 07670–265411

सम्पर्क :

डॉ. अमरजीत सिंह, निदेशक एवं लिंक अधिकारी
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (मध्यप्रदेश)
ई–मेल– cmcldpcourse@gmail.com, मोबाइल– 9424356841

श्री आर. के. मिश्रा, राज्य सलाहकार (यूनिसेफ) सी.एम.सी.एल.डी.पी.
ई–मेल– rkmishraguna@gmail.com, मोबाइल– 9425171972

आभारः– इस पाठ्यक्रम की अध्ययन सामग्री अनेक स्रोतों, व्यक्तियों के अनुभव और संस्थाओं के प्रकाशनों एवं वेब साइट्स पर उपलब्ध सामग्री के सहयोग से तैयार की गई है। पाठ्यक्रम के परामर्शदाताओं का अनुभव और सुझाव भी इसमें शामिल है। सभी के प्रति आभार।

मॉड्यूल–15 : समाजकार्य की सहायक पद्धतियाँ एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणाएँ
(Secondary Methods and Psychological Concepts)

प्रस्तावना

किसी भी ग्राम अथवा नगर के विकास के लिए सबसे बड़ा संसाधन वहां के लोग हैं। विकास की समस्याओं का हल समाज द्वारा ही संभव हैं। ग्राम अथवा नगर का विकास तब तक संभव नही हो पायेगा जब तक कि उसमें स्थानीय जन भागीदारी सुनिश्चित न हो। स्थानीय स्तर की समस्याओं व उनके समाधान की बेहतर जानकारी उन्हीं के पास है। स्थानीय स्तर पर उपलब्ध सीमित संसाधनों से किस प्रकार अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है, इसका भी आंकलन वहां के लोग ही कर सकते हैं।

प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो स्वैच्छिकता के भाव से समाज के विकास एवं उत्थान के लिये कार्यरत होते हैं। यदि ऐसे लोगों को जागरूक, क्षमता सम्पन्न एवं सशक्त कर दिया जाए तो वे अधिक प्रभावी एवं व्यवस्थित तरीके से समाज की सहभागिता से समाज के विकास के लिये कार्य कर सकेंगे। ऐसे ही स्वप्रेरणा से प्रयासरत लोगों को शिक्षित कर सशक्त सामाजिक नेतृत्वकर्ता के रूप में विकसित करने हेतु शासन द्वारा मुख्यमंत्री सामुदायिक नेतृत्व क्षमता विकास कार्यक्रम का संचालन किया जा रहा है। इसके अन्तर्गत महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय द्वारा प्रदेश शासन के सहयोग से समाजकार्य स्नातक पाठ्यक्रम संचालित किया जा रहा है। पाठ्यक्रम का एक वर्ष सफलतापूर्वक पूर्ण करने पर समाज कार्य (सामुदायिक नेतृत्व में विशेषज्ञता) में सर्टिफिकेट, दो वर्ष सफलतापूर्वक पूर्ण करने पर समाज कार्य (सामुदायिक नेतृत्व में विशेषज्ञता) में डिप्लोमा तथा तीन साल सफलतापूर्वक पूर्ण करने पर समाज कार्य (सामुदायिक नेतृत्व में विशेषज्ञता) में डिग्री दी जायेगी। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य प्रदेश के ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में ऐसे क्षमतावान युवक एवं युवतियों को तैयार करना है, जिन्हें क्षेत्र के विकास की अच्छी समझ हो और जो क्षेत्र की समस्याओं की पहचान भी कर सकें। समस्याओं के निदान के लिए निर्णायक पहल कर सकें। आत्मविश्वास और ऊर्जा से ओत–प्रोत नौजवानों की ऐसी पीढ़ी तैयार हो जो समाज की समस्याओं के समाधान के लिए केवल सरकारी प्रयासों पर निर्भर न हों, बल्कि समुदाय के परिश्रम और पुरुषार्थ से ग्राम की या अपने आस–पास की परिस्थितियों को बदलने के लिए सकारात्मक पहल कर सकें।

यथार्थ में अपने क्षेत्र के विकास में आपके योगदान से ही स्वर्णिम मध्यप्रदेश का स्वप्न साकार हो सकेगा। इसी की पहली कड़ी के रूप में यह पाठ्यक्रम आपके सम्मुख प्रस्तुत है, जिसमें परिवर्तन और विकास के दूत बनाने के लिए आपको सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रदान किया जा रहा है। इस पाठ्यक्रम के माध्यम से प्रयास किया गया है कि आप ग्राम के विकास के प्रयासों को वैज्ञानिक स्वरूप दे सकें। आप जो भी सामुदायिक कार्य करें वह स्थायी हो, सबके सहयोग से हो और सबके विकास में सहयोगी हो।

पाठ्यक्रम के तृतीय वर्ष का यह पहला मॉड्यूल है। समाजकार्य का परिचय, इतिहास तथा प्राथमिक और द्वितीयक पद्धतियों की प्राथमिक जानकारी आप प्रथम और द्वितीय वर्ष के पहले मॉड्यूल में प्राप्त कर चुके हैं। इस वर्ष हम आपको गहराई से समाजकार्य की द्वितीयक या दूसरे शब्दों में कहें तो सहायक पद्धतियों के साथ–साथ सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे। पाठ्यक्रम का यह अन्तिम वर्ष है और सम्पूर्ण पाठ्यक्रम समाजकार्य के मूलभूत सिद्धान्तों पर ही आधारित है। अतः समाजकार्य से सम्बन्धित तीनों वर्षों में क्रमबद्ध रूप से दी गई जानकारी के समग्र और सम्यक अध्ययन से आपको सिद्धान्त के आधार पर व्यावहारिक कार्यों को मूर्त रूप देने में सहायता मिलेगी। विश्वास है कि समाजकार्य की जानकारी की श्रृंखला का यह मॉड्यूल आपकी न केवल सैद्धान्तिक जिज्ञासाओं का समाधान करेगा वरन् व्यावहारिक कार्याभ्यास के लिए भी प्रेरित करेगा।

■■■

15.1 स्वैच्छिक क्रिया एवं व्यावसायिक समाज कार्य (Voluntary Action and Professional Social Work)

उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे –

- स्वैच्छिक क्रिया की अवधारणा
- स्वैच्छिक क्रिया का भारत में उद्‌भव एवं विकास
- स्वैच्छिक क्षेत्र के द्वारा किये जाने वाले कार्यों के प्रोत्साहन के लिए राज्य द्वारा दी जाने वाली सहायता
- विकास की प्रक्रिया को पारदर्शी बनाने के लिए सोशल ऑडिट का प्रयोग

15.1.1 स्वैच्छिकता का आशय (Meaning of Voluntarism) :

Voluntarism' शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'Voluntas' जिसका अर्थ है 'इच्छा' अथवा 'स्वतंत्रता' से लिया गया है। हैराल्ड लास्की ने **'समुदाय की स्वतंत्रता' (Freedom of Association)** को रूचिगत उद्देश्यों के वर्द्धन हेतु व्यक्तियों के इकठ्ठा होने के मान्यता–प्राप्त अधिकार के रूप में परिभाषित किया है।

भारतीय संविधान की धारा 19(1) (C) के अन्तर्गत भारतीय नागरिकों को समुदाय बनाने का अधिकार प्राप्त है। समुदाय की स्वतंत्रता मानव स्वतंत्रताओं में प्रमुख है। यह मनुष्यों के लिए किसी सामान्य उद्देश्य के लिए समुदायित होने की व्यापक स्वतंत्रता है। वे किसी कार्य को कराने, अन्याय अथवा अत्याचार का विरोध करने अथवा किसी महत्वपूर्ण अथवा लोक उद्देश्य की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए इकठ्ठा होने की इच्छा रख सकते है।

भारत में स्वैच्छिक क्रिया की वैचारिक पृष्ठभूमि :

प्रजातंत्रीय समाजवादी एवं कल्याणकारी समाज में स्वयंसेवी संगठन अनिवार्य होते है एवं वे अपने सदस्यों के कल्याण, देश के विकास दलितों, पिछड़ों के उन्नयन विकास, मानवाधिकारों, को संरक्षित करने जेण्डर के आधार पर होने वाले भेदभाव, किशोर व किशोरियों के समस्याओं, महिला हिंसा, मर्दानगी, यौनिकता, बच्चों के पालन में पुरुषों की भूमिका, तृतीय लिंग अर्थात ट्रांसजेंडर की समस्याओं, समाज में व्याप्त अन्य समस्याओं, को हल करने के लिए एडवोकेसी अर्थात् पैरवी करना तथा समाज एवं राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के लिए अनेक कार्य करते है।

भारत में स्वैच्छिक सेवा की एक महान परम्परा रही हैं और तीव्र परिवर्तन के बावजूद लोगों में पड़ोसियों तथा साथियों की सहायता करने की भावना अभी भी प्रबल है। विभिन्न कालखण्डों में दुर्भाग्यशाली लोगों की सहायता अथवा सेवा करने की परम्परा व्यक्तिगत स्तर पर एक सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में स्वीकार किया गया। विभिन्न धर्मो में दान के महत्व पर प्रकाश डाला गया है जिसके अंदर विभिन्न प्रकार की सेवाएँ सम्मिलित हैं जैसे जरूरत मन्दो को आर्थिक सहायता, ज्ञान का प्रसार, तीर्थयात्रियों को भोजन एवं आश्रय, बिमारों एवं अनाथो की देखभाल आदि। धार्मिक संस्थाएँ जैसे मठ एवं मंदिर धर्म प्रेरित सेवा कार्यो के लिए उत्तरदायी थे एवं सामाजिक संस्थाएँ जैसे जाति एवं संयुक्त परिवार, बृद्धों, विधवाओं, अनाथो एवं विकलांगो की देखभाल से सम्बन्धित थे। धर्म के साथ पुण्य एवं ईश्वर को प्रसन्न करने की भावना जुड़ी होनें के कारण इसका काफी व्यापक एवं दीर्घ प्रभाव रहा तथा इसने बड़ी मात्रा में लोगों को जरूरत मंदो की सहायता एवं सेवा हेतु अभिप्रेरित कियां।

लम्बें ऐतिहासिक प्रक्रिया में भारतीय सामाजिक व्यवस्था में बहुत सी ऐसी प्रवृत्तियाँ एवं अभ्यास विकसित होते गये जिसमें सभी ठीक एवं समयानुकूल नहीं थें। पश्चिम के प्रभाव से इन अभ्यासों की तीव्रता से पहचान की गयी एवं इनकी सामाजिक उपादेयता पर प्रश्न किए गये। सती प्रथा के अभ्यास, विधवाओं के साथ व्यवहार, बाल–विवाह की बुराई एवं जातिवाद का कड़ा विरोध हुआ। उन्नीसवीं सदी एवं बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षो में समाज सुधार एवं सामाजिक न्याय आन्दोलन चलाया गया जिससे भारत में समाज सेवा का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

15.1.2 भारत में स्वैच्छिक क्रिया का ऐतिहासिक सिंहावलोकन :

भारत में सामाजिक क्रिया की अद्वितीय परम्परा है। सामाजिक कार्यकर्ताओं जिन्होनें पीड़ित लोगों के कल्याण के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया उन लोगो ने सामाजिक क्रिया का एक इतिहास रचा। सत्य तो यह हैं कि जो महान हस्तियाँ दया, दान एवं परोपकारी समाज कार्य में संलग्न रही उन्होंने उत्कृष्ट कार्य किए। वे अपने आप में समाजकार्य की संस्था एवं संगठन थे। उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक क्रिया के माध्यम से सामाजिक सुधार समाज कार्य का प्रमुख उपागम था।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्वैच्छिक क्रिया

उन्नीसवीं शताब्दी को भोर को सही मायने में समाज सुधार एवं सामाजिक न्याय आन्दोलन का प्रारम्भ माना जा सकता है। राजा राम मोहन राय (1772–1833), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर(1820–1891), ससिपद बनर्जी (1842–1925), केशवचन्द सेन (1838–1884), स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824–1883), स्वामी विवेकानन्द (1863–1902),महात्मा ज्योतिबाराव फूले (1826–1896), पंडिता रमाबाई (1858–1922), महर्षि कर्वे (1858–1962),सर सैयद अहमद खान

(1817—1898),बेहरामजी मालबारी (1853—1912), इत्यादि ऐसे महान लोगों ने स्वैच्छिक संस्थाओं के माध्यम सें भारत सामाजिक परिवर्तन लाये।

राजाराम मोहन राय ने 1828 में उन्होने एक नए समाज ब्रह्मसभा की स्थापना की जो बाद में ब्रह्मसमाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनका प्राथमिक उद्देश्य था हिन्दुओं को उसकी बुराईयो से अलग करना। उन्होने बाल विवाह एवं बहुविवाह की भर्त्सना भी की और समाज में महिलाओं के उत्पीड़न एवं निम्न स्तर का विरोध किया, उन्होंने जाति प्रथा के समाप्ति तथा महिलाओं की शिक्षा हेतु कार्य किया, उन्होंने महिलाओं को उच्च शिक्षा देने की वाकालत की तथा हिन्दु कालेज तथा वेदान्त कालेज की भी स्थापना की, उन्होने उनकी समस्याओं का मूल कारण सम्पत्ति अधिकारों का अभाव बताया। वर्तमान सामाजिक पतनशीलता को लेकर राजाराम मोहन राय अत्यन्त दुखी थे। समाज में महिलाओं की दयनीय व हीन दशा विशेष रूप से उनके सरोकार का विषय बनी। उन्होंने सती प्रथा के विरूद्ध व्यापक सामाजिक अभियान चलाया। उनके सतत् प्रयासों का परिणाम था कि **गर्वनर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने 4 दिसम्बर 1829 को अधिनियम XVII** पारित करके सती प्रथा को गैर—कानूनी तथा फौजदारी अपराध की श्रेणी में रखते हुए दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया।

सती प्रथा की घटना का उल्लेख ई० पू० के किसी भी साहित्य में नहीं मिलता उस समय विधवा महिलाओं को भी पुनर्विवाह तथा संतान प्राप्ति के लिए नियोग की अनुमति थी। सती की अधिकांश घटनाएं बंगाल में होती थी। राजाराम मोहन राय ने 1811 में अपनी भाभी के सती होने की घटना से आहत होकर इस जघन्य कुप्रथा के विरूद्ध अभियान छेड़ा। उन्होने जनमत जागृत करने तथा ब्रिटिश सरकार को सती प्रथा विरोधी विधान निर्मित करने के लिए सामाजिक आन्दोलन छेड़ा।[1]

महात्मा ज्योतिबा राव फूले (1826—1890) महाराष्ट्र के अग्रणी समाज सुधारकों में प्रमुख है। वे केवल सुधारों के उपदेशक ही नहीं थे अपितु इन पर व्यक्तिगत रूप से तथा सार्वजनिक क्षेत्र में उन्होने कार्य भी किया। उन्होने अपनी पत्नी सावित्री बाई फूले को शिक्षा प्रदान करने के साथ ही अगस्त 1848 में बालिका विद्यालय भी स्थापित किया। पुरातनपंथी, कट्टरपंथी विरोधियों के दुष्प्रचार के बावजूद वे अविचलित रहे। अस्पृश्यों को शिक्षा प्रदान करने वाले उनके विद्यालय को शिक्षक नहीं मिले तो उन्होने अपनी पत्नी को यह कार्य सौंपा और सार्वजनिक अपमान भी इस दृढ़ चरित्र महिला को न डिगा सका। सावित्री बाई फूले भारत की पहली महिला शिक्षका थी। सन् 1851—1852 में उन्होने बालिकाओं के लिए दो और विद्यालय स्थापित किये। महात्मा ज्योतिबा राव फूले पहले भारतीय थे जिन्होने अनाथालय की स्थापना की। उन्होनें, विधवा गर्भवती विधवाओं को संरक्षण प्रदान किया तथा उनके बच्चों को भी।

महात्मा ज्योतिबा राव फूले ने सामाजिक समता के लिए आन्दोलन छेड़ा। उन्होनें पुणे में 1873 में **सत्यशोधक समाज** की स्थापना की, जिसका उद्देश्य जातिगत भेद के परे व्यक्ति की प्रस्थिति व प्रतिष्ठा को स्थापित करना था। 1859 में उन्होनें अस्पृश्यों के लिए विद्यालय स्थापित किया। दलितों, पिछड़ों व विधवा महिलाओं,

बालिकाओं को शिक्षा देने के कारण उन्हे प्रतिक्रियावादियों के ओर से घोर अपमान, उपहास एवं बहिष्कार झेलना पड़ा, इसके बावजूद वे अविचलित रूप से अस्पृश्यों के उत्थान तथा शिक्षण के ध्येय के प्रति समर्पित बने रहे। **1884** में **हण्टर आयोग** के समक्ष प्रतिवेदन (साक्ष्य) में फूले ने अस्पृश्यों व महिलाओं के लिए अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा पर जोर दिया। महात्मा ज्योतिबा राव फूले ने उच्च वर्गो की सर्वोपरिता पर प्रहार किया। जनसामान्य में आत्मविश्वास जगाया। उनका कार्य महान क्रान्तिकारी था उनके प्रयासो का ही वांछित परिणाम है कि आज अस्पृश्य, पिछड़े व महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करने व आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ है।[2]

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भी विधवा पुनर्विवाह की दिशा में प्रयास किया तथा विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में व्यापक अभियान चलाया जिसने तत्कालीन भारत सरकार का ध्यान आकर्षित किया। जिसके परिणाम स्वरूप सन् 1856 में हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित किया गया। उन्होनें बहुत सी विधवा महिलाओं की सिर्फ भरण पोषण हेतु ही मदद नहीं किया बल्कि उनके पुनर्विवाह का खर्च भी उठाया। समाज में उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उन्होनें अपने पुत्र का विवाह एक विधवा से कराया। बालिकाओं की शिक्षा के प्रसार के लिए भी कार्य किया। हिन्दू बालिकाओं की शिक्षा के लिए उन्होनें कलकत्ता में सन् 1849 में ही हिन्दू बालिका विद्यालय प्रारम्भ कर दिया था।

एस. बनर्जी 19वीं शताब्दी के एक अन्य समाज सुधारक थे। जिन्होंने महिलाओं के हितों की रक्षा हेतु अथक प्रयास किया। विधवा पुनर्विवाह एवं स्त्रियों की शिक्षा की दिशा में महत्पूर्ण योगदान दिया। काफी विरोध के बावजूद उन्होंने अपनी विधवा भतीजी का पुनर्विवाह कराया तथा अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने स्वयं एक विधवा से विवाह किया। उन्होंने सन् 1887 में हिन्दू विधवाओं हेतु एक आश्रय गृह भी बनवाया।

एक अन्य समाज सुधारक श्री केशवचन्द्र सेन ने अन्तर्जातीय विवाह, विधवा पुनर्विवाह की मजबूती से वकालत की तथा पर्दा प्रथा का विरोध किया। सिविल मैरिज अधिनियम 1872 उन्हीं के प्रयासों से लागू किया। केशवचन्द्र सेन अस्पृश्यता के खिलाफ भी अभियान चलाये। उन्होंने ***"गुडविल– फ्रेटर्निटी सोसाइटी"*** तथा ***"कलकत्ता इवनिंग स्कूल"*** स्थापित किये।

भारतीय समाज सुधार आन्दोलन में आर्य समाज की स्थापना एक मील का पत्थर साबित हुआ। जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 में बम्बई में की थी।आर्य समाज की स्थापना, मूर्ति पूजा, बाल विवाह,, जातिगत भेदभाव तथा जरबदस्ती विधवापन बनाये रखने के विरूद्ध लड़ने के लिए की गयी। स्वामी शारदानन्द एवं लाला लाजपत राय जैसे सामाजिक कार्यकर्ताओं ने शोषित वर्गो के विकास तथा उनमें शिक्षा के प्रसार के लिए महान कार्य किये।

पंडित रमाबाई ने स्त्रियों की मुक्ति के लिए निरन्तर प्रयास किया। भारत तथा विदेशों में अपनी यात्राओं तथा व्याख्याओं के दौरान उन्होंने भारतीय स्त्रियों की दुर्दशा जो कि अशिक्षा, कम उम्र में विवाह, दूसरे के उपर पूर्ण आर्थिक निर्भरता की समस्या से पीड़ित थी, का मर्मभेदी चित्रण किया। उन्होंने सन् 1880 में ***'आर्य महिला समाज'***

की स्थापना की तथा 1889 में हिन्दू विधवाओं के लिए आश्रय गृह 'शारदा सदन' खोला। उन्होंने अन्य समाज सेवियों को भी इसी दिशा में कार्य करने हेतु प्रोत्साहित भी किया। फलस्वरूप, वीरशालिंगम पांतुलु द्वारा सन् 1898 में मद्रास में एक विधवा आश्रम खोला गया। बाद में अन्य स्थानों पर भी इस प्रकार के आश्रम खोले गये।

महर्षि कर्वे ने ग्राणीण क्षेत्रों में काफी संख्या में प्राथमिक स्कूल खोले एवं उन्होंने महिलाओं के लिए उच्च शिक्षा पर बल दिया। सन् 1916 में कर्वे ने महिला विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। इसी प्रकार सर सैयद अहमद खान ने भी मुस्लिम बालिकाओं की उच्च शिक्षा के लिए प्रयास किये एवं मुस्लिम समुदाय में आधुनिक शिक्षा तथा सामाजिक सुधार हेतु कार्य किया। उन्होंने बहुत से शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना की, जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ।

स्त्रियों एवं बच्चों के कल्याण की अवधारणा नई नहीं है। बेहराम जी मालाबारी ने इस दिशा में काफी योगदान दिया है। उन्होंने बाल विवाह का पुरजोर विरोध किया और उनके प्रयासों के फलस्वरूप ***''एज ऑफ कांसेंट एक्ट 1891''*** पारित किया गया, उनके प्रयास जारी रहे जिसके कारण बालिकाओं की 'एज ऑफ कांसेंट एक्ट बारह वर्ष'की गयी। उन्होंने बम्बई में सेवा सदन सोसाइटी प्रारम्भ किया जो कि निराश्रित महिलाओं बच्चों की देखभाल करता था, उन्हें चिकित्सकीय सुविधाएं, पुस्तकालय एवं अध्ययन कक्ष की सुविधाएं प्रदान करता था। यह सोसायटी बिना किसी भेद–भाव के निर्धन वर्ग के बच्चों एवं महिलाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करता था।

स्वामी विवेकानन्द जो श्री रामकृष्ण परमंहस के शिष्य थे ने सेवा के आदर्श के अपने विचारों के प्रसार द्वारा आधुनिक भारत के निमार्ण में महत्वपूर्ण योगदान किया। यद्यपि वे एक धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचारक एवं सुधारक थे, लेकिन उनमें निर्धन एवं निर्बल व्यक्तियों के प्रति असीमित करूणा थी और उन्होंने सेवा के आदर्श कि नई व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने उपदेश दिया कि दरिद्र नारायण, बिमारों तथा अशिक्षितों कि सेवा करना धर्म का उच्चतम स्वरूप है। उन्होंने अस्पृश्यता का विरोध किया एवं महिलाओं तथा आम जनता की स्थिति सुधार पर बल दिया। उन्होंने एक नये धार्मिक संगठन रामकृष्ण मिशन की स्थापना की एवं समाज सेवा मिशन को एक अनिवार्य अंग बना दिया। मिशन शिक्षा तथा स्वास्थ्य सेवा के साथ बाढ़ एवं दुर्भिक्ष के अवसरों पर राहत कार्य में संलग्न रहता है।[3]

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार आन्दोलन की कड़ी में बहुत सी स्वैच्छिक संस्थाएं विशेष कर महिलाओं के कल्याण के लिए इस शताब्दी के अन्त तक प्रारम्भ हो गयी थी। ये संस्थाएं बहुधा उन लोगों के द्वारा प्रारम्भ की गयी थी जो पूर्ण रूप से समाज कल्याण के लिए समर्पित थे। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों जिसमें समाज तमाम प्रकार की रूढ़ियों, पूर्वाग्रहों एवं विषमताओं से ग्रस्त था। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन संस्थाओं में सामुदायिक सहयोग अत्यधिक सीमित था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में देखा जाये तो स्वैच्छिक क्रिया देश में सम्पूर्ण सामाजिक सुधार एवं सामाजिक कल्याण का आधार बना। उस काल में समाज कार्य का लक्ष्य था, लोगों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा करना, लोगों में भाईचारे की भावना का विकास करना एवं ऐसे व्यक्तियों का समूह, दल तैयार करना जो कि सेवा के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर दें। उन स्वैच्छिक कार्यकर्त्ताओं का उपागम पंथनिरपेक्ष था और उन्होंने राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं का यथोचित समाधान करने का प्रयास किया। महिलाओं की दशा में सुधार, अस्पृश्यता की समस्या का समाधान, सहकारी उद्यमों का विकास एवं राहत कार्यो पर विशेष कार्य किये गये।

उन्नीसवीं शताब्दी एवं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो के सुधारकों एवं कार्यकताओं के सामाजिक मुद्दों एवं समस्याओं के प्रति कुछ भिन्न उपागम अपनाने के कारण उनको दो वर्गो में विभक्त किया जा सकता है। उनमें से काफी सुधारक समाज के उच्च वर्गो से थे और सामाजिक मुद्दों पर उनकी प्रतिक्रियाएं काफी कुछ पाश्चात्य देशों से मिलती थी। उन्होनें तत्कालीन राजनीतिक सत्ता के विरूद्ध विद्रोह न कर उनसे उन मुद्दों पर संवैधानिक प्रक्रिया लागू करने के लिए दबाव बनाया जिनका वे विरोध करते थे। उन्होंने सत्ता का सहयोग तो लिया लेकिन चीजों को ठीक करने के लिए, लोंगो की मानसिकता एवं सामाजिक शक्ति को गतिशील करने पर ध्यान नहीं दिया।

दूसरे प्रकार के स्वैच्छिक कार्यकर्ता एवं सुधारक थे जिन्होंने पश्चिम की प्रत्येक चीज को उपयुक्त नहीं समझा बल्कि इसके बजाय प्राचीन भारतीय समाज के साहित्यों से नमूनों को लिया और उनका तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को दूर करने में उपयोग किया। उन्होंने सुधार हेतु किसी केन्द्रीय सत्ता पर विश्वास न कर जनता के पास गये। उनकी मानसिकता का निर्माण कर भारतीय संस्कृति की भावना को पकड़ने का काम किया। उन्होंने लोगों को एक गतिशील शक्ति के रूप में ढालने का प्रयास किया तथा उन्हें अभिप्रेरित किया कि वे अपने व्यक्तित्व तथा अन्तर्निहित शक्तियों एवं कुशलताओं को पहचाने।

"दी सर्वेन्टस् आँफ इण्डिया सोसायटी" ने समर्पित स्वयं सेवकों के समूहों का चयन करने एवं उन्हें विशेष उद्देश्यों से प्रशिक्षित करने की दिशा में प्रथम संघटित प्रयास किया। पिछले संघटनों की तुलना में इसमें ज्यादा लोग सम्मिलित होकर पूर्ण समर्पण के साथ समस्याओं से जूझने का प्रयास कियें। इस संस्था की सदस्यता के पात्र केवल बौद्धिक लोग, विश्वविद्यालय के स्नातक अथवा वे लोग थे जिनको की लोंगो की सेवा का निरन्तर अनुभव था। यदि कोई युवा इस संस्था का सदस्य बनना चाहता था तो उसे कुछ अवधि के लिये गोखले जी के आवास में अथवा संस्था में रहना पड़ता था ताकि संस्था एवं स्वयंसेवक एक दूसरे की आवश्यकताओं एवं चरित्र को ठीक से समझ सकें। इस दौरान उन्हें कठोर प्रशिक्षण दिया जाता था। इस कुछ वर्षो के प्रयास के दौरान उन्हें पूना स्थित संस्था में चार महीने अध्ययन, छः महीने प्रैक्टिकल कार्यो में एवं दो महीने अपने घरों में बिताना पड़ता था। इस कठोर प्रशिक्षण का उद्देश्य प्रशिक्षित एवं समर्पित समाज कार्यकर्ताओं का एक दल तैयार करना था। वास्तव में जिन लोगों ने यहाँ से सफलता पूर्वक प्रशिक्षण प्राप्त किया था। वे अत्यधिक क्षमतावान कार्यकर्ता के रूप में उभरे एवं जिनके लिये कार्य ही पूजा एवं सेवा अन्तिम लक्ष्य था।[4]

15.1.3 भारत में ब्रिटिश काल में स्वैच्छिक क्रिया :

ऐतिहासिक रूप से देखा जाये तो ब्रिटिश शासन काल में बहुत से स्वैच्छिक संगठन उभर कर आये एवं सामाजिक क्रिया के विभिन्न क्षेत्रों में हिस्सा लिया। भारत के राष्ट्रीय दस्तावेज के अनुसार मद्रास का **"फ्रेन्ड इन नीड सोसायटी"** भारत का प्रथम स्वैच्छिक संगठन था, जिसने कि सन् 1858–1859 में मद्रास के गर्वनर द्वारा गवर्नर जनरल को वित्तीय सहायता हेतु आवेदन किया था एवं आवेदन देने के एक माह के अन्दर गवर्नर जनरल से वित्तीय सहायता प्राप्त की थी।

भारत में स्वैच्छिक संगठनों के इतिहास में "संस्था पंजीकरण अधिनियम 1860" को लागू करना मील का पत्थर है। यह अधिनियम थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के द्वारा आज भी लागू है। 1858–1860 की अवधि में ब्रिटेन में भी इसी पद्धति पर संस्थाओं के पंजीकरण की आवश्यकता महसूस की गयी जब "कलकत्ता पब्लिक लाइब्रेरी" के द्वारा वित्तीय सहायता के लिए आवेदन किया गया।

भारत में स्वैच्छिक संगठनों के विकास में ईसाई मिशनरियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। विदेशी एवं भारतीय ईसाई मिशनरियों ने सेवा के क्षेत्र में काफी सराहनीय कार्य किया। उन्होंने शैक्षणिक एवं चिकित्सकीय संस्थाओं को स्थापित किया, विशेषकर दक्षिण भारत में। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य संगठनों ने भी समुदायों में शिक्षा, स्वास्थ्य एवं अनाश्रितों के कल्याण, विकलांगों एवं बिमारों हेतु कार्य करना प्रारम्भ किया।

ब्रिटिश काल में स्वैच्छिक क्रिया के चार स्रोत थे :

1. ब्रिटिश काल एवं बाद में भारतीय अधिकारियों की पत्नियों द्वारा क्लबों के माध्यम से समाज सेवा का प्रयास।
2. भारतीयों द्वारा जाति कल्याण आधारित सेवाएं।
3. विदेशी मिशनरियों द्वारा बनायी गयी संस्थाओं द्वारा प्रायोजित समाज कल्याण सेवाएं।
4. पूँजीपतियों द्वारा कल्याण कार्यो में योगदान।

यह बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ था जब महात्मा गांधी भारतीय राजनैतिक पटल पर अवतरित हुये और भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व सम्भाला। काफी संख्या में समर्पित कार्यकर्ता जो गांधी जी के नेतृत्व से प्रेरित थे रचनात्मक कार्यक्रमों को प्रारम्भ किये। स्वैच्छिक संगठनों के विकास के लिए गांधी जी का योगदान अति महत्वपूर्ण है। स्वैच्छिक संगठनों के प्रति उनका उपागम अद्वितीय था। उदाहरण स्वरूप गांधी जी चाहते थे कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को लोक सेवा संघ में परिवर्तित कर दिया जाये ताकि जमीनी स्तर पर जनता को संगठित किया जाये, उनका नेतृत्व किया जाये तथा उनकी शक्तियों को एक दिशा दिया जाये। गांधी जी ने निम्न संगठनों की स्थापना भी की–

1. हरिजन सेवक संघ

2. ग्राम उद्योग संघ

3. हिन्दुस्तानी तालिमी संघ

4. सर्वसेवा संघ

इनमें से अधिकतर संगठन उन स्थानों पर स्थापित हैं जहाँ गांधी जी रहा करते थे जैसे–वर्धा (सेवाग्राम), अहमदाबाद (साबरमती आश्रम) इत्यादि।

गांधी जी ने न केवल खुद स्वैच्छिक संगठनों को प्रारम्भ किया बल्कि अन्य लोगों को भी स्वैच्छिक संगठनों को प्रारम्भ करने हेतु प्रेरित किया एवं सहायता प्रदान किया। कुछ गांधीवादी कार्यकर्ताओं ने विद्यापीठों जैसे–काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, ग्रामीण विकास संस्थान, शान्ती निकेतन, सेवाग्राम वर्धा एवं (गांधी ग्राम) डिंडिगल इत्यादि की स्थापना से भी जुड़े रहे।

गांधी युग की विशेषताएं थी देशभक्ति, राष्ट्रीयता, स्वदेशी भावना एवं जनता की बुद्धि एवं शक्ति में गहरा विश्वास। अपने अनुयायियों के साथ वे न केवल राजनैतिक ताकतों के खिलाफ लड़े बल्कि सामाजिक बुराइयों के खिलाफ भी लड़े। 1932 में हरिजन संघ सेवक की स्थापना इसी का परिणाम थी, गांधी जी के उपवास जो की उन्होंने अंग्रेजी सरकार के निर्णय कि अस्पृश्य जातियों के लिए अलग चुनावी प्रक्रिया लागू की जाये के विरूद्ध रखा था। 1933 में उन्होंने पूरे देश का भ्रमण किया एवं अस्पृश्यता के खिलाफ अपने अभियान में एवं हरिजनों के कल्याण हेतु कार्यक्रमों को चलाने में जनभावनाओं को जागृत किया। हरिजन सेवक संघ का कार्य काफी सराहनीय रहा एवं ठक्कर बाबा, केलापम एवं जी.डी. बिरला जैसे क्षमतावान व्यक्तियों को आकर्षित किया एवं हरिजन सवेक संघ के उद्देश्यों के अनुसार उनको कार्य करने के लिए प्रेरित किया।

गांधी जी ने महिलाओं के साथ समानता हेतु भी कार्य किया एवं देश के राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन में उनके सही स्थान हेतु संघर्ष किया। सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिए उनके प्रयासों एवं इसके परिणाम स्वरूप सामाजिक जागरूकता के कारण काफी संख्या में स्वैच्छिक संस्थाएं जैसे–आल इण्डिया वुमेन्स कानफ्रेंस, इण्डियन एडल्ट एजुकेशन एसोसिएशन, बालकन जी बारी, भारतीय डिप्रेस्ड क्लासेज लीग अस्तित्व में आये।

15.1.4 स्वतंत्रता के पश्चात प्रारम्भिक काल में स्वैच्छिक क्रिया :

वस्तुतः यह काल धर्म आधारित एवं गांधीवादी स्वैच्छिक संगठनों का था। गांधीवादी स्वैच्छिक संगठनों की प्राथमिक गतिविधियाँ विकास एवं सशक्तिकरण की थी जबकि धर्म आधारित स्वैच्छिक संगठनों की गतिविधियां कल्याण एवं विकास थी। इस अवधि में विकास परियोजनाओं में लगे सरकारी कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने हेतु सरकार द्वारा गांधीवादी संगठनों की मदद ली गयी। सामुदायिक विकास मंत्रालय के अधीन प्रसार कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण प्रदान करने में इन संगठनों का प्रयोग किया गया। इसी प्रकार स्वास्थ्य मंत्रालय के अधीन स्वास्थ्य

कार्यकताओं को भी प्रशिक्षण प्रदान किया गया। बहुत से धर्म आधारित स्वैच्छिक संगठनों का कल्याणकारी तत्व शरणार्थियों, बाढ़ग्रस्त एवं दुर्भिक्षग्रस्त लोगों को प्रदान किये गये राहत कार्यो से प्रदर्शित होते हैं। यहां यह भी ध्यान रखने योग्य है कि इस दौरान शरणार्थियों, बाढ़ एवं सूखे से प्रभावित दुर्भिक्षग्रस्त लोगों की सहायता हेतु कल्याणकारी हस्तक्षेप की अत्यधिक आवश्यकता थी। इन धार्मिक समूहों द्वारा विकास हेतु चलायी गयी शैक्षणिक गतिविधियों में विकास के साथ–साथ सशक्तिकरण की झलक भी दिखाई पड़ती है।

अपने आरम्भिक काल में सरकार ने भी यह महसूस किया कि समाज कार्य का दायित्व स्वैच्छिक संगठनों पर छोड़ दिया जाये। प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी महसूस किया कि शासन स्वैच्छिक संगठनों को समाज कार्य का दायित्व देकर उन्हें वित्तीय एवं तकनीकि सहायता प्रदान करें। इसी को ध्यान में रखते हुये सन् 1953 में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का गठन किया गया। यह स्वैच्छिक संगठनों के कार्यो में सहायता प्रदान करने का सरकार का पहला कदम था। समाजकार्य को स्वैच्छिक संगठनों के कार्यक्षेत्र में डालने की रणनीति इस बात से स्पष्ट होता है कि सन् 1954 में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड और राज्य समाज कल्याण सलाहकार बोर्ड की स्थापना की गयी।

स्वतंत्रता पश्चातकाल में बहुत से संगठन जो की गांधी जी से प्रेरित थे जैसे–हरजिन सेवक संघ ने सरकारी सहायता प्राप्त करना शुरू कर दिया। जबकि कुछ अन्य, जैसे खादी एवं ग्रामोद्योग कमीशन एवं राज्यस्तरीय खादी ग्रामोंद्योग बोर्ड सरकार कें अंग बन गये। जबकि कुछ संस्थाओं ने तय किया कि वे इस प्रकार सरकारी सहायता नहीं प्राप्त करेंगे। ये सभी सर्वसेवा संघ के छत के नीचे आ गये जो कि विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत एवं विभिन्न स्थानों पर अवस्थित गांधीवादी स्वयंसेवी संगठन थे। इसके सदस्य सर्वोदयी कार्यकर्त्ता कहलायें जो कि देश के दुरस्थ स्थानों पर विभिन्न आश्रमों को स्थापित किये। इन कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने के लिए एक प्रशिक्षिण केन्द्र **''श्रम भारतीय आश्रम''** खादी ग्रम, मूंगेर, बिहार में स्थापित किया गया। जहां पर आचार्य धीरेन मजमूदार के निर्देशन में कई वर्षो तक काफी मात्रा में सर्वोदयी कार्यकर्ता प्रशिक्षित किये गये।

बहुत से गांधीवादियों ने स्वैच्छिक प्रयासों के संस्थाकरण का विरोध किया एवं व्यक्तिगत अथवा सामूहिक स्वैच्छिक प्रयासों को चुना। उनमें आचार्य विनोबा भावे अग्रणी थे। 1954 में देश भर में भूमि के असमान वितरण के मुद्दे को लेकर देशव्यापी हिंसा की घटना हुई। विशेषकर तेलंगाना क्षेत्र में जिसके लिए उन्होंने उस क्षेत्र का भ्रमण किया एवं जमींदारों एवं भूमिहीनों से व्यापक चर्चाएं की। पोचमपल्ली गांव जो कि हैदाराबाद से 40 किमी० दूर है। वहाँ एक जमींदार के बेटे रामचन्द्र रेड्डी जिन्होने की अपनी जमीन का हिस्सा भूमिहीनों को दान करने का प्रस्ताव रखा। उनके इस दृष्टिकोण से विनोबा जी को काफी प्रेरणा प्राप्त हुई और विनोबा जी ने इसे अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इस प्रकार भू–दान आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। विनोबा जी 14 वर्षो तक पूरे भारत का भ्रमण करते रहे और 1966 तक 42 लाख एकड़ भूमि भू–दान के अन्तर्गत प्राप्त किये। गांधीवादी स्वैच्छिक क्रिया का भारत में यह उच्चतम बिन्दु था।

सन् 1966 में देश में भीषण सुखा पड़ा जिसके परिणाम स्वरूप देश के काफी हिस्से विशेषकर बिहार दुर्भिक्षग्रस्त हो गया। इसके फलस्वरूप काफी स्वैच्छिक राहत कार्य के प्रयास हुये। जिसमें सर्वोदय कार्यकर्ताओं ने महती भूमिका निभाई। जिन्होंने पूरे बिहार में स्वैच्छिक आश्रम बना रखे थे। जयप्रकाश नारायण जो कि जे.पी. के नाम से प्रसिद्ध थे एवं जे.पी. आन्दोलन के प्रणेता माने जाते है। अपने सरवोद्रा आश्रम, निवादा बिहार, से राहत कार्य के आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया। राहत कार्यो से खाली होने के पश्चात् बहुत से कार्यकर्ताओं ने तय किया कि वे वर्षा पर निर्भरता कम करने, कृषि उत्पादन को बढ़ाने हेतु एवं ग्रामीण विकास के कार्य के दूरगामीलक्ष्य को ध्यान में रखते हुये कार्य करेंगे। जे.पी. ने स्वयं अपने लिये सर्वाधिक निर्धन क्षेत्र मूसहर समुदाय को चुना। जो कि अन्न के अभाव के वजह से चूहों को मार कर खाया करते थे। जे.पी. ने एवार्ड (AVARD) **Association of Valuntary Action in Rural Development**जो कि इस प्रकार के प्रयासों का सम्पूर्ण भारत का फोरम था, को स्थापित करने में सहायता प्रदान किया। युवा छात्र स्वयंसेवक जो कि बिहार दुर्भिक्ष 1966 और बंग्लादेशी शरणार्थी समस्या सन् 1971 के दौरान राहत कार्य हेतु आये थे। वे या तो उन्हीं क्षेत्रों में विकास कार्य करने हेतु रूक गये अथवा स्वैच्छिक संगठनों की स्थापना हेतु वापस गये।

बंकर राय जिन्होंने **Social Work and Research Center(S.W.R.C.)** तिलोनियां अजमेर, राजस्थान में स्थापित किया और जो मेडिएथ जिन्होंने गंजन जिला उड़ीसा में ग्राम विकास स्थापित किया इसके प्रमुख उदाहरण है। डॉ अनिल सद्गोपाल जो कि मोलेक्यूलर जीव शास्त्री हैं और कालटेक अमेरिका से प्रशिक्षित थे एवं टाटा इन्स्टीटयूट ऑफ फंडामेन्टल रिर्सच, मुम्बई में कार्यरत थे ने मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले में ग्रामीण अभिनव शिक्षण हेतु कार्यक्रम प्रारम्भ किया। एक युवा डॉ० दम्पति डॉ० रजनीकांत एवं मेबेल एरोल ने ग्रामीण प्राथमिक स्वास्थ्य में सुधार हेतु महाराष्ट्र के अहमदनगर में जामखेड़ में ग्रामीण प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किये।

डूनू राय जो कि 'फ्रन्ट फॉर रैपिड एडवान्समेन्ट' एक छात्र संगठन आई.आई.टी. मुम्बई में चलाया करती थी। सहडोल मध्यप्रदेश में उपयुक्त प्रौद्योगिकी एवं सामाजिक विश्लेषण को जोड़ते हुये **"विदुषक कारखाना"** स्थापित किया। यें प्रयास छोटे थे लेकिन इसने युवा पीढ़ी को आकर्षित कियें। बहुत से ऐसे शहरी युवा, जिनके पास शहरों में अच्छे मौके थे लेकिन उन्होनें त्याग करते हुये ग्रामीण क्षेत्रों में रहकर कार्य करना शुरू किया।

आदर्शवादी युवाओं ने ज्यादा उग्रवादी क्रियाशीलता के पक्ष में स्वैच्छिक क्रिया के मार्ग को अस्वीकार कर दिया। इसके लिये उनको नक्सलाइट आन्दोलन से प्रेरणा मिली जो कि 1967 में उत्तर बंगाल के नक्सलवाड़ी के किसानों के हथियार युक्त आन्दोलन से प्रारम्भ हुआ था और बंगाल एवं बिहार के विभिन्न हिस्सों में फैला। इससे बहुत सारे शिक्षित युवक आकर्षित हुये जो कि वर्तमान व्यवस्थाओं से असंतुष्ट थे और माओं जेडोंगे, चे गेवारा एवं सशस्त्र संघर्ष के भारतीय संस्करण चारु मजूमदार एवं कानू सान्याल के विचारों एवं कार्यो से प्रभावित थे। इस प्रकार डॉ. बिनयन ने दक्षिण बिहार के माओंवादी समन्वय केन्द्र के साथ, निरंजन मेहता ने महाराष्ट्र के आदिवासी क्षेत्रों में भूमि सेना, सी.पी. रेड्डी ने आन्ध्र प्रदेश के रायुतु के कुली संगम के साथ एवं शंकर गुहानियोगी ने मध्य

प्रदेश के लौहखानों के क्षेत्र में छत्तीसगढ़ के मजदूर संघर्ष समिति के साथ कार्य किया। इस प्रकार के कार्यकर्ता अपने वामपंथी सोच के कारण अपने आप को स्वैच्छिक क्षेत्र के कार्यकर्ता के रूप में न देखकर जनवादी आंदोलन के मध्यस्थ के रूप में देखा।

भारत में स्वैच्छिक क्रिया के सम्मुख प्रमुख चुनौतियाँ

सामाजिक

1. लिंग भेद
2. अशिक्षा
3. लड़कों एवं पुरुषों का सामाजिकरण
4. लड़कियों एवं स्त्रियों का सामाजीकरण
5. बच्चों के लालन–पालन में पुरुषों को भूमिका
6. महिलाओं के प्रति हिंसा
7. ट्रांसजेंडर की प्रस्थिति एवं उनकी समस्याऐं
8. मर्दानगी

आर्थिक

1. गरीबी
2. जनसंख्या वृद्धि
3. भ्रष्टाचार
3. सामाजिक एवं ग्रामीण मनोविज्ञान
4. पूँजीवाद
5. औद्योगिक मनोविज्ञान

अन्य

1. पर्यावरण प्रदूषण एवं परिस्थितिक असंतुलन
2. भौगोलिक संरच

15.1.5 स्वैच्छिक क्षेत्र को सुदृढ़ बनाने में राज्य की भूमिका :

स्वतंत्रता के पश्चात् राज्य एवं स्वैच्छिक क्षेत्र के सम्बन्धों में किसी न किसी प्रकार की कुछ समस्याएं आयी। गाँधी जी के कुछ अनुयायियों ने स्वतंत्रता पश्चात् राजनीति एवं सत्ता को चुना जबकि उन्हीं के कुछ अन्य अनुयायियों ने राष्ट्रहित के लिए तथा निर्धनों, संसाधनविहीन एवं भेदभाव से पीड़ित लोगों के लिए रचनात्मक कार्य करने हेतु स्वैच्छिक क्षेत्र को अपनाया। चूँकि गाँधी जी के अनुयायियों में अधिकांशतः स्वतन्त्रता आन्दोंलन के समय से मित्र थे और उनकी मित्रता के परिणाम स्वरूप बहुत सारे स्वैच्छिक संगठनों को जो कि गाँधीवादी थे, उनको राज्य द्वारा सहायता प्रदान किया गया। राज्य ने विनोवा जी के भूदान आन्दोलनों को समर्थन दिया। कुछ मामलों में तो राज्य की तरफ से भूमि भी प्रदान की गयी लेकिन फिर भी सामाजिक दृष्टिकोंण एवं उपागम में भिन्नता होने के कारण स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं एवं राजनैतिक नेताओं के मध्य मतभेद होने प्रारम्भ हो गये, जो कि बढ़ते ही गये खास कर जयप्रकाश नारायण व तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के मध्य।

बंग्लादेश युद्ध सन् 1971 के पश्चात् खराब आर्थिक स्थिति एवं राजनैतिक स्तर में गिरावट के कारण पूरे भारत वर्ष में असंतोष की स्थिति उत्पन्न हुई। सन् 1973 में गुजरात में छात्रों द्वारा **''नव निर्माण''** आंदोलन चलाया

गया जिसकी वजह से वहाँ की भ्रष्ट सरकार का अन्त हुआ। सन् 1974 में स्वर्गीय जय प्रकाश नारायण जी एवं तत्कालीन प्रधानमंत्री एवं स्वर्गीय इन्दिरा गाँधी के बीच मतभेद गहरे होते गए और जे.पी. ने 'समग्र क्रान्ति' के नाम से एक राजनैतिक आन्दोलन प्रारम्भ किया। जिसके कारण तत्तकालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय इंदिरा गांधी ने देश में "आपातकाल" लगा दिया एवं राजनैतिक विरोधियों एवं बहुत सारे स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं जिनको सरकार विरोधी समझा उनके सभी क्रिया–कलापों को प्रतिबन्धित कर दिया।

इस प्रकार से स्वतंत्रता के पश्चात् राज्य एवं स्वैच्छिक जगत के बीच के सम्बन्धों में गिरावट आयी और 1976 में **एफ.सी.आर.ए. (विदेशी अनुदान नियमन अधिनियम 1976)** लागू कर स्वैच्छिक क्षेत्रों को मिल रहे विदेशी अनुदानों को नियंत्रित किया गया। राजनीतिक शास्त्रियों ने भी स्वैच्छिक संगठनों के कार्यो एवं जन आन्दोलनों को पार्टी विहीन राजनैतिक संरचना कहना शुरू किया जिसको कि राज्यों ने गम्भीरता से लिया।

जब जनता पार्टी की सरकार प्रथम बार चुनकर सत्ता में आई एवं तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व० श्रीमती इंदिरा गांधी की हार हुई। उस समय स्थितियों में पूर्ण रूपेण परिवर्तन हुआ। स्वैच्छिक कार्य को भी अत्यधिक गति प्राप्त हुई और बहुत सारे राष्ट्रीय कार्यक्रम स्वैच्छिक कार्यो की प्रेरणा से प्रभावित होकर निर्मित किये गए। उदाहरण स्वरूप–स्वैच्छिक कार्यो के पथ का अनुसरण करते हुए सरकार ने "काम के बदले अनाज" कार्यक्रम चलाया जो कि बाद में **'राष्ट्रीय रोजगार कार्यक्रम'(NREP, National Rural Employment Programme)** के रूप में परिवर्तित हुआ। भारत सरकार ने राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम प्रारम्भ किया जो कि स्वैच्छिक संगठनों द्वारा चलाने के लिए ही निर्मित की गयी थी। बहुत से स्वैच्छिक संगठन सरकारी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन अभिकरण के रूप में ऊभर कर आये एवं बहुत सारे अन्य स्वैच्छिक संगठन सरकारी सहायता पर निर्भर हो गये। सन् 1980 में जब श्रीमती इंदिरा गाँधी पुनः चुनकर सत्ता में आयी तो इस तरह के स्वैच्छिक क्रियाओं की स्थिति में पुनः गिरावट आयी। उनका प्रथम अप्रसिद्ध कदम था, **'कुदाल आयोग'** का गठन। उसका उद्देश्य था कुछ निश्चित गाँधीवादी संगठनों विशेषकर **एवार्ड (AVARD)** एवं गाँधी शांति प्रतिष्ठान के कार्यो का निरीक्षण करना। इस प्रकार के जाँच ने स्वैच्छिक जगत के कार्यो में विशेषकर गाँधीवादी एवं सर्वोदयों संगठनों जिसने उनकी प्रतिष्ठा को गिराया इसके अलावा वामपंथियों ने स्वैच्छिक संगठनों के विरूद्ध एक व्यापक अभियान छेड़ा जिसमें उन्होंने स्वैच्छिक संगठनों पर यह आरोप लगाया कि वे मात्र औपनिवेशिक उपकरण है। इस प्रकार के आक्रामक रवैये ने स्वैच्छिक आन्दोलनों की प्रतिष्ठा एवं उनके आत्मविश्वास पर विपरीत प्रभाव डाला।

इस ऐतिहासिक चक्र में पुनः परिवर्तन आया जब 1984 में स्व० राजीव गांधी सत्ता में आये उन्होंने विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए स्वैच्छिक संगठनों को महत्वपूर्ण भूमिका देने का निश्चय किया। श्री बंकर राय योजना आयोग में सलाहकार के रूप में नियुक्त किये गए और गैर–सरकारी संगठनों को विकास कार्यक्रमों को चलाने हेतु नवीं पंचवर्षीय योजना में 100 करोड़ रूपये प्रदान किये गये एवं कर्पाट **(The Council for**

Advancement of Peoples Action and Rural Technology) की स्थापना की गई। जिसके माध्यम से गैर सरकारी संगठनों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों, ग्रामीण विकास अभिकरणों एवं अन्य सरकारी विभागों को प्रोत्साहित किया गया कि वे गैर–सरकारी संगठनों के साथ मिलकर कार्य करें।

इस प्रकार सरकारी अनुदानों की बाढ़ आ गई, और कार्य के साथ–साथ दोनों तरफ से भ्रष्ट्राचार भी बढ़ा। बहुत सारे संगठन केवल सरकारी अनुदान प्राप्त करने के लिए स्थापित हो गए।

पैरवी (एडवोकेसी) और स्वैच्छिक संस्थाऐं :

भारत में नागर समाज संगठन आज आर्थिक–सामाजिक विकास और लोगों के बुनियादी अधिकारों की रक्षा के मामले में एक महत्वपूर्ण पक्ष बन चुके है। स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक और लैंगिक–न्याय, कृषि विकास, पर्यावरण रक्षा, अभिशासन, आर्थिक विकास और मानवाधिकार जैसे मुद्दों पर काम कर रहे है। सरकार ने कई मचों पर उनकी सकारात्मक भूमिका को स्वयं स्वीकार किया है और यह माना है कि विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में जैसे–जैसे सरकार की भूमिका कम होगी वैसे–वैसे नागर समाज संगठनों की भूमिका बढ़ती जायेगी। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि स्वैच्छिक समूहों को गतिशील किया जाए क्येंकि उनकी भूमिका महत्वपूर्ण होगी इस कार्य में उनका योगदान महत्वपूर्ण है।

आज कई सामाजिक मुद्दों यथा गरीबी उन्मूलन, भष्ट्राचार, एड्स, लैंगिक–न्याय, जेण्डर समानता, महिला हिंसा, मर्दांनगी और विकास के मुद्दे अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता का विषय बन गए है। दुनिया के विभिन्न अमीर देश और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाऐं एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमरीका और अन्य क्षेत्रों के देशों में विकास और गरीबी उन्मूलन के प्रयासों के लिए धन उपलब्ध करा रहे है। भारत को इस मद में विभिन्न देशों और संगठनों द्वारा पैसा मिलता है। कुछ मामलों में यह धन सीधे सरकार को मिलता है और कुछ दाता संस्थाऐं और देश ऐसे भी है जो पैसा नागर समाज संगठनों को दे रहे है। विदेशी स्रोतो से अनुदान प्राप्त कर रहे नागर समाज संगठन स्वास्थ्य, शिक्षा, आजीविका, और विकास से जुड़े अनेक मुद्दों पर महत्वपूर्ण कार्य कर रहे है।

स्वैच्छिक क्षेत्र एक जैसा काम करने वाला सुसंगठित और सुव्यवस्थित क्षेत्र नहीं है। यह मुनाफा कमाने वाला क्षेत्र भी नहीं है। भारत में कई स्वैच्छिक समूह है जो मानवाधिकार के मुद्दों पर सक्रिय है तथा नर्मदा बचाओं आन्दोलन और टिहरी बांध जैसे पर्यावरण आधारित मुद्दों पर काम कर रहे है। आर्थिक उदारीकरण और "विश्व ग्राम" के इस दौर में सामाजिक और आर्थिक विकास के मामले किसी एक देश तक सीमित नहीं रहे है। दुनिया भर में इन विषयों पर सोचा जा रहा है। सम्पोषीय विकास लक्ष्य जैसे मामलों में दुनिया के अनेक देशों की तरह भारत भी एक पक्षकार है। 2032 तक गरीबी, भुखमरी पर नियंत्रण, शिक्षा स्वास्थ्य और लैंगिक न्याय के महत्वकांक्षी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए हमें तमाम साधनों की जरूरत है। ऐसे में स्वैच्छिक समूहों की गतिशीलता, समाज तथा

समाज में रहने वालों की गतिशीलता एवं व्यक्तियों की गतिशीलता के महत्व को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। दरअसल नागर समाज संगठनों की भूमिका और विस्तार दिनोदिन विस्तृत, महत्वपूर्ण व आवश्यक हो गयी है, जिसको नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। यह स्थिति समाज व देश दोनों के हित में है। ऐसे में आवश्यक है कि नागर समाज हासिए पर पड़े लोंगों के हितो के पक्ष में पैरवी करे तथा उन्हें सामाजिक न्याय दिलाये ।

ऐसे संगठन जो सामाजिक मुद्दों यथा, जेण्डर समानता, मर्दानगी, महिला हिंसा, लोकपाल, एड्स दलित, शोषित, और हासिए पर पड़े लोगों को समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए काम कर रहे हैं के बीच एडवोकेसी अर्थात पैरवी शब्द बहुतायत प्रयोग में आता है। इस शब्द का व्यवहारिक अर्थ यह है कि किसी समुदाय विशेष की स्थिति, उसकी समस्याओं और सम्भावित समाधानों की ओर ध्यान आकर्षित करना, ताकि समस्याएँ दूर की जा सके। इस ध्यानाकर्षण के कई लक्ष्य हो सकते है–सरकार का ध्यान आकर्षित करना और उस पर समस्याओं के समाधान हेतु दबाव डालना, समाज को समुदाय विशेष से स्थिति को अवगत कराकर जनमत जाग्रत करना और सरकार पर समस्याओं के समाधान हेतु दबाव डालने के लिए लोगों का समर्थन जुटाना और समुदाय विशेष के बीच व्याप्त कुरीतियों को दूर करने और उनमें नए विचार उत्पन्न करने हेतु उन्हीं के बीच किसी खास विचार को प्रस्तुत करना और किसी खास प्रस्ताव या माँग के पक्ष में जनमत बनाना।

वास्तव में सरकार के साथ एडवोकेसी करने के लिए जरूरी नहीं है कि इसके लिए मीडिया को ही माध्यम बनाये जाये, लोकतात्रिंक व्यवस्था में सरकार पर जनता का दबाव होता है। सत्तारूढ़ पार्टी अथवा विपक्षी पार्टियाँ राजनैतिक हितों के लिए जनता के मुद्दे उठाती है तथा उनके समाधान का प्रयास करती है, इसलिए कई बार सरकारी अधिकरियों और निर्वाचित प्रतिनिधियों के साथ बातचीत करने और उन्हें समुदाय की समस्याओं से अवगत कराने से समस्याओं का समाधान हो जाता है।

पैरवी अर्थात एडवोकेसी थ्रू मीडिया अर्थात समाचार माध्यमों के जरिए पैरवी में ज्यादातर ऐसे मुद्दे उठाए जाते है जिन पर सरकार कुछ खास करने को इच्छुक न हो परन्तु समस्या का समाधान व्यापक सामाजिक हित के लिए जरूरी हो। उदाहरण के लिए सरकार आबकारी से मिलने वाले टैक्स के कारण शराब की ब्रिकी पर प्रतिबन्ध नही लगाना चाहेगी। इसके बावजूद यदि कोई सामाजिक संगठन समझता है कि इससे व्यापक सामाजिक हित प्रभावित हो रहे है तो वह इस मुद्दे पर जनमत जागरण करने के लिए समाचार माध्यमों का प्रयोग कर सकता है। इससे लोग शराब के प्रयोग से होने वाली हानियों और समाज पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव के बारे में जानकर सरकार पर दबाव डालेंगे कि वह शराब ब्रिकी पर रोक लगाएं।

वास्तव में समाचार माध्यमों के साथ मिलकर ऐसे मुद्दों पर ही लड़ाई लड़ी जा सकती है जिनका महत्व सम्पूर्ण समाज के लिए हो। सामान्य और सीमित महत्व के मुद्दों पर समाचार माध्यम एक–आध खबर तो छाप सकते है परन्तु उस मुद्दे पर बहुत दिनों तक साथ नहीं दे सकते। गली मुहल्लों की अत्यन्त साधारण समस्याएँ और छोटे–मोटे मुद्दें मीडिया के माध्यम से पैरवी का विषय नहीं बन सकते। ऐसे मुद्दों के लिए स्थानीय

अधिकारियों और जनप्रतिनिधियों का ध्यान आकर्षित कराना ही बेहतर रहता है। यद्यपि छोटी–छोटी समस्याओं के समाचार अखबारों में छप जाते हैं परन्तु उन सामाचारों को शासन का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास तो कहा जा सकता है परन्तु पैरवी कहना उचित नहीं है।

वास्तव में पैरवी अर्थात एडवोकेसी अच्छी तरह से समझ बूझ कर चलाया जाने वाला अभियान है जिसके लिए जरूरी है कि जिस मुद्दें पर पैरवी की जा रही है वह ठोस और व्यावहारिक हो। हल्के–फुल्के और संकीर्ण मुद्दों पर पैरवी नहीं की जा सकती। दूसरे जिस मुद्दे पर आप पैरवी कर रहे हों उसके बारे में आपके पास पर्याप्त तर्क हों और वह साधारण जनता के व्यापक हितों से जुड़ा हुआ मुद्दा हो।

एडवोकेसी या पैरवी के लिए सबसे महत्वपूर्ण यह है कि मुद्दे को बहुत स्पष्टता के साथ रखा जाए। यह स्पष्टता दोनों स्तरों पर होनी चाहिए। भाषा के स्तर पर भी और मुद्दों से सम्बन्धित तर्को के स्तर पर भी। भाषाई स्पष्टता जरूरी है क्योंकि जब तक आप मामले को सही प्रकार से मुख्य धारा व जनता के बीच नहीं रखा जाएगा तब तक वह पैरवी के लिए समर्थन नहीं जुटा सकता।

स्पष्टता का दूसरा पहलू यह है कि आप उस मुद्दों के आर्थिक, सामाजिक और वैधानिक पहलुओं से पूरी तरह वाकिफ हों तथा आप की माँग न्याय के सार्वभौम सिद्धान्त को नजर अंदाज न कर रही हो। कई बार लोग बड़े ही महत्वपूर्ण मामले उठाते है परन्तु वह इतने लचर और लापरवाही भरे तरीके से उन्हें पेश करते हैं कि वह मुद्दा सामान्य लोगों जनप्रतिनिधयों अधिकारियों और समाचार माध्यमों के प्रतिनिधियों पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता।[6]

अतः वास्तव में एडवोकेसी या पैरवी ऐसे मुद्दों पर ही की जा सकती है या लड़ी जा सकती है जिनका महत्व सम्पूर्ण समाज के लिए हो तथा व्यापक हितों से जुड़ा मुद्दा हों।

स्वैच्छिक क्रिया की विश्वसनीयता एवं सामाजिक अंकेक्षण (सोशल ऑडिट) :

आमतौर पर ऑडिट का मतलब अंकगणितीय विवरण की तकनीकी जांच अथवा गलतियां ढूंढ़ने वाली जांच प्रक्रिया का रूप मान लिया जाता है, जिसमें किसी व्यक्ति विशेष की कमियों को उजागर कर उसे दण्डित करने का प्रावधान होता है।

परन्तु सोशल ऑडिट की प्रक्रिया उस परम्परागत ऑडिट की प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न माना गया है। इसके अंतर्गत ग्राम पंचायत, किसी विभाग, इकाई अथवा कार्यदायी संस्था की निर्धारित योजना लक्ष्य के परिप्रेक्ष्य में कार्यक्रम की कारगुजारीयों को उस स्तर के नागरिकों द्वारा सावर्जनिक रूप से देखा जाता है, जिसमें योजना निर्माण व क्रियान्वयन में लोगों की भागीदारी, बजट अनुसार श्रम, सामग्री व स्थानीय संसाधनों का उपयोग, कार्य की गुणवत्ता तथा पारदर्शिता आदि में बरती गयी कमियों की ओर ध्यान दिलाया जाता है तथा इस संदर्भ में लोगों द्वारा कुछ आवश्यक व उपयोगी सुझाव दिये जाते हैं। जिससे कार्यदायी संस्था को आगे की कारगुजारीयों में उन्हें दूर करने का अवसर व प्रेरणा मिलती है तथा उस स्तर के सभी हितभागियों के बीच आपसी विश्वास व कार्यक्रम के प्रति जुड़ाव बढ़ता है।

सोशल ऑडिट किसी भी योजना की प्रगति, गुणवत्ता व सार्थकता को लोगों की दृष्टि से जानने, समझने, नीति निर्धारण, कार्यक्रमों के नियोजन व क्रियान्वयन में सुधार लाने, लोक भागीदारी व पारदर्शिता को बढ़ावा देने तथा किसी कार्यक्रम के क्रियान्वयन के प्रति नियोजक एवं कार्यान्वयनकर्ता की जन जवाब्रदेही सुनिश्चित करने की दिशा में जन निगरानी का एक सशक्त माध्यम है।

सोशल ऑडिट ऑडिट जरूरी क्यों? :

उपरोक्त चर्चा से यह बात स्पष्ट रूप से स्थापित हो गयी है कि किसी भी कार्यक्रम का वास्तविक योजना लक्ष्य अथवा अपेक्षित परिणाम को प्राप्त करने में लोक भागीदारी व पारदर्शिता सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व है तथा सोशल ऑडिट लोक भागीदारी, पारदर्शिता व जबावदेही सुनिश्चित कराने का एक सशक्त माध्यम है।

उपरोक्त संदर्भ में इस बात की चर्चा करना भी आवश्यक हो जाता है कि लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में जनता ही असली मालिक होती है तथा जनता के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष भागीदारी से ही सरकार की स्थापना उसके हित की रक्षा व सेवा के लिए की जाती है। इसलिए लोगों के हित से जुड़े क्रियाकलापों के संचालन में उसकी सहमति और सहभागिता लोकतंत्र का अनिवार्य तत्त्व माना गया है। साथ ही लोकतांत्रिक शासन प्रणाली की सार्थकता तभी प्रदर्शित होगी जब अभिशासन की इकाईयों के कार्यप्रणाली में पारदर्शिता, जवाबदेही व प्रत्येक स्तर पर लोगों की सहभागिता सुनिश्चित होगीं। इस बात की महत्ता को ध्यान में रखकर ही केन्द्र अथवा राज्य प्रायोजित विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन मार्गदर्शिका में भी स्पष्ट रूप से कार्ययोजना निर्माण, क्रियान्वयन, अनुश्रवण व मूल्यांकन में लोगों की सहभागिता अनिवार्य रूप से सुनिश्चित कराने पर बल दिया जा रहा है।

इस दिशा में नागर समाज संगठनों द्वारा किये जा रहे प्रयास बहुत ही सराहनीय व सकारात्मक रहे हैं।

- सोशल ऑडिट की प्रक्रिया अपनाने से ग्राम सभा सदस्यों को विकास कार्य से सम्बन्धित जानकारी मिलती है, जिससे ग्राम पंचायत व अन्य कार्यदायी संस्था के कार्यो में पारदर्शिता आती है।
- इस प्रक्रिया के दौरान ग्राम पंचायत अथवा विकास कार्य कराने वाली अन्य कार्यदायी संस्था से ग्राम सभा के सदस्य प्रश्न कर सकते है और जवाब मांग सकते हैं, जिससे जनता के प्रति कार्यदायी संस्था की जवाबदेही बढ़ती है।
- विकास कार्यो की उपयोगिता, गुणवत्ता एवं उन पर हुए खर्चो पर चर्चा करने एवं सुझाव देने से निर्णयों में लोगों की भागीदारी बढ़ती है, जिससे लोगों के अन्दर किये गये कार्य के प्रति स्वामित्व का भाव विकसित होता है।
- यदि कहीं कोई गड़बड़ी हुयी है या किसी की शिकायत है तो इसका निवारण भी तत्काल कर लिया जाता है, जिससे एक दूसरे के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना को बढ़ने की संभावना समाप्त हो जाती है।

- कार्यदायी संस्था भी ग्राम सभा के समक्ष अपनी परेशानियों को रखकर अधिकारियों व लोगों का सहयोग प्राप्त कर सकती है, इत्यादि।

सोशल ऑडिट कब करें ? :

सोशल ऑडिट वैसे तो निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, परन्तु कुछ खास अवसरों पर इस प्रक्रिया का विशेष महत्व व प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रक्रिया का आयोजन प्रारम्भ से ही कार्यक्रम नियोजन, क्रियान्वयन तथा परियोजना की समाप्ति तथा अंतिम स्वरूप प्रदान करते समय लगातार किया जाना चाहिए। इससे परियोजना संचालन में होने वाली कमियों पर निरंतर नजर रखी जा सकती है, जिससे परियोजना के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करना काफी आसान हो जाता है। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गांरटी अधिनियम 2005 के सेक्शन–17 के अन्तर्गत भी वर्ष में कम से कम दो बार ग्राम सभा से अनिवार्य रूप से सोशल ऑडिट कराने की बात कही गयी है, इस आधार पर सोशल ऑडिट की प्रक्रिया का संचालन महत्वपूर्ण है।

सोशल ऑडिट कैसे करें ?–

जिस किसी भी स्तर पर आप सोशल ऑडिट करने जा रहे हों इस बात का ध्यान अवश्य रखें कि यह प्रक्रिया जितनी स्वच्छ और बहुपयोगी है उतनी ही जटील व संवेदनशील भी है। इसलिए इस प्रक्रिया से जुड़े सिद्धान्तों का पालन करते हुए चरणबद्ध तरीके से विभिन्न प्रक्रियाओं का संचालन करें अन्यथा आपके द्वारा हुयी एक छोटी सी भूल की वजह से पुरी की पुरी प्रक्रिया निरर्थक साबित हो सकती है और परिणाम जो आना चाहिए, उससे ठीक विपरीत अथवा कुछ अलग तरह के परिणाम भी देखने को मिल सकता है। सोशल ऑडिट से जुड़े सिद्धान्त व चरण निम्नवत है–

सोशल ऑडिट के सिद्धान्त :

- जिसका मुद्दा उसी को अगुवाई करने दें।
- सभी पक्षों को समान महत्व व उनके विचारों को मान्यता दें।
- कार्यदायी संस्था के कार्यप्रणाली से जुड़े सभी पक्षों का समावेश करें।
- सभी पक्षों को सहभागिता और विचार रखने का अवसर प्रदान करें।
- उन्हीं मापदण्डों व क्रियाकलापों को शामिल करें जिनकी सूक्ष्मता से जांच व तुलना किया जा सके।
- प्राप्त उपलब्धियों का संस्था के हित में सार्वजनिक प्रस्तुतीकरण करें।
- प्राप्त सीखों का दस्तावेजीकरण व भविष्य में उपयोग की प्रवृत्ति विकसित करें।
- सोशल ऑडिट द्वारा सार्वभौमिक मूल्यों को मान्यता प्रदान करें।

सोशल ऑडिट के चरण

प्रथम चरण : पूर्व तैयारी व वातावरण का निर्माण

- सोशल ऑडिट का आशय व उद्देश्यों को स्थापित करना, जिससे इस प्रक्रिया से संबंधित सभी हितभागियों के बीच समान समझ बने और उनके पूर्वाग्रह के कारण कोई बाधा उत्पन्न न हो।
- सोशल ऑडिट हेतु सामूहिक रूप से रणनीति का निर्माण व उत्तरदायित्वों का निर्धारण करना, जिससे ग्राम सभा के सभी हितभागी इस प्रक्रिया में भागीदारी निभायें और अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करें।
- ग्राम सभा से सामाजिक अंकेक्षण टीम का चयन व अभिमुखीकरण जिससे अंकेक्षण टीम के सदस्य सहजतापूर्वक सभी प्रक्रियाओं का संचालन कर सकें।
- सकारात्मक व सौहार्दपूर्ण वातावरण का निर्माण करना, जिससे हितभागियों के बीच इस प्रक्रिया को लेकर किसी प्रकार का दुर्भावना उत्पन्न न हो तथा बिना किसी विवाद के प्रक्रियायें संचालित हो।
- अंकेक्षण टीम के सदस्यों द्वारा विकासीय कार्यक्रमों से संबंधित सूचनाओं, विसंगतियों व कठिनाईयों का आंकलन कर सही सूचना का एकत्रीकरण करना।
- एकत्रित की गई सूचनाओं का विश्लेषण कर लोगों के साथ मिलकर सत्यापन करना, जिससे अंकेक्षण की प्रक्रिया की वैधानिकता पर कोई संदेह उत्पन्न न हो।
- सोशल ऑडिट फोरम के बैठक की सूचना को ग्रामवासियों तक भिजवाना, जिससे सभी ग्रामवासियों की भागीदारी सुनिश्चित हो सके।

द्वितीय चरण : सोशल ऑडिट फोरम की बैठक का आयोजन

- सामाजिक अंकेक्षण टीम द्वारा सभी ग्रामसभा सदस्यों, चयनित प्रतिनिधियों, अधिकारियों व अन्य हितभागियों का स्वागत एवं बैठक के उद्दश्यों पर चर्चा की जायेगी।
- अंकेक्षण टीम द्वारा ग्राम पंचायत सचिव को विकास कार्यो से संबंधित जानकारी देने हेतु आमंत्रित की जायेगी, जिस पर सचिव द्वारा विभिन्न विकासीय योजनाओं व चल रहे कार्यो की प्रगति रिपोर्ट पढ़कर सुनाया जायेगा।
- तत्पश्चात सामाजिक अंकेक्षण टीम के सदस्यों द्वारा एकत्रित की गयी सूचनाओं का प्रस्तुतीकरण किया जायेगा।
- ग्राम सभा सदस्य यदि चाहे तो सचिव अथवा सामाजिक अंकेक्षण टीम द्वारा प्रस्तुत किये गये योजना व विकास कार्यो की प्रगति के संबंध में प्रश्न पूछ सकते हैं अथवा शिकायत दर्ज करवा सकते हैं।

- उठाये गये प्रश्न व मुद्दों पर उपस्थित जनप्रतिनिधि अथवा अधिकारी स्पष्टीकरण देंगे और यदि संभव है तो शिकायतों का निवारण वहीं पर कर दिया जायेगा।
- इस प्रक्रिया के दौरान परियोजना संचालन से जुड़ी कमियों में आवश्यक सुधार हेतु रणनीति तय की जायेगी तथा दर्ज के गयी शिकायतों को निश्चित अवधि के अंदर निवारण कर लेने का निर्णय लिया जायेगा।
- ग्राम सभा चाहे तो सोशल ऑडिट के रिर्पोट पर कार्यवाही हेतु प्रस्ताव पारित कर सकती है।

तृतीय चरणः सोशल ऑडिट की प्रक्रियाओं का फॉलोअप

- सोशल ऑडिट की प्रक्रिया का आयोजन के पश्चात् गांवों में अक्सर सामाजिक सौहार्द बिगड़ने की संभावना बंनी रहती है तथा ऐसे में गांव दो या तीन खेमों में बंट जाता है, अतः इस दौरान इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं पर लगातार नजर रखना, लोगों के बीच निरंतर संवाद की प्रक्रिया बनाये रखना आवश्यक होता है।
- ग्राम सभा की अगली बैठक में विगत सामाजिक अंकेक्षण की बैठक में लिए गये प्रस्तावों पर चर्चा तथा कार्य प्रगति की समीक्षा करना।
- लिए गये निर्णय व कार्यवाही से सभी ग्रामवासियों को अवगत कराना तथा पिछली गलतियों का पुनरावृत्ति न हों इसके प्रति ग्रामीणों को सचेत करना।
- सोशल ऑडिट के दौरान की गयी वचनबद्धता को प्राथमिकता के आधार पर लागू कराना।
- सोशल ऑडिट की उपलब्धियों को ग्राम पंचायत के हित में प्रकाशित कराना तथा सभी हितभागियों के मध्य वितरित कराना आदि।

सामाजिक सम्पत्ति में सोशल ऑडिट का महत्व

प्रत्येक समाज की अपनी कुछ सामाजिक सम्पत्ति होती है, जो उस समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। सामाजिक सम्पत्ति ऐसी सम्पत्ति होती है जिसमें केवल भौतिकता का समावेश नहीं होता बल्कि कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो दिखाई नहीं देते पर अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं। सामाजिक सम्पत्ति मुख्यतः निम्न बिन्दुओं के समावेश से बनती है :

- **स्थानीय (भौतिक व प्राकृतिक) संसाधन**–ऐसे संसाधन जो कि स्थानीय जनजीवन तथा विकास के लिए महत्वपूर्ण होते हैं फिर चाहे वो प्रकृति प्रदत्त हो अथवा मनुष्य द्वारा निर्मित या फिर खुद मानव संसाधन।
- **बराबर की साझेदारी**–स्थानीय स्तर पर उपलब्ध सार्वजनिक संसाधनों के प्रति बराबर साझेदारी की भावना का होना सामाजिक सम्पत्ति का मुख्य आधार है।

- **विश्वास व आपसी सहयोग**–स्थानीय समुदाय अथवा समाज में एक दूसरे पर विश्वास तथा इसके फलस्वरूप आपसी सहयोग की भावना का होना, आपसी विश्वास तथा सहयोग सामाजिक विकास के लिए अमूल्य निधि होती है।
- **संस्थागत व्यवस्था**–एक ऐसी संस्थागत व्यवस्था (जैसे पंचायतीराज व्यवस्था) जिसमें सामूहिक प्रयास व सामूहिक निर्णय के जरिए स्थानीय संसाधनों का उपयोग करते हुए साझेदारी विश्वास तथा आपसी सहयोग की भावना को कायम रखते हुए निरंतर विकास पथ पर बढ़ा जा सके।
- **उद्यमिता**–वैयक्तिक तथा सामुदायिक दोनों ही स्तरों पर किए जाने वाले उद्यमिता के नये प्रयास, जिनसे स्थानीय लाभ तथा आत्मविश्वास में बढ़ोत्तरी हो।

हम सभी इस सामाजिक सम्पत्ति को बनाए रखने तथा बढ़ाने के लिए हर संभव प्रयास करते रहते हैं। ये प्रयास सरकारी संस्थाओं से लेकर गैर सरकारी संगठनों सभी के द्वारा किए जाते हैं। गैर सरकारी संगठन तो सारे प्रयास ही या तो इस सम्पत्ति को बनाए रखने के लिए करते हैं या फिर इसको बढ़ाने के लिए। स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्य करने का मुद्दा चाहे कोई भी हो जैसे:पंचायतों का विकास, शिक्षा का विस्तार स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता आदि। परन्तु हर संस्था इन मुद्दों पर कार्य करके जिस स्वप्न को पूर्ण करने का प्रयास कर रही है, वो स्वप्न इसी सामाजिक सम्पत्ति के सन्दर्भ में है।

अब यदि सामाजिक सम्पत्ति को बनाए रखने या बढ़ाने के लिए सभी कार्य कर रहे हैं तो समय–समय इसकी स्थिति को मापने के लिए कुछ तरीकों की आवश्यकता होती है। वो तरीका ऐसा होना चाहिए, जिसमें वहाँ के स्थानीय लोगों की भागीदारी सुनिश्चित हो क्योंकि सामाजिक सम्पत्ति स्थानीय स्तर पर ही फैली होती है तथा उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों के द्वारा ही महसूस की जाती है। सामाजिक सम्पत्ति के तत्व ऐसे होते हैं, जिसे कोई बाहरी संस्था या व्यक्ति न तो माप सकता है और न ही महसूस कर सकता है। सोशल ऑडिट या सामाजिक अंकेक्षण उनमें से ही एक पद्धति है, जिसमें बाहरी मानकों पर संकेतक न तय करके स्थानीय लोगों के द्वारा संकेतक निर्धारित करके, सामाजिक सम्पत्ति का आंकलन किया जा सकता है कि उसमें किस प्रकार का परिवर्तन आया है।

सामाजिक अंकेक्षण पद्धति का प्रादुर्भाव सन् 1970 की शुरूआत में यूरोप विशेषकर इंग्लैण्ड में हुआ। यदि हम सामाजिक अंकेक्षण को परिभाषित करें तो–'***सामाजिक अंकेक्षण एक व्यवस्थित व समय–समय पर निरंतर चलने वाली उद्देश्य पूर्ण अंकेक्षण प्रक्रिया है, जो कि किसी संस्था/एजेन्सी/व्यवस्था को ऐसे सामाजिक मूल्य व दृष्टिकोण स्थापित करने में मदद करती है, जिससे वे अपने आन्तरिक व बाहरी प्रदर्शन तथा सामाजिक योजना को माप सके।***'

यदि कोई संस्था सामाजिक अंकेक्षण करना चाहती है तो उसके लिए पहली महत्वपूर्ण बात है कि इसे स्वैच्छिकता व ईमानदारी से करे तथा दूसरे इसके लिए एक उद्देश्यपूर्ण पद्धति का उपयोग करे। यही बात सामाजिक अंकेक्षण को अन्य सभी प्रकार के मूल्यांकन व सर्वे से अलग करती है।

सामाजिक अंकेक्षण के इस व्यवस्थित तरीके से कोई संस्था समुदाय के लोगों को–

- आवश्यकताओं तथा उपायों को पहचानने में,
- गतिविधियों को नियाजित करने में,
- विकास या प्रगति का अनुश्रवण करने में, तथा
- संस्था के सामाजिक प्रदर्शन को एक तुलनात्मक व सहभागी तरीके से मापने में शामिल कर सकती है।

साथ ही साथ सामाजिक अंकेक्षण विशेष रूप से इस प्रकार प्रारूपित किया जाता है, जिससे कि समुदाय के लोग अपने स्थानीय सामुदायिक मुद्दे को समझते हुए हल खोजना व अपने दृष्टिकोण का दायरा बढ़ाना सीख सकें। जब एक बार समुदाय में सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया की समझ बन जाती है तो लगातार इस प्रक्रिया को चलाना तथा अपने स्थानीय मुद्दों को हल करना आसान हो जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि सामाजिक अंकेक्षण किसके लिए उपयोगी है? हम कह सकते हैं कि ये ऐसी संस्थाओं/एजेन्सीज/व्यवस्थाओं के लिए उपयोगी है, जो कि सामाजिक सम्पत्ति को बनाए रखने, उसको बढ़ावा देने के लिए कार्य करती है न कि व्यक्तिगत लाभ के लिए।

सामाजिक अंकेक्षण को करने के पूर्व इसके जुड़े कुछ व्यावहारिक सिद्धान्तों का अनुसरण करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इनकी अनदेखी करके सामाजिक अंकेक्षण के वास्तविक उद्देश्यों को पूर्ण करना असंभव होता है।

- **सहभागिता** : सामाजिक अंकेक्षण का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है सहभागिता। हर उस हितभागी की सहभागिता जो किसी ना किसी प्रकार जिस मुद्दे या विषय पर अंकेक्षण किया जा रहा है, उससे जुड़ा हुआ हो।
- **बहु–दृष्टिकोणीय** : सामाजिक अंकेक्षण करते समय हर एक दृष्टिकोण से वास्तविकता को परखने की आवश्यकता होती है। जिसके लिए हर हितभागी के विचार, मान्यताओं को समाहित करना चाहिए चाहें वो दाता वर्ग से सम्बन्ध रखता हो अथवा लाभार्थी वर्ग से।
- **परिपूर्णताः** परिपूर्णता से यहाँ पर अर्थ है कि इस प्रक्रिया में प्रत्येक पहलू को शामिल किया जाना चाहिए जैसे : संस्था की कार्यप्रणाली, आंतरिक व्यवस्था व ढ़ाँचे, उद्देश्य, सम्बन्ध, लक्ष्य समूह, हितभागी व वाह्य वातावरण आदि।

- **मापनीय** :परिपूर्णता के साथ ही साथ ये भी आवश्यक है कि जिस भी पहलू को शामिल किया जाए, वो मापनीय भी हो अर्थात् बाहरी व आंतरिक अंकेक्षण टीम द्वारा सूक्ष्मता से जाँचा जा सके।
- **निरन्तरता** : सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया निश्चित समयावधि पर निरन्तर करने की आवश्यकता होती है क्योंकि इस प्रक्रिया को सिर्फ एक बार करने से समुदाय के उपर प्रभाव नहीं पड़ता। समुदाय के व्यावहारिकता में लाने के लिए इसको वार्षिक, अर्द्धवार्षिक अथवा सुविधानुसार समय–समय पर करते रहना चाहिए।
- निष्कर्षो व सीखों को व्यवहार में उतारना तथा उनका प्रचार–प्रसार सामाजिक अंकेक्षण के परिणाम स्वरूप प्राप्त निष्कर्ष व सीखों को व्यवहार में ले आकर वर्तमान स्थिति से ऊपर उठने का प्रयास करना तथा इनको अन्य हितभागियों के साथ बाँटना, आखिरी व सबसे प्रमुख सिद्धान्त है।

सामाजिक अंकेक्षण के लिए इसके सिद्धान्तों का पालन करना जितना ही महत्वपूर्ण होता है, उतना ही महत्वपूर्ण होता है इसको चरणबद्ध रूप में करना। सामाजिक अंकेक्षण को निम्नानुसार चरणबद्ध किया जा सकता है–

सामाजिक अंकेक्षण के चरण

↓

संस्थान या कार्यक्रम के लक्ष्य व उद्देश्यों की पूर्ण जानकारी सुनिश्चित करना

↓

सभी हितभागियों की पहचान व उनकी वास्तविक भूमिकाओं व कर्तव्यों पर स्पष्ट समझ बनाना

↓

कार्य निष्पादन के संकेतक सभी हितभागियों की मदद व स्वीकृति से परिभाषित करना

↓

कार्य निष्पादन के संकेतक सम्बन्धित आँकड़े व जानकारी एकत्रित करने हेतु बैठकों या अन्य तरीके जैसे, जनसुनवाई, रिपोर्ट–कार्ड सर्वे, इण्टरफेस कार्यशाला आदि का आयोजन

↓

सामाजिक लेखांकन अर्थात सभी जानकारियों का एकत्रीकरण व उसका रख–रखाव

↓

प्राप्त जानकारियों का विश्लेषण करना

↓

विश्लेषण के आधार पर रिपोर्ट तैयार कर सभी हितभागियों को बाँटना अथवा सम्भव हो तो प्रकाशित करना

इस प्रकार यदि हम सभी सिद्धान्तों व चरणों का संतुलित प्रयोग करें, तो हम किसी समुदाय विशेष की सामाजिक सम्पत्ति की वर्तमान स्थिति को माप सकते हैं।

उदाहरणस्वरूप हम देखे तो हमारी ग्राम पंचायतें सामाजिक सम्पत्ति का उदाहरण पेश करती हैं। इनमें स्थानीय भौतिक व प्राकृतिक संसाधन हैं, जिनका उपयोग होता है। इनमें बराबर की साझेदारी वाली वस्तुएं, संसाधन

तथा सम्पत्ति भी होती हैं। जैसे–ग्राम समाज की जमीन, तालाब आदि। इनमें रहने वाले लोगों के बीच आपसी विश्वास एक–दूसरे के प्रति पाया जाता है। इसमें एक संस्थागत व्यवस्था पंचायतीराज व्यवस्था भी है, जो कि वहाँ स्वशासन को मजबूत बनाने के लिए है तथा साथ ही उद्यमिता भी मौजूद है, जिसे कि स्वयं सहायता समूहों, समुदाय आधारित संगठनों के प्रयासों से बढ़ावा मिलता है। इन्हीं आधारों पर ही हम किसी ग्राम पंचायत को समृद्ध या कमजोर आँकते हैं या उसके सामाजिक सम्पत्ति की स्थिति को बताते हैं।

ग्राम पंचायतों में सामाजिक अंकेक्षण को व्यवहारिक बनाने का प्रावधान 73वें संविधान संशोधन के जरिए शामिल किया गया, जो कि साल में दो बार ग्राम सभा की बैठक के द्वारा किया जाता है, जिसमें ग्राम की सामाजिक सम्पत्ति की वर्तमान स्थिति का अंकेक्षण ग्राम सभा सदस्य करते है। पर ये सामाजिक संकेक्षण प्रक्रिया (ग्राम सभा की बैठक) सही प्रकार से संचालित नहीं होती है। अतः हमें सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया को सतत् बनाने के लिए प्रयास करना होगा। सामाजिक अंकेक्षण के ग्राम सभा बैठक के अलावा कई अन्य तरीके भी हैं, जो कि प्रयोग में लाए जाते हैं। जैसे :

जन–सुनवाई :

जन सुनवाई कार्यक्रम सामाजिक अंकेक्षण का एक महत्वपूर्ण तरीका है। जन सुनवाई के माध्यम से राजस्थान में सूचना के जन अधिकार का मुद्दा उठाया गया, जिसे अंततः कानून का दर्जा प्राप्त हुआ। समुदाय आधारित अनुश्रवण व सामाजिक अंकेक्षण के प्रयास राजस्थान में प्रारम्भ किए गये तथा इससे जो परिणाम प्राप्त हुए, उसने भारत में सामाजिक अंकेक्षण व समुदाय आधारित अनुश्रवण को स्वैच्छिक प्रयासों में स्थापित कर दिया।

सूक्ष्म स्तरीय नियोजन :

सूक्ष्म स्तरीय नियोजन भी एक प्रकार से सामाजिक अंकक्षेण का तरीका है, जिसमें हम सामाजिक सम्पत्ति का आकलन करने के पश्चात उसका बेहतर उपयोग करने का नियोजन करते हैं। इस सूक्ष्म स्तरीय नियोजन के सफल क्रियान्वयन के जरिए सामाजिक सम्पत्ति को बढ़ाने में मदद मिलती है।

रिपोर्ट कार्ड–सर्वे :

स्थानीय स्तर पर कार्यरत व्यवस्था प्रणाली के लिए रिपोर्ट कार्ड तैयार करके उसके द्वारा सामाजिक सम्पत्ति के उपयोग या दुरुप्रयोग का आकलन या सामाजिक अंकेक्षण किया जा सकता है।

इसके अलावा हम स्थानीय स्तर पर कोई भी नया तरीका सृजित कर सकते हैं, जिससे सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया संभव हो सके जैसे–बहुहितभागी संवाद कार्यशाला, इण्टरफेस कार्यशालाऐं आदि।[7]

अगर सामाजिक अंकेक्षण के तरीको का उपयोग समुदाय स्तर पर लगातार किया जाए, तो ये स्थानीय सामाजिक सम्पत्ति को बढ़ाने में अत्यधिक सहायक हो सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा समुदाय स्तर पर सामाजिक अंकेक्षण को प्रचलन में लाने के लिए सकारात्मक प्रयास किए जाऐं।

हमने जाना

- भारतीय संविधान की धारा 19(1) के अनुसार भारतीय नागरिकों को समुदाय बनाने का अधिकार है। जिससे स्वैच्छिक संगठनों के गठन का आधार प्राप्त होता है।
- भारत में स्वैच्छिक संगठनों के गठन की एक लम्बी परम्परा है।
- प्रारम्भ में यह दयादान व परोपकार से प्रेरित थी।
- 19वीं शताब्दी में स्वैच्छिक क्रिया ने समाजसुधार एवं सामाजिक सुधार न्याय आन्दोलन को बल दिया।
- स्वैच्छिक संगठनों के प्रयासों से अनेक सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना आसान हो गया।
- क्रिश्चियन मिशन के प्रभावी परिणामों से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द जी ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।
- स्वतंत्रता के पश्चात् आन्दोलन के अनेक महत्वपूर्ण नेताओं ने स्वैच्छिक संगठनों की स्थापना कर सामाजिक समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- स्वैच्छिक क्रिया के क्षेत्र को प्रभावी बनाने के लिए शासन द्वारा अनेक कार्यक्रम एवं संस्थाओं जैसे कपार्ट इत्यादि का गठन किया।
- वर्तमान समय में स्वैच्छिक आन्दोलन विकास की प्रक्रिया के अभिन्न अंग बन गए हैं।

कठिन शब्दों के अर्थ

- **स्वैच्छिक क्रिया** – स्वैच्छिक क्रिया स्वेच्छा से बिना किसी पारिश्रमिक अथवा लाभ की प्राप्ति की आशा से जरूरतमन्दों की सहायता करना या समुदाय के कष्टों अथवा समुदाय की समस्याओं व कुरीतियों को दूर करने के लिए संगठित रूप से किया गया प्रयास है।
- **सोशल ऑडिट** – सोशल ऑडिट समाज के द्वारा सार्वजनिक ढंग से किये गए कार्यों के औचित्य, गुणवत्ता एवं उपादेयता की समीक्षा करने की प्रक्रिया है।

अभ्यास के प्रश्न

1. स्वैच्छिक क्रिया क्या है ?
2. भारत में स्वैच्छिक क्रिया के उद्भव एवं विकास को संक्षेप में बताएँ।
3. भारत में स्वतंत्रता के पूर्व सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यों में स्वैच्छिक संगठनों के प्रयास का आकलन कीजिए।
4. स्वतंत्रता के पश्चात् स्वैच्छिक क्रिया के क्षेत्र में किए गए प्रयासों की विवेचना कीजिए।
5. स्वैच्छिक संगठनों के समक्ष आने वाली प्रमुख चुनौतियों का विश्लेषण कीजिए।
6. सामाजिक अंकेक्षण क्या है?
7. सामाजिक अंकेक्षण के विभिन्न चरणों को बताएँ।

आओ करके देखें

- अपने क्षेत्र में कार्यरत किसी स्वैच्छिक संगठन के द्वारा किये जा रहे कार्यों की सूची तैयार करें।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

- पान्थरी शैलेन्द्र, सिंह अमरेन्द्र प्रताप, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, वाराणसी, पृष्ठ 240।
- वही, पृष्ठ 290।
- वहीं, पृष्ठ 247।
- वहीं, पृष्ठ 280।
- दास अभिजित एवं सिंह सतीश कुमार, 2007, सम्भव है बदलाव, सहयोग प्रकाशन, लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ–4।
- कुमार अनुप, जुलाई सितम्बर, 2005 सहवाणी, सहभागी शिक्षण केन्द्र लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ 14–15।
- राव, ब्रिजेश के०पी० जुलाई सितम्बर, 2005 सहवाणी, सहभागी शिक्षण केन्द्र लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ 16–18।

■■■

15.2 समाज कार्य अनुसंधान (Social Work Research)

उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे –

- वैज्ञानिक अनुसंधान का स्वरूप
- समाज कार्य या सामाजिक अनुसंधान का तात्पर्य
- सामाजिक अनुसंधान के क्षेत्र एवं चरण
- शोध प्रारूप का निर्माण की प्रविधि
- उपकल्पना का तात्पर्य एवं उपकल्पना बनाने की विधि
- सामाजिक अनुसंधान की पद्धतियाँ
- निदर्शन से तात्पर्य एवं निदर्शन करने की विधि
- प्राथमिक एवं द्वितीयक तथ्यों का संकलन

समाज कार्य सामाजिक विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अनुशासन है। समाज कार्य में अनुसंधान में उन समस्त क्रियाओं का उपयोग होता है जो सामाजिक अनुसंधान या वैज्ञानिक अनुसंधान के अन्तर्गत समाहित हैं। यहाँ पर सर्वप्रथम वैज्ञानिक अनुसंधान से सम्बन्धित जानकारी प्रदान की जा रही है।

15.2.1 वैज्ञानिक शोध (Scientific Research)

आधुनिक समय में शोध कार्य एक अहम विषय है। प्रत्येक विषय का विकास उसके नवीन शोधों पर निर्भर करता है। शोध में विविधता, विशिष्टता एवं नवाचार होना चाहिए। प्रत्येक विधा में शोध का अपना तरीका होता है पर शोध एक निश्चित प्रक्रिया का अनुगमन करता है। शोध ऐसा होना चाहिए जो लोग देख सकें, महसूस कर सकें, दूसरे को दिखा सकें। स्नातक, परास्नातक एवं ऊपर के स्तर पर जब विद्यार्थी को, शिक्षक को शोध कार्य करना होता है तो सर्वप्रथम उसके सामने यही प्रश्न घूमने लगता है कि शोध करना है पर क्या और कैसे करना है? शिक्षक, छात्र को कोई क्षेत्र बता देता है कि तुम्हें अमुक क्षेत्र में कार्य करना है। अतः इस क्षेत्र से सम्बन्धित साहित्य का गहराई से अध्ययन करो। छात्र पुस्तकालय से पुस्तकें निकालकर पलटता है पर उस पुस्तक में उसे कोई भी सामग्री उपयोग लायक नहीं मिलती। पुनः वह अपने अन्य शिक्षकों एवं मित्रों से मिलता है, अपनी समस्या बताता है पर उसकी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है और यही करते करते उसका मूल्यवान समय व्यतीत हो जाता है। फिर भी उसके समझ में यह बात नहीं आती कि क्या किया जाय?

ऐसा क्यों ?

(1) ऐसा इसलिए होता है कि छात्र को उपर्युक्त प्रशिक्षण नहीं दिया गया कि शोध क्या होता है? कैसे किया जाता है ? उसके आवश्यक अवयव एवं चरण क्या होते हैं ? जब तक उसे यह मालूम नहीं होगा वह आगे कैसे बढ़ेगा?

(2) उच्च शिक्षा के अध्यापक बनने के लिए शोध–कार्य एक अहम पक्ष है।

(3) बहुत से लोग शौकिया यह कार्य करते हैं।

(4) कुछ निर्देशक ऐसे भी होते हैं जो एक समूह बनाकर धन कमाने की लालसा से ऐसे लोगों को भी शोध कार्य कराते हैं जो वास्तव में शोध करने के लायक नहीं होते। जब अन्य लोग ऐसे लोगों को शोध करते देखते हैं तो उनके मन में भी शोध–कार्य करने की इच्छा शक्ति बलवती हो उठती है। नतीजतन बिना किसी विशिष्ट प्रशिक्षण के शोध–क्षेत्र में उतर आते हैं। अपनी रुचि, क्षमता एवं आवश्यकता को भली प्रकार सम॰ लेने के पश्चात ही शोध–क्षेत्र में उतरें। वही शोध हितकर होता है।

शोध क्या है(What is Research)

शोध की अनेकों परिभाषाएं दी गयी हैं। आप परिभाषा तो पढ़ें पर सरल अर्थों में यह जान लें कि –

- शोध वह कार्य है जिससे नयी चीज, वस्तु, तथ्य की स्थापना हो।
- पहले से स्थापित किसी तथ्य की पुनः जाँच हो।
- पहले से स्थापित किसी तथ्य में परिवर्तन हो।
- ध्यान रहे, शोध प्राणियों के लिए हितकर हो।

इस पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने अपने अध्यादेश (VI) में कहा है कि –

"It must be a piece of research work characterized either by the discovery of new facts of by a fresh interpretation of facts or theories, in either case it should evidence the candidates, capacity for critical examination and judgment. It shall also be satisfactory so far as its literacy presentation is concerned."

"अनुसंधान कार्य ऐसा होना चाहिए कि उसमें या तो नये तथ्यों को प्रकाश में लाया गया हो, अथवा तथ्यों या सिद्धान्तों की नयी व्याख्या की गयी हो। किसी भी दशा में अनुसंधान प्रबंध को अभ्यर्थी की आलोचनात्मक परीक्षण एवं निर्णय की क्षमता का साक्षी होना वांछनीय है। अनुसंधान प्रबंध को, जहाँ तक साहित्यिक प्रस्तुति का मामला है, संतोषजनक होना चाहिए।"

किसी भी शोध की ये आवश्यक शर्तें हैं चाहे वह जिस किसी क्षेत्र से सम्बन्धित हो।

वैज्ञानिक शोध का स्वरूप (Nature of Scientific Research)

वैज्ञानिक शोध के स्वरूप को जानने के लिए निम्नलिखित परिभाषा को ध्यान से समझने की जरूरत है –

"Scientific research is systematic, controlled, empirical, and critical investigation of hypothetical propositions about presumed relations among natural phenomena."

"वैज्ञानिक अनुसंधान प्राकृतिक गोचरों में पूर्वकल्पनात्मक सम्बन्धों के विषय में परिकल्पनात्मक कथनों का व्यवस्थित, नियंत्रित, इन्द्रिभानविक और आलोचनात्मक अन्वेषण है।"

इस परिभाषा में कुछ तकनीकी शब्द हैं जिनकी व्याख्या आवश्यक है क्योंकि उनकी व्याख्या समझ लेने से वैज्ञानिक शोध को समझने में आसानी होगी।

- Natural Pheomena - प्राकृतिक गोचर
- Presumed Relations - पूर्वकल्पनात्मक सम्बन्ध
- Empirical - इन्द्रियगम्य

प्राकृतिक गोचर का सरल अर्थ यह है कि इस जगत में प्रकृति ने प्राणियों को ऐसी अनेक चीजें प्रदान की है जो आश्चर्यजनक है। जैसे वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आकाश। वायु – शीतल है, गर्म है, सुगन्धित है। जल –नमकीन है, मीठा है। किसी पौधे या वृक्ष से मीठा रस मिलता तो कोई खट्टा रस देता है। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पहाड़, नदियाँ, समुद्र, जंगल, वनस्पतियाँ इत्यादि सभी प्राकृतिक तत्व हमारे चतुर्दिक पैले हैं जो प्राणियों की रचना, विकास और विनाश के साक्षी एवं सहयोगी हैं। इन्हीं से प्राणी उत्पन्न होता है, इन्हीं से विकसित होता है तथा इन्हीं में लीन हो जाता है। अर्थात् उपरोक्त सभी प्राकृतिक गोचर है जो आधार स्तम्भ हैं।

दूसरा तकनीकी शब्द है – पूर्वकल्पित सम्बन्ध। जल और आग में क्या सम्बन्ध है? आग और वायु में क्या सम्बन्ध है? पृंथ्वी और आकाश में क्या सम्बन्ध है? इनमें प्राकृतिक रूप से एक सम्बन्ध पाया जाता है, जैसे– आग की मात्रा कम है और जल अधिक है तो आग के प्रभाव को कम किया जा सकता है। यदि जल कम है तो आ में वह समाप्त हो जायेगा। तनिक हवा का झोंका, आग को और भड़का सकता है। इस तरह न गोचरों का आपस में एक सम्बन्ध है। इसी पूर्वकल्पित सम्बन्धों को जानना आवश्यक है।

तीसरा शब्द है – इन्द्रियगम्य। इन्द्रियगम्य का अर्थ यह है कि कोई भी कार्य जिसको हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ या कर्मेन्द्रियाँ महसूस कर सकें, देख सकें, सुन सकें, चख सकें, सूंघ सकें या बार–बार वैसा ही अनुभव कर सकें जैसा पूर्व में किया है अर्थात् शोध कार्य ऐसा होना चाहिए जो परीक्षणीय हो।

अब इन शब्दों को स्पष्ट करने के बाद उपरोक्त परिभाषा के माध्यम से शोध को बताने का प्रयास किया जा रहा है।

प्रो. एल.बी. त्रिपाठी (1994) ने इस सन्दर्भ में बताया है कि –

"आत्मनिष्ठ भावनाएँ या विचार तभी वैज्ञानिक जानकारी का रूप लेते हैं तब वे परीक्षण के माध्यम से यथार्थ की कसौटी पर खरे उतरते हैं। वैज्ञानिक अपने अन्वेषण में क्रमबद्ध रीति से अधिकाधिक नियंत्रित स्थितियाँ उत्पन्न करता है और अपने अन्वेषण तथा उससे उत्पन्न परिणाम के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि से आगे बढ़ता है। नियंत्रित स्थिति इसलिए उत्पन्न करता है कि वह सही रूप से ज्ञात कर सके कि अध्ययन किए जाने वाले गोचर को कौन–कौन से कारक प्रभावित कर रहे हैं और कौन से कारक प्रभावित नहीं कर रहे हैं।"

15.2.2 अनुसंधान के वैज्ञानिक उपागम (Scientific Approach of Research)

ग्रूत (1969) ने वैज्ञानिक अनुसंधान की अवस्थाओं को पाँच भागों में बाँटा है –

(1) प्रेक्षण की अवस्था।

(2) आगमन की अवस्था।

(3) निगमन की अवस्था।

(4) परीक्षण की अवस्था।

(5) मूल्यांकन की अवस्था।

अब इनको स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

(1) प्रेक्षण की अवस्था(Observation Phase)

जो लोग अनुसंधान कार्य में लीन होते हैं उनकी नजर पारखी तथा चिन्तन की धार अत्यन्त तेज होती है। विषय का पर्याप्त ज्ञान जरूरी होता है अन्यथा पग–पग पर समस्याएं उदभूत होती है। ऐसे व्यक्ति के मस्तिष्क में विषय से सम्बन्धित कुछ मौलिक चिन्तन उभरते रहते हैं। उन चिन्तनों को वैज्ञानिक एवं प्रेक्षणीय बनाने के लिए सम्बन्धित अनुभवगम्य सामग्रियों को एकत्रित कर व्यवस्थित करता है। इसी प्रक्रिया से समस्या उद्भूत होती है जो शोध का प्रथम चरण है। सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित विद्यार्थी इस बात पर चिन्तन कर सकते हैं कि कुछ ऐसे आदिवासी लोग जो मिश्रित प्रकार के समुदाय में रहते हैं, उनका सामाजिक–आर्थिक स्तर उन आदिवासियों से काफी अच्छा है जो सिर्फ आदिवासी बहुल समाज में रहते हैं। इसके लिए कौन–कौन कारक जिम्मेदार हैं? इस अवस्था को प्रेक्षण अवस्था कहा जाता है।

(2) आगमन की अवस्था(Inductive Phase)

उपलब्ध संभावनाओं, परिस्थितियों, कारकों की पृष्ठभूमि में अनुसंधानकर्ता का चिन्तन आगे बढ़ता है और उन संभावनाओं पर रूक कर अनुमान लगाने का प्रयास करता है कि किन परिस्थितियों के चलते आदिवासियों का एक वर्ग राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड़कर अपना विकास कर रहा है तथा दूसरा वर्ग अपनी परम्परा से चिपककर आगे नहीं बढ़ पा रहा है। शोधकर्ता की दृष्टि में कुछ कारक निश्चित रूप से उभरते हैं जो इसके लिए जिम्मेदार होते हैं।

उन्हीं के आधार पर अनुसंधानकर्ता का चिन्तन ऐसे मोड़ पर पहुंचता है, जहाँ वह कुछ कारकों को, आदिवासियों के विकास अथवा अवनति के साथ जोड़ देता है तथा एक सम्भावना को जो, परिणाम के रूप में प्रस्फुटित होता है, को परिणाम के घटित अथवा आने के लिए जिम्मेदार मान लेता है। ध्यान रहे कि यह सभी कुछ अनुमानात्मक परिस्थितियों के दायरे में ही होता है, जिसकी परीक्षा होनी अभी शेष है।

(3) निगमन की अवस्था(Deductive Phase)

अनुगमनात्मक अवस्था में जब शोधकर्ता पहुंच जाता है तब वह इस स्थिति में आ जाता है कि वह घटनाओं के अनुमानित कारकों तक पहुंच चुका है। इसके प्श्चात निगमन की अवस्था प्रारम्भ होती है। 'ग्रूत' ने इस अवस्था को "संक्रियाकरण की प्रक्रिया" (Process of operationalization) माना है अर्थात् चिन्तन मूर्त रूप लेने लगता है तथा सभी आस–पास के तथ्यों को एक–दूसरे से जोड़कर, या घटाकर या अंतर्क्रिया कर परीक्षण के निकट पहुंच जाना इस अवस्था की पहचान है। यदि इसको वाक्य के रूप में कहा जाय तो हम ऐसा कह सकते हैं कि –

"यदि ये–ये स्थितियाँ विद्यमान रही होंगी तो ऐसा–ऐसा हुआ होगा।"

यह अवस्था चिन्तन का वह अनुमानिक प्रक्रम है, जिसमें बनाई गयी या सोची गई परिकल्पना को परीक्षण योग्य एवं घटकों को मापन योग्य बनाने का प्रयास होता है।

(4) परीक्षण की अवस्था(Testing Phase)

यह अवस्था शोध की सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवस्था होती है। अभी तक जिन अवस्थाओं की चर्चा की गई है वे अनुमान की नींव पर टिकी होती है, पर जैसे ही उन अनुमानों की सत्यता को परखने की बात आती है, वहाँ से परीक्षणीय अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। शोधकर्ता अपने अनुमान को जाँचने के लिए सम्बन्धित तथ्यों का संग्रहण करता है। प्रतिमान, अभिकल्प तथा प्रदत्त संग्रह की तकनीक को अन्तिम रूप देने का प्रयास करता है। इसके पश्चात अन्त में अपनी परिकल्पना के परीक्षण हेतु अधिक से अधिक संख्या में प्रदत्तों का संकलन करता है तथा परिणाम जानने की कोशिश करता है।

(5) मूल्यांकन की अवस्था(Evaluation Phase)

प्राप्त परिणामों की व्याख्या और सन्दर्भ विशेष में उल्लिखित सिद्धान्त के पक्ष या विपक्ष में अभिमत प्रस्तुत करना इस अवस्था का विशेष कार्य है। जिस सिद्धान्त की अच्छाई या कमी, शोधकर्ता के चिन्तन को प्रखर या उत्तेजित करती है, प्राप्त परिणाम से या तो वह सबल होत है या कमजोर, जो आगे या भविष्य में शेध के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण करती है।

सामाजिक अनुसन्धान क्या है ?

इस नाम में दो शब्द हैं। सामाजिक + अनुसन्धान। 'सामाजिक' का साधारण अर्थ मानवीय सम्बन्धों और समझदारियों पर आधारित उन व्यवहारों से है जो जीवन जीने की अवधि में मनुष्य, अन्य प्राणी या वस्तु तथा विश्वासों से प्रभावित होता है या उन्हें प्रभावित करता है। ऐसे सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करते समय जब हम अनुसन्धान की वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करते हैं तो उसे सामाजिक अनुसन्धान कहने लगते हैं। संक्षेप में सामाजिक अनुसन्धान को बताना हो तो हम कह सकते हैं –

"Social research is rational use of scientific methods in analyzing and understanding the living and subtler human behaviour based on interaction."

अर्थात् सामाजिक–अनुसन्धान, वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग से 'मानव व्यवहारों' को समझने, उसकी व्याख्या और विश्लेषण करने का वह प्रयत्न है जो तर्कपूर्ण ढंग से आगे बढ़ाया जा रहा हो। मानव व्यवहार में वे समस्त जीवित और चेतनापूर्ण कार्य आते हैं जो अन्तःक्रिया से प्रभावित होकर किये जाते हैं।

कुछ प्रचलित परिभाषाएं :

"सामाजिक शोध एक वैज्ञानिक योजना है जिसका कि उद्देश्य तार्किक तथा क्रमबद्ध पद्धतियों के द्वारा नवीन तथ्यों का अन्वेषण अथवा पुराने तथ्यों की पुनःपरीक्षा एवं उनमें पाए जाने वाले अनुक्रमों (sequesnces), अन्तःसम्बन्धों, कारण सहित व्याख्याओं तथा उनको संचालित करने वाले स्वाभाविक नियमों का विश्लेषण करना है।"

–पी.वी. यंग

"एक साथ रहने वाले लोगों के जीवन में क्रियाशील अन्तर्निहित प्रक्रियाओं का अनुसन्धान ही सामाजिक शोध है।"

– बो. गार्ड्स

"सामाजिक घटनाओं व समस्याओं के सम्बन्ध में नवीन ज्ञान की प्राप्ति के लिए किए गए व्यवस्थित अनुसन्धान को हम सामाजिक शेध कहते हैं।"

–मोजर

ध्यान से देखें तो सामाजिक अनुसन्धान की ये परिभाषाएं सम्पूर्ण सामाजिक विज्ञानों में किए जाने वाले शोधों की ओर संकेत करती है। इन सामाजिक विज्ञानों में अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे शस्त्र भी सम्मिलित हैं। विशेष रूप से समाजशास्त्र के लिए ही अनुसन्धान को समझाना हो तो हम व्हिटने की परिभाषा का उल्लेख करेंगे।

व्हिटने (whiteney) का कथन है, "समाजशास्त्रीय शोध में मानव–समूह के सम्बन्धों का अध्ययन होता है।"

परिभाषाओं में क्या विशेष बाते हैं ? (सारांश)

(1) यह वैज्ञानिक योजना है।

(2) तर्कपूर्ण कमबद्ध है।

(3) तथ्यों का अन्वेषण एवं परीक्षण करना।

(4) कार्य–कारण सम्बन्ध पता लगाना।

(5) सामूहिम जीवन की प्रक्रियाओं, क्रियाओं का अध्ययन है।

(6) मानव सम्बन्धों का अध्ययन है।

परिभाषाओं में अधूरापन

सामाजिक अनुसन्धान में 'सामाजिक' का क्षेत्र और अर्थ ठीक ढंग से नहीं समझा गया जिससे सामाजिक अनुसन्धान के उद्देश्य और क्षेत्र निर्धारण में संकीर्णता आ गयी। समाज में रहने से आदमी सामाजिक है। अन्तःक्रिया करने से सामाजिक है। पर ये अन्तःक्रियाएं सदा जीवित व्यक्ति की जीवित व्यक्ति या समूह से ही नहीं होती। अनेक बार व्यक्ति को पत्थर की मूर्ति से, मरे–गाड़े पूर्वज से, पीपल, तुलसी जैसे पौधे से, सिन्दूर और राखी के धागे से, मुद्रा और गद्दी पद से करनी पड़ती है। ऐसे में मैकाइवर – पेज का या अन्य ऐसा मानने वालों का तर्क अधूरा रहा जाता है कि 'समाज और सामाजिक' विशेष और विशेषण वहीं लागू हो सकता है जहाँ दो या दो से अधिक जीवित व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध बनते हों। इसे यूं कहना चाहिए कि वह सब कुछ समाज है, सामाजिक है जो व्यक्ति का व्यक्ति से, व्यवस्था, विश्वास से अन्तःक्रिया होने पर व्यवहार बनकर उभरता है। जिसमें शाश्वता के चिन्ह हों।

इस प्रकार सामाजिक अनुसन्धान उन समस्त घटनाओं के सम्बन्ध में किया जाने वाला वैज्ञानिक अध्ययन है जो व्यक्ति समूह, व्यवस्था, विश्वास के बीच अन्तःक्रियाओं के कारण उत्पन्न होता है एवं जीवित रहता है।

उद्देश्य की दृष्टि से सामाजिक अनुसन्धान के प्रकार

सांमाजिक घटनाओं का एक लम्बा इतिहास है। उसकी धारा में अनन्त सूचनाएं, रहस्य और तथ्य छिपे हैं दूसरी ओर सामाजिक घंटनाएं, स्वयं समाज न जाने किस भविष्यकाल तक जीवित रहने की प्रक्रिया में हैं। भूत और भविष्य के दो छोरों के बीच सामाजिक जीवन पर किए जाने वाले शोधों के भी दो प्रकार हैं –

(1) शोध या अनुसन्धान का वह स्वरूप जो सैद्धान्तिक और शुद्ध सूचनाओं का पता लगाता है। उनके अन्तःसम्बन्ध की खोज और व्याख्या करता हैं ज्ञान सम्पदा की वृद्धि और उनकी रक्षा ही उद्देश्य होता है।

(2) दूसरे प्रकार के शोध को व्यावहारिक या उद्देश्य प्रेरित शोध कह सकते हैं। ऐसे शोध समाज पुनर्निर्माण के लिए वाजिब तथ्य जुटाकर दिशा–निर्देश करते हैं। विकास, वांछित परिवर्तन, नियंत्रण में ऐसे शोध सहायक होते हैं।

सामाजिक अनुसंधान
- शुद्ध या मौलिक शोध (Pure Social Research)
  सैद्धान्तिक उद्देश्य वाले शोध
- क्रियात्मक शोध (Action Research)
  उपचारात्मक शोध
- उद्देश्य प्रेरित शोध (Applied Social Research)
  व्यावहारिक शोध

(अ) सैद्धान्तिक उद्देश्य वाले शोध की पहचान –(Pure Social Research)

यह सामाजिक जीवन, घटना, तथ्य, समस्या – सबके विषय में खोज करता है। कार्य–कारण सम्बन्ध का पता लगाता है और मानव के ज्ञान में वृद्धि करता हैं इसके लिए पुराने तथ्यों की परीक्षा और नये तथ्यों पर दृष्टि रखता है। अपन अध्ययन के आधार पर नियम बनाता है। मानकीकरण (standardization) करता है।

(ब) क्रियात्मक या उपचारात्मक शोध(Action Research)

गुडे तथा हाट के अनुसार, ''क्रियात्मक शोध उस कार्यक्रम का अंश (part) होता है जिसका कि लक्ष्य विद्यमान अवस्थाओं को परिवर्तित करना होता है, चाहे वह गन्दी बस्ती की अवस्थाएं (slum conditions) हों या प्रजातीय तनाव (race tensions) व पक्षपात हो या एक संगठन की प्रभावशीलता हो।''

"Action research is part of a programme aimed at changing existing conditions, whether slum conditions, race tensions and prejudice, or the effectiveness of an organization". - Goode & Hatt.

(स) उद्देश्य प्रेरित शोध की पहचान –(Applied Social Research)

सामाजिक समस्याओं को समझने, सुलझाने में शोधित तथ्यों का उपयोग करता है। त्रुटिपूर्ण अवधारणाओं की सही व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है ताकि सामाजिक आग्रहों को मिटाया जा सके। सामाजिक, सामुदायिक नियोजन तथ्य और दिशा दोनों देता है। सरकार को सामाजिक विधान बनाने में मदद करता है। समय और परिस्थिति बदलने पर जनमत निर्माण करने में मददगार होता है।

सामाजिक अनुसन्धान के उद्देश्य

अनुसन्धान का मूल उद्देश्य तो ज्ञान और सूचना प्राप्त करना होता है। परन्तु इस युग में जबकि वैज्ञानिक सत्यों को जीवन के हर मोड़ पर व्यवहार में प्रयोग करने की बाध्यता हो गयी है, सामाजिक अनुसन्धान के उद्देश्य भी बदल गये हैं। ज्ञान और सूचनाएं यदि प्रयोग में न आ सकें तो व्यर्थ हैं। इसलिए सामाजिक अनुसन्धान का

उद्देश्य ज्ञान को खोजने के साथ उसके सम्भावित उपयोग के लिए दिशा–निर्देश करना भी है। अनेक बार व्यवहार में लाने का भी उद्देश्य बनाना पड़ता है। इसी की ओर ध्यान खींचा है कई विद्वानों ने।

श्रीमती यंग–"सामाजिक शोध का प्राथमिक उद्देश्य – चाहे वह तात्कालिक हो या दूर का – सामाजिक जीवन को समझना और तद्द्वारा उस पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त करना है।"

सामाजिक विज्ञान का विश्व कोश

सामाजिक शोध सामाजिक जीवन का अध्ययन, विश्लेषण व प्रत्यक्षीकरण करने की एक पद्धति है जिससे कि "ज्ञान का विस्तार, शुाद्धिकरण या पुनःपरीक्षा हो सके, चाहे वह ज्ञान एक सिद्धान्त के निर्माण में या एक कला को व्यवहार में लाने के काम में सहायक हो।"

इसीलिए सामाजिक अनुसन्धानकर्ता को भी अपनी भूमिका के बारे में पूरी तरह स्पष्ट रहना चाहिए। श्रीमती यंग अनुसन्धानकर्ता की भूमिका के बारे में लिखती हैं कि – "सामाजिक शोधकर्ता का कोई सम्बन्ध न तो व्यावहारिक (practical) समस्याओं से है और न ही तात्कालिक सामाजिक नियोजन (immediate social planning) अथवा सामाजिक समस्याओं (Social reforms) का हल करने वाले उपायों या सामाजिक सुधार से होता है। वह प्रशासकीय परिवर्तनों (administrative changes) और प्रशासकीय विधियों में होने वाले शुद्धिकरण से सम्बद्ध नहीं होता है। वह अपने को जीवन और कार्य, कुशलता और कल्याण के पूर्वस्थापित मानों (pre-established standards) द्वारा निर्देशित नहीं करता, और सामाजिक घटनाओं को उन्नत करने के उद्देश्य से इन मानों के सन्दर्भ में नापता भी नहीं है।"

हालांकि ऐसे अनुसन्धान की खोज किताबी ज्ञान बनकर रह जाती है। जिसका मूल्य धीरे–धीरे द्वैतीयक स्त्रोतों सा होता जाता है। परिणामतः इन खोजों का समाज के लिए मूल्य नही के बराबर हो जाता है। अपने देश का उदाहरण लीजिए। अकूत शोधों ने अनन्त ज्ञान किताबों और थीसिसों में बाँध रखे हैं। पर सही उपयोग और रिसर्च करने वालों की उचित भूमिका के कारण देश, समाज या अन्य इकाई का अपेक्षित उत्थान या विकास नहीं हो रहा है।

सामाजिक अनुसन्धान के क्षेत्र

'अमेरिकन सोशियालोजिकल सोसाइटी' ने सामाजिक अनुसन्धान की सीमा में आने वाले विषयों की एक साधारण सूची दी है। इसके अनुसार सम्पूर्ण क्षेत्र को दस भागों में बाँटकर समझा जा सकता है। ये हैं –

(1) मानव प्रकृति तथा व्यक्तित्व का अध्ययन।

(2) जनसमूह तथा सांस्कृतिक समूह का अध्ययन।

(3) परिवार की प्रकृति, अन्तर्निहित नियम, संगठन व विघटन का अध्ययन।

(4) सामाजिक संगठन तथा संस्थाओं का अध्ययन।

(5) जनसंख्या तथा प्रादेशिक समूहों का अध्ययन जिनके अन्तर्गत एक क्षेत्र विशेष में निवास करने वाली जनसंख्या तथा उस क्षेत्र में विद्यमान सामुदायिक परिस्थितियों का अध्ययन सम्मिलित है।

(6) ग्रामीण समुदायों का अध्ययन। इसके अन्तर्गत ग्रामीण जनसंख्या, ग्रामीण परिस्थिति, ग्रामीण व्यक्तित्व व व्यवहार – प्रतिमानों उनमें अन्तर्निहित धाराओं तथा नियमों एवं ग्रामीण संगठन और संस्थाओं का अध्ययन सम्मिलित है।

(7) सामूहिक व्यवहारों का अध्ययन। इसके अन्तर्गत समाचार–पत्र, मनोरंजन, त्यौहारों का मनाना, प्रचार, पक्षपात, जनमत, चुनाव, युद्ध, क्रान्ति आदि सामूहिक व्यवहारों का अध्ययन आता है।

(8) समूहों में पाए जाने वाले संघर्ष तथा व्यवस्था का अध्ययन। इसके अन्तर्गत धर्म का समाजशास्त्र, शिक्षा का समाजशास्त्र, न्यायालय तथा अधिनियम, सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक विकास का अध्ययन आता है।

(9) सामाजिक समस्याओं, सामाजिक व्याधिकी **(social pathology)** तथा सामाजिक अनुकूलन का अध्ययन – इसके अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का अध्ययन आता है – निर्धनता तकि पराधीनता, अपराध व बाल–अपराध, स्वास्थ्य, मानसिक व्याधि, स्वास्थ्य रक्षा आदि।

(10) सिद्धान्त तथा पद्धतियों में नवीन सामाजिक नियमों की खोज, पुराने सिद्धान्त तथा विधियों की पुनः परीक्षा, सामाजिक जीवन में अन्तर्निहित सामान्य नियम व प्रक्रियाएं तथा नवीन पद्धतियों व प्रविधियों **(techniques)** की खोज आदि सम्मिलित है। भविष्य में इस क्षेत्र का विस्तार भी सम्भव है।

सामाजिक अनुसन्धान के प्रेरक तत्व(Factors of Motivation)

जिजीविषा और जिज्ञासा दो प्राथमिक और अति बलशाली प्रेरणाएं हैं जिनके कारण आदमी अनुसन्धान करता रहता है। जीवन के इर्द–गिर्द 'क्या, क्यों एवं कैसे' है। संकट के विपरीत सरलता कैसे बनायी रखी जाय – जैसी प्रेरणाओं के कारण मनुष्य अनादि काल से अनुसन्धान में लगा है, 'जिज्ञासा' की भूमिक पर पी.वी. यंग कहती हैं कि जिज्ञासा अनुसन्धान कराने के लिए पहली प्रेरणा है। **(curiosity is a primary trait of human mind and is great vigourating force for discovering invironment)**। जिज्ञासा एवं जिजीविषा के तत्व कई रूप और स्थान में कार्य करते हैं। जैसे –

(1) कार्य–कारण सम्बन्धों में – प्रत्येक परिणाम किसी न किसी कार्य की देन है। इसको जानकर ही भविष्य का जीवन और ज्ञान सन्तुलित किया जा सकता है। इस जानकारी के लिए भी अनुसन्धान को प्रेरणा मिलती है।

(2) प्रतिपल बदलती दुनियाँ की व्यवस्था में नवीन, आकर्षक और अवांछित परिस्थितियाँ पैदा होती रहती हैं। ये परिस्थितियाँ भी अनुसन्धान के लिए प्रेरणा देती हैं।

(3) पुरानी जानकारी और नवीन् ज्ञान में कौन कितना उपयोगी है। कौन अनुपयोगी, की जानकारी के लिए भी अनुसन्धान करते रहने की प्रेरणा मिलती है।

15.2.3 सामाजिक अनुसन्धान की तैयारी – चरण और प्रविधियाँ (Preparation of Social Research : Major Steps and Techniques)

चरण और प्रविधि से हम क्या समझें ? क्या अन्तर है इनमें ? एक उदाहरण से समझ में आयेगा। माना कि कोई अनुसन्धानकर्त्ता किसी वर्फीली समस्याग्रस्त चोटी पर शोध करना चाहता है। त बवह इस शोध की तैयारी करेगा। इस तेयारी के दो हिस्से होंगे – पहले हिस्से में वे सारी सूझ–बूझ पर आधारित क्रियाएं होंगी, जिनकी सहायता से वह चोटी तक सुरक्षित पहुंचेगा। भटकाव और अनायास कठिनाईयों से बचेगा। जिस समस्या विशेष को जानना है उसको पास से देखकर साफ–साफ समझे–समझायेगा। इसके बाद ही वह निर्णय करेगा कि किन प्रविधियों, किन औजारों, किन तकनीकों के प्रयोग की जरूरत है। वह भी किस शैली (style) में करना पड़ेगा। क्रमवार चरणों, विधियों से सम्बन्धित व्यावहारिक सूझ–बूझ ही वास्तव में तकनीक है।

जब यह सब हो चुकेगा तब दूसरे हिस्से के कामों की जरूरत पड़ेगी। दूसरे हिस्से में जो कुछ भी प्रयोग में लगाया जायेगा – विधि या तकनीक – उसे ही प्रविधियों के नाम से जाना जाता है। अर्थात् शोध की तैयारी में क्या–क्या, क्रमवार किया जाता है – वह है **'चरण'** या स्टेप्स। फिर शोध–कार्य पर केन्द्रित होकर जिन तरीकों ओर औजारों के प्रयोग से तयों को जुटाया जाता है उन्हें कहते हैं **'प्रविधि'**।

सूत्र में कहें तो–

सामाजिक तथ्य की खोज	सामाजिक अनुसन्धान	तैयारी अथवा कब–कब क्या तथा कैसे–करें ?	क्या औजार या तरीका, विधि लगाकर खोज करें ?
(उद्देश्य)	**(साधन)**	**(चरण)**	**(प्रविधि)**

पहले हम चरणों का उल्लेख करेंगे। इनका क्रम क्या हो – इस पर कई विद्वानों ने अपने विचार दिए हैं। उनमें कुछ विचार यहाँ दिए जा रहे हैं ।

सामाजिक शोध में चरणों का क्रम

(अ) **अगस्त काम्टे** की दृष्टि में अनुसन्धान आरम्भ करते ही पाँच चरणों पर दृष्टि लगानी चाहिए –

(1) विषय क्या हो – कैसे चुनें ? (2) अवलोकन कैसे करें ? तथ्यों का संकलन कैसे हो ? (3) तथ्यों का सटीक वर्गीकरण कैसे हो ? (4) प्राप्त वर्गीकृत तथ्यों का परीक्षण कैसे हो ? (5) नियम व निष्कर्ष कैसे बनाये खोजे जायें ?

(ब) **श्रीमती पी.बी. यंग** ने वैज्ञानिक पद्धति के अग्रलिखित चरणों का उल्लेख किया है –

(1) कार्यकारी प्राक्कल्पना का निर्माण, (2) तथ्यों का अवलोकन, एकत्रीकरण एवं लेखन, (3) लिखित तथ्यों का श्रेणियों अथवा अनुक्रमों में वर्गीकरण तथा (4) वैज्ञानिक सामान्यीकरण एवं नियमों का प्रतिपादन।

(स) **जॉर्ज ए. लुण्डवर्ग** ने वैज्ञानिक पद्धति के निम्नलिखित चरणों का उल्लेख किया है –

(1) कार्यकारी प्राक्कल्पना, (2) तथ्यों का अवलोकन एवं लेखन, (3) एकत्रित तथ्यों का अवलोकन एवं संगठन तथा (4) सामान्यीकरण नियमों का प्रतिपादन।

सबको मिला–जुला के कहें तो सम्पूर्ण शोध–प्रक्रिया के चरणों का अग्रलिखित रूप बनता है:–

(अ) विषय को चुनने पर ध्यान दें (How to select the problem) (प्रथम चरण)।

(ब) उस विषय से संबंधित पहले की सूचनाओं पर नजर डालें (Have primary information about the problem and its previous studies)।

(स) इकाइयों को निश्चित करें (Determine units of importance in study)।

(द) प्राकल्पना का निर्माण करें (Formulation of Hyposthesis be done)।

(य) अध्ययन क्षेत्र के प्रति स्पष्ट हों (Be clear as out the scope of study)।

(र) सूचनादाताओं को सही–सही चुनें (Select the correct respondent)।

(ल) सर्वोत्तम प्रविधि का चुनाव करें (Determine the best research technique)।

(व) जिन उपकरणों का प्रयोग करना है, उनकी जाँच करें (Make a pre-testing of the tools to be used)।

(श) तथ्यों का तटस्थ अवलोकन एवं संकलन करें (Observe the facts non-subjectively and collect them properly)।

(ष) तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करें (Arrange the facts in scientific manner)।

(ह) तथ्यों का विश्लेषण करें। व्याख्या दें (Analyse and interprete the collected and classified data)।

(क्ष) निष्कर्ष दें (make generalization and formulate the laws)।

विषय कैसे चुनें ? (How to select the problem)

(1) विषय चुनते समय ध्यान रखें कि –

(क) सबसे जरूरी, जवलन्त और प्राथमिक आवश्यकता क्या है ?

(ख) जो विषय चुना जा रहा है – उनसे संबंधित सूचनाएँ मिल सकेंगी कि नहीं ?

(ग) शोध के लिए काम चलाऊ साधन उपलब्ध हैं कि नहीं। अनावश्यक श्रम एवं खर्च तो नहीं होना है ?

(घ) शोध, विषय की दृष्टि से – उपयोगी है कि नहीं। वैज्ञानिकता का अभाव नहीं हो जायेगा?

(2) **शोध एवं चुने विषय से संबंधित प्राथमिक अध्ययनों एवं सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें**– प्रारम्भ में ही इस प्रकार के साहित्य के अध्ययन से शोधकर्ता का कार्य कुछ सरल हो जाता है, उसे अध्ययन की विभिन्न प्रविधियों का ज्ञान हो जाता है, शोध–कार्य में आने वाले कठिनाईयों का पता चल जाता है, महत्वपूर्ण अवधारणाओं की जानकारी मिल जाती है, किये हुए शोध–कार्य को पुनः दोहराने की भूल से छुटकारा मिल जाता है ताकि शोध–कार्य की सही रूपरेखा तैयार करने में मदद मिलती है। सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन कर लेने से श्रीमती यंग के अनुसार निम्नलिखित लाभ मिलते हैं :

(i) शोधकर्ता को अध्ययन विषय के सम्बन्ध में ऐसी अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है जिससे वह उचित प्रश्न कर सही सूचनाएँ एकत्रित कर सकता है।
(ii) शोध–कार्य में उपयोगी पद्धतियों एवं प्रविधियों का ज्ञान हो जाता है।
(iii) अवधारणाओं को समझने एवं उपकल्पनाओं को बनाने में सहायता मिलती है।
(iv) किसी शोध–कार्य को फिर से दाहराये जाने के झंझट से बचा जा सकता है।
(v) जिन पहलुओं पर पिछले अध्ययनों में विचार नहीं हुआ रहता है, उन पर काम करने का अवसर मिल जाता है।

(3) इकाइयों को निश्चित करना –जिन इकाइयों के अध्ययन से वस्तुनिष्ठता बनी रहे, उन्हें ही चुनना चाहिए। साथ ही याद रहे कि सामाजिक तथ्यों को थोड़ा बहुत दर्शन कराने में वे सक्षम हों। अध्ययन में जिन पक्षों पर विचार किया ही नहीं जा रहा हो उसे सम्बन्धित इकाइयों को छोड़ देना चाहिए। स्पष्ट और परिभाषित हों तो और अच्छा। इन इकाइयों का अध्ययन क्षेत्र के भीतर का होना चाहिए – भौगोलिक दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से भी।

(4) प्राक्कल्पना या उपकल्पना का निर्माण कैसे करें ? जॉर्ज कैसवेल (George Caswell) ने बताया है कि प्राक्कल्पना अध्ययन–विषय से सम्बन्धित वह काल्पनिक एवं अस्थायी निष्कर्ष है जिसकी सत्यता का केवल वास्तविक तथ्य ही प्रकट कर सकते हैं। इसी वास्तविकता की खोज के लिए अनुसन्धान किए जाते हैं। चूंकि उपकल्पना के बिना अनुसन्धान को राह भटक जाने का डर रहता है, इसलिए सूझ–बूझ एवं तर्क से इसका निर्माण करना चाहिए। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि प्राक्कल्पना शोधकर्त्ता के कार्य को दिशा प्रदान

करती है। शोध के क्षेत्र को स्पष्ट करती है। इसकी सहायता से शोधकर्त्ता अन्धकार में इधर–उधर भटकने से बच जाता है। डुनहम (Dunham) ने बताया है कि प्राक्कल्पनाशोधकर्त्ता के कार्य को दिशा प्रदान करती है और उसे बताती है कि क्या ग्रहण करना है और क्या छोड़ देना है ? इससे शोध का कार्य–क्षेत्र निर्धारित होता है, आगे का मार्ग व दिशा स्पष्ट होते हैं। तथ्यों के आधार पर प्राक्कल्पना सच भी प्रमाणित हो सकती है और असत्य भी परन्तु इतना निश्चित है कि इन दोनों ही स्थितियों में ज्ञान वृद्धि होती है। प्राक्कल्पना शोधकर्त्ता के कार्य को सरल बना देती है, दिशाहीन अध्ययन पर अंकुश लगाती है, ऐसे तथ्यों को एकत्रित करने पर रोक लगाती है जो शोध–कार्य की दृष्टि से आवश्यक नहीं है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ शोधों में उपकल्पना नहीं भी हो सकती है। अन्वेषणात्मक शोध अंधेरे में तीर चलाने जैसी होती है। जो सीधे–सीधे निर्णय की ओर पहुंचती है।

(5) **अध्ययन क्षेत्र कैसा हो – कैसे तय करें ?** –अध्ययन–क्षेत्र या शोध–क्षेत्र का निर्माण मूलतः शोध–विषय की प्रकृति पर निर्भर करता है। शोधकर्त्ता को अपने अध्ययन–क्षेत्र का स्पष्टतः निर्धारण कर लेना चाहिए ताकि तथ्यों का वस्तुनिष्ठ ढंग से संकलन किया जा सके। शोध–क्षेत्र के निर्धारिण का तात्पर्य यही है कि शोध–कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व शोधकर्त्ता को अपने अध्ययन–क्षेत्र की सीमाओं – भौगोलिक, जनसंख्यात्मक तथा अन्य आधारों का ठीक–ठाक ज्ञान होना चाहिए। ऐसा होने से क्षेत्रीय–कार्य (field work) में लगे हुए अन्वेषकों का ध्यान भटकेगा नहीं। अध्ययन क्षेत्र न तो अधिक छोटा और न ही अधिक बड़ा होना चाहिए।

(6) सूचना देने वालों को कैसे चुनें ? एक ही अध्ययन केन्द्र में कई परिस्थितियाँ, कई प्रकार के सामाजिक, मानसिक, आर्थिक सम्बन्ध हो सकते हैं। परिणामतः एक ही प्रश्न के प्रति उत्तरदाताओं में कई दृष्टिकोण, पक्षपात या विरोध हो सकते हैं। शोध करते समय अनुसन्धानकर्त्ता को चाहिए कि इन घटकों को ध्यान में रखकर उत्तरदाताओं का इस तरह से चुनाव करे कि क्षेत्र का पूरा प्रतिनिधित्व हो सके। सैम्पलिंग विधि से किसी उचित रूप का प्रयोग कर उत्तरदाताओं का चुनाव करें। विवेक का प्रयोग करना भी अति आवश्यक होता है। उत्तरदाताओं की स्थिति का आंकलन भी करना चाहिए कि वे उत्तर देने में कितना सक्षम हैं। किसी एक प्रकार के उत्तरदाता के प्रति पक्षपात या निषेध न हो। समग्र के बीस प्रतिशत उत्तरदाताओं का चुना जा सकता है।

(7) सर्वोत्तम विधि का चुनाव –अनुसन्धान की प्रकृति को देखते हुए प्रविधि का प्रयोग करना पड़ता है। जो प्रविधि किसी एक अनुसन्धान के लिए आदर्श होगी, यह सम्भव है दूसरे के लिए उतनी उपयोगी न हो। कई बार एक प्रविधि के प्रयोग से काम पूरा नहीं होता तो कई प्रविधियों का विवेकानुसार प्रयोग करना पड़ता है। किसी–किसी अनुसन्धान में प्राथमि स्त्रोत और प्राथमिक सूचनाएँ ही जरूरी होती हैं परन्तु कई शोधों में द्वैतीयक स्त्रोत द्वैतीयक सामग्री प्राप्त करनी पड़ती है। दोनों की विधियाँ भिन्न हैं। पहले में अनुसन्धानकर्त्ता को आमने–सामने रहकर तथ्य संकलन करना पड़ता है। दूसरे में लिखित या छपी–प्रकाशित सामग्री को पढ़कर सूचना जुटानी पड़ती है। कुछ प्रविधियाँ मानसिक रूप से बनी हैं, पर कुछ का तो विषय–वस्तु के अनुसार स्वयं ही निर्माण भी करना पड़ता है। साक्षात्कार, अनुसूची से सम्बन्धित सामग्री इनके उदाहरण हैं।

(8) प्रविधियों की पूर्व जाँच भी आवश्यक है –अनुसन्धानकर्ता को चाहिए कि प्रयोग में लायी जाने के लिए निश्चित की गयी विधियाँ, पद्धतियों की जाँच अवश्य कर लें। मूल शोध शुरू होने के पहले। ताकि उनके दृष्टि से **एकाफ** का कहना है शोध शुरू करने के पहले का परीक्षण शोध के विभिन्न पक्षों, उपकरणों या

वैकल्पिक शोध–योजनाओं का एक नियन्त्रित अध्ययन है जिसका उद्देश्य यह निर्धारित करना है कि कौन–सा विकल्प सर्वाधिक उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त ऐसे परीक्षणें से पता लग जाता है कि –

(i) निदर्शन या सैम्पलिंग उचित है कि नहीं।
(ii) अन्वेषणकर्त्ता में कार्य–क्षमता, योग्यता है कि नहीं।
(iii) Pilot study या Small scale relica – अग्रगामी शोध की जरूरत है कि नहीं।

(9) तथ्यों का अवलोकन व संकलन – क्या करें ? तथ्य–संकलन में इस बात की पूरी सावधानी बरतनी होती है कि तथ्य पूर्णतः पक्षपात रहित होकर एकत्रित किये जाएँ। तथ्य–संकलन के कार्य में लगे शोधकर्त्ताओं एवं अन्वेषकों के लिए यह आवश्यक है कि वे सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त हों। तथ्यों को उनके वास्तविक रूप में एकत्रित किया जाना चाहिए। इस कार्य में पूर्ण शुद्धता बनाये रखाना आवश्यक है वरना निष्कर्ष दोषपूर्ण हो सकते हैं। इस स्तर पर सूचनादाताओं द्वारा दी गयी सूचनाओं के अलावा अवलोकन विधि का सहारा भी अवश्य ही लिया जाना चाहिए। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि तथ्य जितने अनिवार्य अंग हैं – शोध के, उनका वैज्ञानिक संकलन उतना ही आवश्यक है। गलत प्रस्तुति का सीधा–सीधा अर्थ है – त्रुटिपूर्ण परिणाम।

(10) तथ्यों का प्रस्तुत किया जाना – विवेक का कार्य –तथ्यों को लिखित रूप में प्रस्तुत करते समय सावधानी रखनी चाहिए कि –

(i) तथ्यों में क्रमबद्धता हो ताकि वे सचमुच सजीव लगें।
(ii) त्रुटियाँ दूर हैं कि नहीं। असंगतता का दोष न हो उनमें।
(iii) अनावश्यक तथ्य या सूचना हटा दी जानी चाहिए।
(iv) संक्षिप्तता, सटीकता के साथ, संकेत, प्रतीक, संख्या का उपयोग अधिक विश्वसनीय माना जाता है।
(v) कार्य–कारण के अनुरुप तथ्यों को सजाना चाहिए।
(vi) तथ्यों को – समता, विषमता, पूरकता के आधार पर वर्गीकृत करके स्पष्ट रूप से दिखाया जाना चाहिए।
(vii) तुलना, समता, नवीनता को दिखाने का प्रयत्न होना चाहिए। तभी सह–सम्बन्धों पर सही–सही प्रकाश पड़ता है।

(11) तथ्यों का विश्लेषण एवं विवेचन – उपकल्पना को सामने रखकर यह कार्य किया जाना अधिक वैज्ञानिक होता है। तथ्यों का विश्लेषण इस तरह होना चाहिए कि कार्य–कारण सम्बन्ध पर प्रकाश पड़े। उन दशाओं, विशेष घटकों का पता लगे जिनके कारण कोई सामाजिक घटना होता है। संक्षेप में 'क्यों', 'कब', 'कैसे' की जिज्ञासा को उत्तर मिल जाये। मार्ग निर्देशक उत्तर मिल जाय।

(12) नियमों की खोज और निष्कर्ष की घोषणा –शोध का यह अन्तिम परन्तु बहुत महत्वपूर्ण चरण है। तथ्यों से जो कुछ मिला, विश्लेषण से जो कुछ समझा, उससे क्या सामान्यीकृत निष्कर्ष निकला। यह सब जानकर नियम बनाये जाते हैं। शर्तों और दशाओं का उल्लेख किया जाता है। और, एक तरह से घोषणा की जाती है कि अनुसन्धान से जिन कार्य–कारणों का सम्बन्ध ज्ञात हुआ उससे नियम बनता है कि "किस कारण, किस परिस्थिति के रहते कैसा परिणाम हो सकता है"। शुद्ध शोध के लिए यह सब करना पड़ेगा क्योंकि कोई लघु मार्ग नहीं है इसके अलावा।

(13) प्रतिवेदन लेखन का तरीका –शोधकर्त्ता के अन्तिम चरण के रूप में प्रतिवेदन (report) प्रस्तुत करता है। इस प्रतिवेदन के प्रथम भाग में शोध हेतु अपनायी गयी अध्ययन पद्धतियों का उल्लेख किया और अवधारणाओं को स्पष्टतः समझाया जाता है। दूसरे भाग में अध्ययन–विषय से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों को प्रस्तुत किया जाता और तथ्यों के बीच पाये जाने वाले कारणात्मक सम्बन्ध का उल्लेख किया जाता है। तीसरे भाग में सामान्य निष्कर्ष निकाले और नियमों का प्रतिपादन किया जाता है।

(14) विशेष ध्यान देने योग्य बात –समय तथा खर्च के बारे में पूर्वानुमान अवश्य रखें।

सामाजिक शोध में धन तथा समय दोनों बहुत अधिक लगते हैं। अतः शोधकर्त्ता के लिए यह बहुत जरूरी है कि वह इन दोनों के सम्बन्ध में पहले से ही अनुमान लगा लें। ऐसा न करने पर यह हो सकता है कि इनमें से किसी के अभाव से शोध–कार्य बीच में ही रूक जाए अथवा सदा के लिए अधूरा ही रह जाए। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि पहले से ही समय तथा धन का उचित वितरण न कर लेने से कुछ कम महत्वपूर्ण पदों (items) या विषयों पर अधिक समय तथा धन का अपव्यय कर दिया जाता है, जबकि आगे चलकर अधिक महत्वपूर्ण मदों या विषयों पर खर्च करने के लिए बहुत कम धन तथा समय शेष रहता है। ऐसा होने पर शोध–कार्य में सन्तुलित प्रगति नहीं हो पाती है। अतः शोध–कार्य के बजट तथा समय–सारणी (time schedule) का निर्माण आवश्यक है।

सारांश

(अ) 'चरण' और 'प्रविधि' भिन्न हैं पर एक दूसरे के पूरक हैं।

(ब) 'चरण' अनुसन्धान की सूझबूझ भरी क्रमवार तैयारी का नाम है। 'प्रविधि' उसकी समझदारी एवं विधियों के सामयिक उपयोग, सटीक उपयोग तथा वैज्ञानिक बनाए रखने की होशियारी है।

(स) 'प्रविधि' सर्वोत्तम का चुनाव करने, प्रयोग करने का व्यावहारिक ज्ञान है।

(द) अनुसन्धान का प्रथम चरण 'विषय का निर्धारण' है और अन्तिम 'प्रतिवेदन –प्रस्तुतीकरण।

(य) 'चरणों', 'प्रविधियों' में जितनी श्रेष्ठ क्रमागतता रहेगी, शोध विधियों का प्रयोग एवं तथ्यों का स्वरूप उतना ही निखरेगा।

सामाजिक अनुसन्धान के कुछ प्रमुख चरण

(1) शोध के लिए विषय का चुनाव।

(2) शोध समस्या की पहचान।

(3) उपकल्पना का निर्माण।

(4) अवधारणाओं की व्याख्या।

(5) तथ्यान्वेषण।

(6) तथ्यों में कार्य–कारण सम्बन्ध ढूँढ़ना। निर्णय देना।

अनुसन्धान कैसे करें – प्रारूप पर विचार
(HOW TO BEGIN A SOCIAL RESEARCH - FORMULATION OF RESEARCH DESIGN)

एक पुरानी सामाजिक कहावत है – **"जैसा देश, वैसा भेष"।** अर्थात् जिस तरह कार्य करना हो, उस कार्य के अनुरूप ही प्रारूप बनाना पड़ता है – सोच और तरीके का। अनुसन्धान प्रारूप का प्रश्न भी इसी कहावत की तरह उत्तर माँगता है। घटना, व्यवस्था, तथ्य, उपयोगिता, नवीनता जैसे कई सामाजिक आधार हैं जो सामाजिक शोधों के रूपों को एक--दूसरे से अलग कर देते हैं। इसी अलगााव को देखकर माना जाता है कि सामाजिक शोधों को एक ही ढंग से पूरा नहीं किया जा सकता, वरन् शोध की प्रकृति के साथ उसके अनुसन्धान का प्रारूप भी बदलता रहेगा।

किस शोध के लिए कैसा प्रारूप होगा ? – यह इस बात पर निर्भर करता है कि अनुसन्धानकर्त्ता की दक्षता कैसी है ? तथ्यों की माँग क्या है ? शोध का उद्देश्य क्या है और अधिकतम सूचनाओं के मिलने का ढंग क्या है ? साथ ही सरलता की सम्भावना किसमें है ? कुछ शोध जिज्ञासा शान्त करने के लिए किए जाते हैं। कुछ शुद्ध ज्ञान के लिए। कुछ उपकल्पनाओं के निर्माण के लिए। कुछ सत्यापन के लिए। कुछ वर्णन करने के लिए और कुछ सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए। उपयोगिता पर आधारित। जैसा उद्देश्य होगा, उसी के अनुरूप शोध प्रारूप बनाना पड़ेगा।

क्या है शोध प्रारूप ? (What is Research Design)

एम. जहोदा और अन्यों ने अपनी पुस्तक –**Research Methods in Social Relations**में पृष्ठ 50 पर लिखा है कि –"A research design is the arrangement of conditions for collection and analysis of data in a manner that aims to combine relevance to the research purpose with economy in procedure. It follows that research designs will differ depending on the research purpose."

अर्थात् "शोध प्रारूप उन दशाओं और दिशाओं का ऐसा प्रबन्ध है जो शोध के उद्देश्यों के अनुरूप तथ्यों की शुद्धतम प्राप्ति और उनके विश्लेषण को सुविधाजनक बनाता है। इस सम्पूर्ण कार्य में ऐसे ढंग को स्वीकार करता है जिससे कार्य में श्रम, समय, धन का खर्च कम से कम पर अध्ययन अंधिक से अधिक हो सकता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि, इसीलिए बदले उद्देश्य वाले अनुसन्धान में शोध प्रारूप भी बदल जाते हैं।"

शोध के कई प्रारूप

शोध प्रारूप के कई नाम और अलग–अलग पहचानें हैं। इसके बावजूद भी यह कहना कठिन है कि शोध प्रारूपों में इतनी भिन्नता है कि उनके बीच स्थायी अन्तर की रेखा खींची ही जा सकती है। हर प्रारूप का कोई न कोई अंग और अंश दूसरे प्रारूपों में घुसा रहता है। इसलिए हर प्रारूप दूसरे प्रारूप से जुड़ी भी मानी जा सकती है। तथापि हम कई प्रकार के शोध प्रारूपों की चर्चा करेंगे। इनके बीच बहुत से ऐसे तत्व हैं जो कि एक शोध प्रारूप को दूसरे से अलग घोषित करते हैं ।

शोध प्रारूप

खोजपरक | वर्णनात्मक | परीक्षणात्मक | विशुद्ध | व्यवहारिक | क्रियात्मक | मूल्यांकन

अन्वेषणात्मक शोध प्रारूप (EXPLORATORY RESEARCH DESIGN)

जैसा नाम है, यह प्रारूप खोजवादी है। उपकल्पना के तथ्यों की खोज, जिसका शोध करना है, उसके बारे में गहन सूचना, अवधारणाओं की स्पष्टता की खोज, अगली शोधों के लिए पृष्ठभूमि की तलाश, व्यावहारिक सत्यों के बीच सैद्धान्तिक वास्तविकताओं की तलाश करने में यह प्रारूप काफी मूल्यवान है। थोड़े में कहा जाय तो, यह प्रारूप ढेर सारी सम्भावनाओं के बीच से चुनी हुई उत्तरदायी सम्भावनाओं को खोज निकालने में दक्ष है। जैसे भारत में गरीबी के अनेक कारण बताये जाते हैं पर कुछ निश्चित कारणों का पता लगाना हो तो अन्वेषणात्मक प्रारूप सबसे अच्छा है। अनुसन्धान के लिए।

15.2.4 अन्वेषणात्मक शोध प्रारूप के लिए अनिवार्य कदम

इस प्रारूप को काम में लाने के समय हमें कुछ चीजों, कार्यों और शैलियों पर ध्यान देना पड़ेगा। वे हैं –

(1) **सम्बद्ध साहित्य का अध्ययन (Review of Pertinent Literature)** –विषय से सम्बन्धित प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य का अध्ययन प्रथम अनिवार्यता है। इसके अभाव में हम विषय को सही रूप में नहीं समझ सकेंगे और न ही ठीक से प्राक्कल्पना का निर्माण कर पायेंगे। अतः आवश्यक है कि सर्वप्रथम विषय से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य का गहनता के साथ अध्ययन किया जाय। इससे श्रम, समय तथा आर्थिक बचत होगी।

(2) **अनुभवनी सूचनादाताओं के अनुभवनों का लाभ लेना (Experience Survey)** – कई बार साहित्य और लिखित सूचनाओं के ध्ययन से भी महत्वपूर्ण सूचनाएँ एवं दिशाएँ मिलती हैं – अनुभवी व्यक्तियों साथ बातचीत करने पर। शोधकर्त्ता को चाहिए कि वह विषय से सम्बन्धित अनुभवीजनों का पता लगाएँ, उनसे सम्पर्क स्थापित करें और उनके अनुभवों से लाभ उठायें। कभी–कभी शिक्षा के अभाव, साधनों की सीमितता एवं कुछ अन्य कारणों से कुछ अनुभव–प्राप्त व्यक्ति अपने अनुभवों को लिखित में मूर्त्त रूप नहीं दे पाते। ऐसे व्यक्तियों को खोज निकालना और उनके अनुभवों से विषय के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना शोधकर्त्ता के लिए नितान्त आवश्यक है। यह जानकारी उसके लिए पथ–प्रदर्शक के रूप में कार्य करेगी।

(3) **सही सूचनादाताओं का चुनाव करना चाहिए (Selection of Proper Respondents)** –सामाजिक तथ्य भौतिक तथ्यों की तरह यहाँ वहाँ नहीं मिलते। ये सूक्ष्म भी हैं और मानव मन–मस्तिष्क तथा व्यवहार में समाए हुये होते हैं। इन्हें निकाल पाने के लिए उन उत्तरदाताओं से मिलना पड़ता है जो वास्तविक सूचनाएँ रखते हैं । शोध सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि ऐसे सूचनादाताओं का चयन किया जाय जिससे विषय के सम्बन्ध में ऐसी महत्वपूर्ण जानकारी मिल सके जो अध्ययन हेतु वास्तविक अन्तर्दृष्टि प्रदान कर सके। सूचनादाताओं का चुनाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही विधियों द्वारा किया जाना

चाहिए। प्रत्यक्ष विधि का अर्थ है – उन व्यक्तियों का साक्षत्कारदाता के रूप में चुनाव जो अध्ययन विषय से पद या परिस्थिति से जुड़े हों। अप्रत्यक्ष विधि के चुनाव में वे साक्षात्कारदाता आते हैं जो उस अध्ययन विषय से सीधे–सीधे जुड़े तो नहीं होते पर उनको उनके बारे में खूब सूचनाएँ होती हैं।

(4) **उचित और सम्बन्धित प्रश्नों को सामने रखना (Proper Questioning)** –ऐसे प्रारूप में काम करते समय ध्यान में रखें कि असम्बद्ध प्रश्न सही उत्तर नहीं दिला पाते इसलिए विषय तथा उद्देश्य को ध्यान में रखकर सम्बद्ध और उचित प्रश्न ही बनाये पूछे जाने चाहिए। पूरक, असम्बद्ध, अस्पष्ट और अनुचित प्रश्नों से बचना चाहिए नही तो उत्तरदाता नाराज हो सकता है। उत्तर नहीं दे सकता है। उत्तर दे भी तो अनुसन्धानकर्त्ता की खोज त्रुटिपूर्ण हो सकती है। समय, श्रम और धन का ज्यादा खर्च भी हो सकता है।

अन्वेषणात्मक प्रारूप वाले शोध की दृष्टि कहाँ–कहाँ होनी चाहिए ?

(Points of Attention in an Exploratory Designed Research Work)

(1) उपकल्पनाओं का प्रस्तुत अध्ययन में क्या सन्दर्भ या सम्बन्ध है।

(2) विषय से सम्बन्धित और अध्ययन क्षेत्र में महत्वपूर्ण सूचनाएँ क्या हैं जो अध्ययन व निष्कर्ष, दोनों को प्रभावित कर सकती हैं।

(3) अध्ययन के निष्कर्ष किन नये नियमों की ओर संकेत कर रहे हैं।

(4) शोधकर्त्ता की अन्तर्दृष्टि और बाहर से दीखने वाले तथ्यों में नयी व्याख्या के बिन्दु क्या हैं ?

(5) कौन–कौन विधियों का प्रयोग हो सकता है ? – अध्ययन के दौरान।

(6) अज्ञात सीमाओं का खोज करना।

(7) नये शोध के लिए नयी सम्भावनाओं पर ध्यान देना।

वर्णनात्मक शोध–प्रारूप(DESCRIPTIVE RESEARCH DESIGN)

इस प्रारूप का केन्द्रीय उद्देश्य विवरण प्रस्तुत करना है – सम्पूर्ण विवरण। कार्य या परिणाम का। कारणों का। परिस्थितियों का । परिवर्तन और नियन्त्रणों का। अर्थात्, जिस क्षेत्र और विषय का अनुसन्धान किया जाना है उसके सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य है। **जहोदा** ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "समुदाय के लोगों के बारे में – सब कुछ : उम्र, स्वास्थ्य, व्यवहार, निवास, आर्थिक स्थिति, शिक्षा, संस्कृति – को जानना हो तो यह प्रारूप काम आता है। "

जनमत, जनभावना, जनव्यवहार का अध्ययन भी इस प्रारूप के द्वारा किया जा सकता है। समूहों के व्यवहार से सम्बन्धित उपकल्पनाओं का परीक्षण भी इससे सुभीते में होता है।

इस प्रारूप से किए जाने वाले अनुसन्धान में तथ्यों को जुटाने के लिए किसी भी विधि का प्रयोग किया जा सकता है। लुण्डवर्ग, कोमारोवस्की और मकइनरी जेसे अनुसन्धानकों ने अपने अध्ययन में **साक्षात्कार, प्रश्नावली, सहभागी निरीक्षण, लिखित रिकार्ड** –सभी का प्रयोग किया था।

(अ) वर्णनात्मक प्रारूप के शोध की प्रमुख विशेषताएँ –

(1) इस प्रकार के शोध में विषय या समस्या के विभिन्न पक्षों पर सविस्तार प्रकाश डाला जाता है।

(2) जिस विषय से सम्बन्धित कोई अध्ययन पूर्व में नहीं किया गया हो तो उसके अध्ययन के लिए वर्णनात्मक शोध को ज्यादा उपयुक्त समझा जाता है।

(3) इस प्रकार के अध्ययन में सामान्यतः किसी प्राक्कल्पना का निर्माण नहीं किया जाता।

(4) वर्णनात्मक शोध के विभिन्न चरण वैज्ञानिक विधि के चरणों के समान ही होते हैं। इसमें विषय का सावधानीपूर्वक चुनाव, उचित प्रविधियों का प्रयोग, निर्देशन–प्रणाली द्वारा उत्तरदाताओं का चयन, वास्तविक तथ्यों का संकलन तथा पक्षपात–रहित होकर परिणामों का विश्लेषण करना आदि बातें आती हैं।

(5) वर्णनात्मक अनुसन्धान में शोधकर्त्ता की भूमिका एक समाज–सुधारक या भविष्यवक्ता के रूप में नहीं होकर एक वैज्ञानिक के रूप में निष्पक्ष अवलोकनकर्त्ता के रूप में होती है।

(6) अनुसन्धानकर्त्ता विवेक के आधार पर किसी भी अनुसन्धान विधि का प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र होता है।

(ब) वर्णनात्मक शोध में ध्यान देने योग्य बिन्दु –

(1) शोध विषय या समस्या के चुनाव में तथ्यों की उपलब्धता पर ध्यान देना चाहिए। जिन विषयों से सम्बन्धित सूचनाएँ न मिल सकें, उन्हें नहीं चुनना चाहिए।

(2) शोध वैज्ञानिक बना रहे, इसके लिए विधियों का चुनाव विवेकपूर्वक करना चाहिए।

(3) वस्तुनिष्ठता बनाये रखें, भले रोचकता घट जाय।

(4) पक्षपात, पूर्व धारणा से बचें।

(5) इस प्रारूप के शोध विस्तृत होते हैं इसलिए समय, श्रम और धन तीनों पर दृष्टि रखनी चाहिए। अनावश्यक रूप से इनका दुरूपयोग न हो सके।

(स) शोध की तैयारी में किन–किन चरणों से गुजरना होगा ?

(1) **शोध के विषय का चरण** –यह प्रथम चरण है। इसमें तय किया जाता है किस विशेष बात पर अनुसन्धान किया जाना है। जो उद्देश्य है, वह सुपरिभाषित और स्पष्ट होना चाहिए। मौलिक और सार्थक उद्देश्य अच्छे शोध के लिए आवश्यक हैं।

(2) **तथ्य संकलन की प्रविधियों का चुनाव** —तथ्यों की प्रकृति के अनुसार कई प्रविधियाँ हैं जो तथ्य संकलन में सहायक होती हैं। परन्तु श्रेष्ठतम अनुसन्धान वह है जिसमें विशिष्टतम पद्धति का उपयोग कर न्यूनतम श्रम और कम से कम समय में निर्णय तक पहुंचा जाता है। इस दूसरे चरण में विशिष्ट पद्धति/पद्धतियों का चुनाव किया जाता है।

(3) **सैम्पुल (निदर्शन) का चुनाव** —यह चरण उपयोगी है पर सदा आवश्यक नहीं है। इसका उपयोग तभी आवश्यक है जब अनुसन्धानकर्त्ता को किसी विशाल क्षेत्र में, बड़ी जनसंख्या या सूचनाओं के जंगल में कार्य करना पड़ता है। कोई भी शोधकर्त्ता सबसे मिल नहीं सकता। समय, धन एवं साधनों की कमी के कारण ऐसे में कुछ प्रतिनिधि लोगों को चुन लिया जाता है। जैसे पकते हुए चावल के भरे बर्तन से दस बीस चावल निकालकर जानकारी हासिल की जाती है। निदर्शन के चुनाव की कई विधियाँ हैं जिन पर उपयुक्त स्थल पर प्रकाश डाला जायेगा। सैम्पुल इकाइयों का यदि उचित चुनाव हो जाता है तो उनकी सूचनाओं पर आधारित निष्कर्ष बड़ी सीमा तक समग्र जन पर सही उतरता है।

(4) **प्राप्त आँकड़ों का संकलन एवं उनकी सत्यता की जाँच** —इस चौथे चरण में आँकडों को संकलित किया जाता है इसके लिए आवश्यक हुआ तो अवलोकन, साक्षात्कार, अनुसूची, प्रश्नावली, संख्या विधि का उपयोग किया जाता है। फिर प्राप्त तथ्यों की जाँच भी की जाती है, ताकि अनावश्यक सूचनाँ हटायी जा सकें।

(5) **तथ्यों का विश्लेषण**— चौथे चरण में जिन तथ्यों को संकलित किया गया है, उनका समानता एवं भिन्नता के आधार पर अलग–अलग समूहों में वर्गीकरण किया जाता है, उनका सारणीयन किया जाता है। साथ ही तथ्यों की सांख्यिकीय विवेचना की जाती है। इस कार्य हेतु वस्तुनिष्ठ एवं प्रशिक्षित अध्ययनकर्ता का होना परम आवश्यक है।

(6) **रिपोर्ट लेखन** —यह समापन चरण कहा जा सकता है। यहाँ समस्त तथ्य, समस्त कारण, समस्त दशाओं का विवरण दिया जाता है। कार्य–कारण सम्बन्धें की व्याख्या की जाती है। फिर निष्कर्ष, सम्भावनाएँ एवं सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं।

इन चरणों का पालन करने से ही वर्णनात्मक शोध–प्रारूप अपने उद्देश्यों में सफल होता है।

परीक्षण आधारित शोध प्रारूप (EXPERIMENTAL RESEARCH DESIGN)

भौतिक विज्ञानों में प्रयोगशालीय अध्ययनों की तर्ज पर यह शोध प्रारूप नियन्त्रित दशाओं के बीच शोध करने का मार्ग प्रशस्त करता है। **चेपिन** ने साफ लिखा है कि ''परीक्षण आधारित शोध प्रारूप व्यवस्थित समाजिक अध्ययन के लिए नियन्त्रित दशायें प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है।''

"The concept of experimental design in social research referes to systematic study of human relations by making observation under condition of control."

नियन्त्रित दशा का अथवा कई चरों (variables) की स्थिति में से जिस चर को चाहे नियन्त्रित करके अध्ययन किया जाय। उदाहरण के लिए यदि हम विख्यात कथन कि ''अपराधी जन्मजात नहीं होते वरन् बनाये

जाते हैं।" का अध्ययन करना चाहें तो इस प्रारूप से बहुत सहायता मिल सकती है। 'बनाये जाने' का अर्थ है "सम्पर्क से अपराध सीखना"। हम दो समूह के बच्चों को लेकर यह प्रयोग कर सकते हैं। एक समूह का 'चर' होगा – अपराधियों का सम्पर्क ओर दूसरे में यही 'चर' नियन्त्रित रहेगा। अर्थात् अपराधियों की संगति से अलग रहेगा – दूसरा समूह। फिर हम दोनों समूह के बच्चों की 'सीख' की तुलना कर निर्णय पर पहुंच सकते हैं। उपकल्पना या निष्कर्ष का पुनः परीक्षण कर सकते हैं।

परीक्षण आधारित शोध प्रारूप के तीन प्रकार –

(1) **चरों की तुलना के लिए एकाधिक समूह में बाँटकर** –इसे **पश्चात् परीक्षण (After Experiment)** कहते हैं। अभी–अभी ऊपर दिया गया उदाहरण इसमें दिया जा सकता है। इसमें प्रायः समान विशेषताओं और प्रकृति वाले कई समूहों को चुन लिया जाता है जिनमें से कुछ समूह नियन्त्रित समूह और दूसरे परीक्षणात्मक समूह कहलाते हैं। नियन्त्रित समूह में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाया जाता है, जबकि परीक्षणात्मक समूह में किसी एक कारक के द्वारा परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार यदि प्रथम समूह दूसरे समूह से भिन्न हो जाते हैं तो उसी कारक को उस परिवर्तन का कारण मान लिया जाता है। ऊपर वाले उदाहरण को ध्यान से देखिए। यदि सम्पर्क के प्रभाव से बच्चों का वह समूह अपराध सीखने–करने लगे तो हमें दूसरे समूह को देखना चाहिए। पता लगाना चाहिए कि बच्चों के जिस समूह को अपराधियों के साथ से अलग रखा गया था – क्या वे भी अपराधी होते जा रहे हैं ? यदि नही तो हम निष्कर्ष निकालेंगे कि 'बच्चे' सम्पर्क के कारण अपराध सीखते हैं। 'अपराधियों का सम्पर्क' ही चर था – इस प्रयोग में।

(2) **पूर्व–पश्चात परीक्षण (Before after Experiment)** – इस प्रकार के अध्ययन में अलग–अलग समूहों पर अलग प्रयोग नहीं किये जाते बल्कि एक ही समूह को अलग–अलग समय में, अलग–अलग चरों की स्थितियों में डालकर – अध्ययन किया जाता है। देखा जाता है कि एक समय में एक प्रकार के चरों का क्या प्रभाव रहा उस समूसह पर ? दूसरे समय में जब वे चर हटा दिये गये तो क्या प्रभाव हुआ? तीसरे समय में नये चर से जुड़ गया वह समूह तो क्या हुआ ? फिर इन निरीक्षणों से प्राप्त तथ्यों को संकलित कर लिया जाता है। प्रभावों की तुलना की जाती है और समूह के व्यवहारों में होने वाले परिवर्तनों को विविध चरों से जोड़कर निष्कर्ष निकाला जता है कि किस प्रकार के व्यवहार के लिए कौन से चर उत्तरदायी हैं। सामुदायिक परिवर्तन और विकास अध्ययन इस विधि से किया जा सकता है। **उदाहरण के लिए** एक गाँव लीजिए जहाँ परम्पराओं में विश्वास रखने वाले लोग रहते हैं। इसमें चर है 'परम्परावादी होना'। देखिए – यहाँ विकास, परिवर्तन आदि की क्या स्थिति है? शिक्षा, खुलापन की क्या हालत है? फिर इसी गाँव को कुछ समय बाद आधुनिकता के उपकरणों से जोड़ दीजिए। रेडियो, टेलीविजन के साथ सामुदायिक विकास के कार्यक्रम एवं कर्मचारियों की संगति में डाल दीजिए गाँव को। अबकी बार 'चर' हो गयी – आधुनिकता'। देखिए क्या प्रभाव पड़ा है? यदि परिवर्तन हुआ है, सार्थकता और समृद्धि बढ़ी है – तो मान लीजिए कि आधुनिकता समृद्धि का द्वारा खोलती है। ऐसे अध्ययन विभिन्न चीजों को 'चर' बनाकर किए जा सकते हैं।

(3) **कार्यान्तर तथ्य परीक्षण (Ex-post-facts Experiment)** –यह अध्ययन ऐतिहासिक बातों के सन्दर्भ में अधिक उपयुक्त है। किसी समुदाय को किन ऐतिहासिक कारणों ने कौन सा रूप दे दिया – या किस ऐतिहासिक या अतीत काल की कौन–सी कमी या बेशी ने किसी समुदाय को वांछित दिशा में बढ़ने नहीं दिया – यदि इसकी जानकारी पर अनुसन्धान करना हो तो इस प्रारूप को उपयोग में लाते हैं। इसमें कई समूह या

समुदाय अध्ययन के लिए चुने जाते हैं। दो भी हो सकते हैं। इस दृष्टि के साथ कि एक समुदाय वह चुना जाय जिसमें ऐतिहासिक प्रभावों के 'चर' कार्य कर चुके हों। दूसरा ऐसा समुदाय जिस पर अतीत की वैसी घटनाओं का प्रभाव न पड़ा हो। जिस पर प्रभाव पड़ चुका हो – वहाँ की जीवन पद्धति, विश्वास स्वरूप आदि दूसरे होंगे। जबकि अतीत की घटनाओं से अप्रभावित समुदाय के जीवन स्वरूप और विचार आदि भन्न होंगे। **उदाहरण देखिये** – सामाजिक एकरसता पर अनुसन्धान करना हो तो दो गाँव चुनिए। एक वह गाँव जहाँ हिन्दू–मुसलमान दोनों वर्गों के लोग अतीत काल से हीं साथ रहते हों। दूसरा वह गाँव जहाँ हिन्दुओं की विविध जातियों के लोग रहते हों। अनुसन्धानकर्त्ता देखेगा कि अतीत काल से ही गाँव में हिन्दू–मुसलमान साथ–साथ रहते हैं – वहाँ छुआ–छूत, भाई–चारे, सहयोग की दूसरी स्थिति है। जबकि जिस गाँव में अकेले हिन्दू लोग रहते हैं – उस गाँव में छुआ–छूत, भाई–चारे, सहयोग की दूसरी स्थिति है। जबकि जिस गाँव में अकेले हिन्दू लोग रहते हैं – उस गाँव में छूआ–छूत, मिलन–जुलन की स्थिति भिन्न होगी। यह भिन्नता क्यों है ? – ऐतिहासिंक कारण से । इस भिन्नता को समाप्त करना है तो क्या किया जाना चाहिए ? **–ऐतिहासिक 'चरों'** की सहायता ली जानी चाहिए।

ज्ञान के लिए शोध–प्रारूप (PURE RESEARCH)

इसे **विशुद्ध** शोध भी कहते हैं। शोध का यह प्रारूप पूरी तरह शुद्ध ज्ञान के संचयन के लिए समर्पित है। व्यावहारिक या उपयोगिता को ध्यान में रखकर इसे प्रयोग में नहीं लाया जाता। इसे, इसीलिए **आधारभूत शोध** या Basic Research भी कहते हैं। इसे उद्देश्यों को संक्षेप में अग्रलिखित रूप में बताया जा सकता है–

(अ) मौलिक सिद्धान्तों, नियमों की खोज करना।

(ब) सामाजिक घटनाओं के कार्य–कारणत्व की व्याख्या करना।

(स) अज्ञात को खोलकर रखने (Discovery) का प्रयतन करना।

(द) अर्द्ध सत्य ज्ञान को संशोधित कर शुद्ध रूप देने का प्रयत्न करना।

(र) **ज्ञान प्राप्ति के लिए सूचनाएँ एकत्रित करना।**

(ल) समाज की संरचना एवं प्रकार्यात्मकता की समझदारी करना।

(व) यह सम्पूर्ण संस्कृति के विज्ञानात्मक अंग की थाती है। जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित किया जा सकता है।

एक व्यर्थ विवाद – विशुद्ध शोध के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि 'ज्ञान के लिए ज्ञान' की पिपासा आज के इस भौतिकवादी युग में निरर्थक है लेकिन यह बात सही नहीं है। आज भी ऐसे अनेक वैज्ञानिक हैं जो सत्य की खोज में निरन्तर लगे हुए हैं, उनमें अपने शोध–कार्य के प्रति लगन है, अपूर्व उत्साह है। यहाँ हमें इस बात को ध्यान में रखना है कि नवीन ज्ञान की प्राप्ति एवं घटनाओं के पीछे नियमों की खोज अन्ततः मानव कल्याण में सहायक ही होती है। विशुद्ध शोध द्वारा प्राप्त ज्ञान का प्रयोग व्यावहारिक शोध के अन्तर्गत किया जाता है।

15.2.5 व्यावहारिक या उपयोगिता आधारित शोध–प्रारूप (Applied Research Design)

'समाज' ज्ञान से अधिक 'व्यवहार की संकुलता' का नाम है। कुछ व्यवहार और प्रकार्य ऐसे हैं जिनको बढ़ावा देना समाज के हित में होता है। परन्तु कुछ व्यवहार, प्रकार्य या परिणाम, घटनाएँ ऐसे हैं जो अवांछित है, अनुपयोगी है। ये सामाजिक रोग या सामाजिक समस्या पैदा कर देते हैं – यदि उनको नियन्त्रित , निर्देशित न किया जाय तो। कौन से ऐसे व्यवहार हैं ? किनको नियन्त्रित और निर्देशित करने की जरूरत है ? कैसे ? – इन व्यावहारिक और उपयोगी प्रश्नों को सामने रखकर जो भी शोध किए जाते हैं – उनके प्रारूप को **उपयोगितावादी शोध का प्रारूप** कहा जाता है। व्यावहारिक या उपयोगितापरक शोध एवं उसके प्रारूप की चर्चा करते हुए **होर्टन तथा हण्ट** ने बताया है कि "जब किसी ऐसे ज्ञान की खोज के लिए वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है जिसकी व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में उपयोगिता है, तो इसे व्यावहारिक शोध कहा जाता है।" ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष पर जोर देते हुए **श्रीमती पी.वी. यंग** ने लिखा है कि "ज्ञान की खोज का लोगों की आवश्यकताओं एवं कल्याण के साथ एक निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है। वैज्ञानिक यह मानकर चलता है कि समस्त ज्ञान मूलतः उपयोगी है। चाहे उसका उपयोग निष्कर्ष निकालने, नियम बनाने तक सीमित हो या दिशा–निर्देश करने, सामाजिक नियन्त्रण करने या परिवर्तन की वकालत को तत्य सौंपने से हो।" **श्रीमती पी.वी. यंग** इसीलिए कहती हैं कि सैद्धान्तिक शोध या व्यावहारिक शोध आगे चलकर एक दूसरे के सहायक हो जाते हैं, क्योंकि सिद्धान्त और व्यवहार कहीं न कहीं एक दूसरे का स्पर्श अवश्य करते हैं।

व्यावहारिक शोध की भूमिका

(1) यह सामाजिक जीवन के व्यावहारिक ज्ञान को उजागर करता है।

(2) कार्य–कारण सम्बन्धों की सामाजिक जीवन के लिए क्या उपयोगिता है – बताता है।

(3) सामाजिक नियोजन, विकास, कल्याण, स्वास्थ रक्षा, जनसंख्या के प्रश्न, समाज सुधार, सामाजिक अधिनियमों के सन्दर्भ, मनोरंजन जैसे पक्षों पर शोध करना।

(4) उद्योग, प्रशासन, व्यापार, सम्प्रदाय, तनाव के कारण, मुक्ति के उपाय में इसकी भूमिका है।

स्टाउफर ने व्यावहारिक शोध की भूमिका या उपयोगिता अथवा महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "यदि समाज–विज्ञानों को अपना महत्व बढ़ाना है तो उन्हें अपने व्यावहारिक पक्ष को सफल बनाना होगा।" **स्टाउफर** ने अन्यत्र लिखा है कि व्यावहारिक शोध सामाजिक विज्ञानों को तीन रूपों में महत्वपूर्ण योग देता है –

(i) कौन से सामाजिक तथ्य किस प्रकार समाज के लिए उपयोगी हैं – इस बारे में विश्वसनीय प्रमाणों को प्रस्तुत करके,

(ii) ऐसी प्रविधियाँ (techniques) का उपयोग एवं विकास करके जाकि विशुद्ध शोध के लिए भी उपयोगी प्रमाणित हो तथा

(iii) ऐसे तथ्यों व विचारों तथा अवधारणाओं को प्रस्तुत करके जो सामान्य नियम निर्माण या दिशा निर्देश में महत्वपूर्ण सहयोग दें।

व्यावहारिक शोध केवल एक काल या सन्दर्भ विशेष में ही लाभकारी नहीं होते, वरन् शाश्वत महत्व के भी हो सकते हैं। विशुद्ध शोध के लिए सहायक हो सकते हैं। कभी–कभी पूरक भी। व्यावहारिक शोध के दौरान खोजे गये नवीन तथ्य प्रचलित ज्ञान में सुधार और वृद्धि दोनों ही कर सकते हैं। साथ ही सिद्धान्तों के परीक्षण के लिए ये अवसर प्रदान करते हैं। व्यावहारिक शोध में प्रतयेक विषय से सम्बन्धित अवधारणाओं का वास्तविक परिस्थितियों के सन्दर्भ में अध्ययन कर यह स्पष्ट किया जाता है कि वे अवधारणाएँ कहाँ तक उपयुक्त हैं। व्यावहारिक शोध के अन्तर्गत जिन शोध विधियों का विकास किया गया है, उनको विशुद्ध शोध–कार्य हेतु भी प्रयोग में लाया जा सकता है। दूसरी तरफ विशुद्ध शोध भी व्यावहारिक शोध के लिए बहुत कुछ देता है। विशुद्ध शोध के आधार पर प्रतिपादित सिद्धान्त अनेक व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में सहयोग देते हैं। इससे समस्याओं की गहराई तक पहुंचने एवं समस्या के वास्तविक कारणों का पता लगाने में सहायता मिलती है। साथ ही विशुद्ध शोध समस्या के हल के वैकल्पिक तरीके ढूँढ़ निकालने देता है। आज सरकारी एवं गैर–सरकारी संस्थाओं में विशुद्ध शोध के महत्व को स्वीकारा गया है और इसी के परिणामस्वरूप वहाँ शोध–विभाग देखने को मिलते हैं।

क्रियात्मक शोध या एक्शन रिसर्च (ACTION RESEARCH DESIGN)

'व्यावहारिक या उपयोगितावादी शोध' का ही यह अधिक सक्रिय और सक्षम तथा विकसित रूप है। अमेरिका के प्रो. कोलियर, स्टीफेन एम. कोरी, लिंकन आदि ने एक्शन रिसर्च की अवधारणा प्रस्तुत की। पिछले 30–35 वर्षों में इस प्रारूप से अमेरिका में कई शोध कार्य किए गये। भारत में भी गन्दी बस्ती सुधार योजना, पेयजल सुधार जैसी कई समस्याओं के सन्दर्भ में इस विधि का प्रयोग होने लगा है।

क्रियात्मक शोध से क्या समझें ?

गुडे एवं हाट ने लिखा है कि "क्रियात्मक शोध उस कार्यक्रम का एक भाग है जिसका लक्ष्य मौजूदा दशाओं को परिवर्तित करना होता है, चाहे वह गन्दी बस्ती की दशाएँ हों या जातीय तनाव तथा पूर्वाग्रह (racial tension and prejudice) हों, या किसी संगठन की प्रभावशीलता हो।"

मैकग्रेथ एवं उनके सहयोगियों ने बताया है कि "क्रियात्मक शोध एक संगठित व खोजपूर्ण क्रिया है। जिसका लक्ष्य व्यक्तियों या समूह से सम्बन्धित परिवर्तन एवं सुधार करने हेतु उनका अध्ययन करना और साथ ही मौलिक परिवर्तन लाना है।"

स्टीफन एम. कोरी ने क्रियात्मक शोध का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया है कि "यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यावहारिक कार्यकर्त्ता अपनी समस्या का इस दृष्टि से वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन करते हैं ताकि वे आवश्यकतानुसार अपने निर्णयों एवं क्रियाओं को दिशा दे सकें, उनमें परिवर्तन व सुधार कर सकें, उनका मूल्यांकन कर सकें।"

परिभाषाओं का सारांश

(1) यह शोध भी है और सामाजिक सुधारकों का कार्यक्रम भी है।, (2) संगठित, खोजपूर्ण प्रयत्नों का वैज्ञानिक विधि संगठन है।, (3) व्यावहारिक पद्धति कार्य, निर्णय से सम्बद्ध है।

क्रियात्मक शोध की विशेषताएँ (Characterstics)

(1) सामाजिक समस्या या घटना के क्रियात्मक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित रखता है।

(2) यह अपने निष्कर्षों का प्रभावी उपयोग कर परिवर्तन नियन्त्रण, या विकास जैसी सामाजिक क्रिया को बल देने का मार्ग बताता है।

(3) इसे अधिकारयुक्त शोध भी कहा जस सकता है, क्योंकि यह अपने निष्कर्षों को लागू करने में रुचि रखता है। इसीलिए इसे 'क्रियात्मक' कहते हैं। यह विज्ञान सम्मत भी है।

इस प्रकार के शोध किन समस्याओं के सन्दर्भ में किए जा सकते हैं ?

(अ) सामाजिक व्यवस्था के किसी अंग में पूर्ण या अंश परिवर्तन लाना हो तब।

(ब) निवारण या निदान का मार्ग ढूँढ़कर उस पर चलना हो तब।

(स) नियन्त्रण या कल्याण को तथ्यपरक ढंग से बढ़ाना हो तब।

(द) ज्वलन्त समस्याओं से सम्बन्धित शोधात्मक–सुधारात्मक कदम उठाना हो तब। जेसे – बन्धुआ मजदूरी, भूमिहीन किसान की समस्या, दुर्बलों के कष्ट, स्त्री समस्या आदि को समझना–सुलझाना हो तब यह शोध प्रारूप बहुत उपयोगी होगा।

अर्थ यह हुआ कि यह प्रारूप सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित है। इसकी प्रकृति तीन तरह की होती है। इसी प्रकृति के आधार पर इसके तीन प्रकार माने जाते हैं –

(1) निदानात्मक, उपचारात्मक क्रियात्मक शोध (2) सहकारी क्रियात्मक शोध। (3) प्रयोगात्मक क्रियात्मक शोध।

क्रियात्मक शोध के दौरान शोधकर्त्ता आवश्यकता के अनुरूप किसी भी अनुसन्धान विधि का प्रयोग कर सकता है।

मूल्यांकनात्मक शोध (EVALUATION RESEARCH DESIGN)

समाज सेवी संगठन एवं सरकारें जनहित में, देश हित में कई योजनाएँ चलाते हैं। अरबों, खरबों रूपया खर्च होता है। समय और श्रम लगता है। जिनके लिए योजनाएँ चलाई जाती हैं उनकी जीवन पद्धति पर भी असर पड़ता है। अनेक नई चीजें आ जुड़ती हैं उस क्षेत्र में या वहाँ के निवासियों के जीवन में। पर, प्रश्न उठता है कि "क्या जो सोचकर या जिस उद्देश्य से योजनाएँ चलायी गयीं थीं – वे उद्देश्य पूरे हुए या हो रहे हैं ? "पूरे नहीं हुए तो किस सीमा तक कार्य किया योजनाओं में ? – लाभ अधिक हुआ कि हानि ? आदि–आदि ? ऐसे अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए जो शोध किए जाते हैं उन्हें ही मूल्यांकन शोध के नाम से जाना जाता है।

विलियम सन, कार्प और **डाल्फिन** ने अपनी पुस्तक The Research Craft के पृष्ठ 382 पर लिखा है कि मूल्यांकन शोध वास्तविक संसार या समाज में की गयी ऐसी खोज है जिसके माध्यम से यह मूल्यांकन किया जाता है कि "व्यक्तियों, क्षेत्रों, समुदायों के किसी विशिष्ट समग्र के लिए सुधार का जो कार्यक्रम बनाया गया होता

है, वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति में कहाँ तक सफल रहा है। इसके द्वारा कार्यक्रम की प्रभावकता को आँका जाता है। जहाँ उद्देश्यों तथ उपलब्धियों में अन्तर कम–से–कम हो, वहाँ उस कार्यक्रम को उतना ही सफल माना जाता है। इस प्रकार का मूल्यांकन इस उद्देश्य से किया जाता है ताकि नियोजन परिवर्तन के विभिन्न कार्यक्रम में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकें, उन्हें अधिक कारगर एवं सफल बनाया जा सके। इस प्रकार के शोध के द्वारा यह पता लगाया जाता है कि सामाजिक नियोजन एवं परिवर्तन के उद्देश्य से प्रेरित कार्यक्रम इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल क्यों नहीं हो रहा है और उसे सफल बनाने हेतु क्या कदम उठाये जाने चाहिए। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सामाजिक नियोजन एवं परिवर्तन के लक्ष्य से प्रेरित क्रियात्मक कार्यक्रमों की सफलता–असफलता को ज्ञात करने एवं उनकी प्रभावकता का पता लगाने हेतु जो खोज की जाती है, उसी को **मूल्यांकन शोध·** कहते हैं।

मेरी दृष्टि में यह शोध प्रारूप इलाजात्मक तरीका है (Remedical Research)। विशुद्ध शोध का यह उपयोग भले करले पर यह उससे बिल्कुल भिन्न है।

15.2.6 उपकल्पना प्राकल्पना का निर्माण (FORMULATION OF HYPOSTHESIS)

शोधकर्त्ता जब शोध करने के लिए तैयार हो जाता है तो उसके सामने दो प्रश्न आ खड़े होते हैं। **प्रथम प्रश्न** विषय से सम्बन्धित होता है कि किस 'विषय' पर शोध करना है। **दूसरा प्रश्न** यही होता है किस दिशा से, किस सोच से शोध–कार्य आगे बढ़ाया जाये। माँग, आवश्यकता, औचित्य या जिज्ञासा को ध्यान में रखकर 'विषय' तो स्वीकार कर लिया जाता है। पर, दिशा और सोच का सवाल जब भी बाकी रह जाता है। कुछ–कुछ शोधों में तो बिना निर्धारित दिशा या प्रेरित सोच के ही अनुसन्धान कार्य शुरू कर दिया जाता है। जो भी निष्कर्ष निकल आता है – उसे शोध की उपलब्धि मान लेते हैं।

पर अनेक शोधों में विवेक द्वारा दिशा एवं निष्कर्ष के प्रति एक सोच तय कर ली जाती है। फिर शोध के जरिये यह देखा जाता है कि सोच, सच है या गलत। उसमें क्या संशोधन होना चाहिए? फिर समर्पित सोच या संशोधित सोच ही शोध का निष्कर्ष बन जाती है। अन्दाज या विवेक पर आधारित निष्कर्ष के प्रति अग्रिम इस सोच का नाम ही उपकल्पना या प्राकल्पना है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है –A precise statement about cause-effect relationship in a social research condition may be named as hypothesis untill it is proved or disaproved in final.

कोई दर्जी अच्छे वस्त्र सिलना चाह रहा है। बड़ी सूझबूझ से नाप जोखकर कपड़ा काटता है। फिर उसे एक बारगी ही सीकर कपड़े वाले को नहीं देता। पहले 'कच्ची सिलाई' करता है। फिर उस कच्ची सिलाई का पीछा

करता हुआ पक्की सिलाई का निष्कर्ष दे देता है। यह कच्ची सिलाई ही उपकल्पना है जो वस्त्र के मालिक को फिट न आयी तो disaproved, फिट आ गयी तो अन्तिम निष्कर्ष।

उपकल्पना का अर्थ (Meaning of Hypothesis)

अंग्रेजी शब्द 'Hypothesis' का हिन्दी रूपान्तरण है – उपकल्पना। जिसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। 'Hypo' तथा 'Thesis' । 'Hypo' शब्द का अर्थ है – 'कल्पना' या 'काल्पनिक' (Tentative) तथा 'Thesis' का अर्थ है – प्रस्तावना (Statement)।अतः उपकल्पना का शब्दिक अर्थ ही काल्पनिक प्रस्तावना है। अतः उपकल्पना एक काल्पनिक प्रस्तावना या विचार है जो सामाजिक तथ्यों एवं घटनाओं की खोज करने एवं भिन्न चरों में कार्य–कारण सम्बन्धों का पता लगाने का आधार बनती है।

उपकल्पना की परिभाषाएँ

एम. जहोदा ने अपनी पुस्तक में **'बेब्सटर शब्द कोश'** की व्याख्या का उदाहरण दिया है.। **उपकल्पनाप पूर्व** सोच, दशा या सिद्धान्त है, जो पक्षपातविहीन अनुसन्धानकर्त्ता के द्वारा शोध पूरा करने के पहले ही इसलिए बना लिए जाते हैं कि ज्ञात या अज्ञात तथ्यों कार्य–कारण की सही पहिचान हो सके।

लुण्डवर्ग के अनुसार, उपकल्पना एक काम चलाऊ निष्कर्ष है – जिसकी सत्यता की परीक्षा होनी अभी बाकी है। प्रारम्भिक स्तर पर इसे अनुमान, विचार या कल्पना भी मान सकते हैं।

उपकल्पना और सिद्धान्त दोनों एक नहीं हैं पर दोनों अन्योन्याश्रित अवश्य हैं। **विलियम जार्ज** कहते हैं कि सिद्धान्त विस्तृत और सत्य सिद्ध उपकल्पनाएँ ही हैं। उपकल्पना सिद्धान्त से जन्म लेती हैं और परीक्षा में सफल हो गयी उपकल्पनाओं से सिद्धान्त पैदा होते हैं।

"उपकल्पना अध्ययन–विषय से सम्बद्ध वह काल्पनिक व अस्थायी (अल्पकालिक) (Temporary) निष्कर्ष है जिसके सत्यासत्य को केवल वास्तविक तथ्य ही दर्शा सकते हैं।"

–जार्ज केसवेल

"उपकल्पना शोधकर्त्ता के कार्यों को दिशा प्रदान करती है और उसे यह बताती है कि क्या ग्रहण करना है और क्या त्यागना है। उपकल्पना के बन जाने पर शोध–कार्य का क्षेत्र निश्चित हो जाता है और शोधकर्त्ता को अपने अध्ययन–कार्य में आगे बढ़ने में मदद मिलती है। पर स्मरण रहे कि उपकल्पना केवल एक 'आकस्मिक' निष्कर्ष होता है, न कि अन्तिम। और न ही शोधकर्त्ता की सफलता इसी बात पर निर्भर है कि उसकी उपकल्पना किस सीमा तक

सत्य प्रमाणित हुई। उपकल्पना सच प्रमाणित हो या झूठ, दोनों ही अवस्थाओं में शोध–कार्य ज्ञान की वृद्धि में सहायक है।''

–डुनहम

''उपकल्पना इस बात का वर्णन करती है कि हम आगे क्या देखना चाहते हैं। एक उपकल्पना भविष्य की ओर देखती है। यह एक प्रस्तावना है जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने हेतु उसका परीक्षण किया जा सकता है। यह सही भी सिद्ध हो सकती है और गलत भी।''

–गुडे एवं हाट

''उपकल्पना एक काल्पनिक सामान्यीकरण है जिसकी प्रामाणिकता की जाँच करना अभी शोष है। प्रारंभिक स्तर पर एक उपकल्पना प्रतिभा (Hunch), अनुमान, काल्पनिक विचार या सहज ज्ञान हो सकता है जो कि क्रिया या अनुसन्धान का आधार बन सकता है।''

–लुण्डवर्ग

''एक कार्यवाहक विचार, जो उपयोगी खोज का आधार बनता है, कार्यवाहक उपकल्पना माना जाता है।''

–यंग

''एक उपकल्पना एक मान्यता, शर्त अथवा सिद्धान्त है जिसे शायद विश्वास के बिना मान लिया जाता है **ताकि इसके तार्किक** परिणाम ज्ञात हो सकें तथा इस ढंग के द्वारा उसकी उन अन्य तथ्यों से समानता का परीक्षण किया जा सके जो ज्ञात हैं अथवा निर्धारित किए जा सकते हैं।

–'वेब्स्टर्स न्यू इण्टरनेशनल डिक्शनरी'

उपकल्पना बनाने की प्रेरणा किससे मिलती है ?

गुडे एवं **हाट** ने उपकल्पना के निर्माण में प्रेरणा देने वाले स्त्रोतों का उल्लेख किया है। उन्होंने चार स्त्रोतों की गणना की है –

(1) **सामान्य संस्कृति का असर** –इसमें शोधकर्त्ता की संस्कृति एवं उसका प्रभाव उल्लेखनीय है। जिस क्षेत्र का अध्ययन हो रहा है वहाँ की संस्कृति के असर से भी किसी विशेष उपकल्पना का निर्माण हो सकता है। संस्कृति का प्रभाव दृष्टिकोण और सोच की दिशा भी बदलता है और समझदारी की अवधारणा भी। उपकल्पना **के शब्द** और प्रकाशन को भी प्रभावित करता है। **उदाहरण के लिए** –'मृत्यु क्यों' जैसे प्रश्न पर शोध हो रहा है तो भौतिकवादी

संस्कृति का आदमी रोग या अन्य भौतिक कारण पर आधारित उपकल्पना बनाएगा, परन्तु भारतीय परम्परावादी की उपकल्पना में, ईश्वर, भाग्य जैसे शब्द आ सकते हैं।

(2) **वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रभाव** – वैज्ञानिक सिद्धान्त भी भविष्य की उपकल्पनाओं को जन्म देती हैं। **उदाहरणार्थ** – आत्म हत्या के विभिन्न कारकों तथा सामाजिक प्रभावों की विवेचना करने के पश्चात् उससे **सम्बन्धित** जिन नियमों का निर्माण किया जायेगा उनका सामूहिक नाम आत्महत्या का सिद्धान्त कहलायेगा। इस **सिद्धान्त** को पढ़कर कोई भी व्यक्ति उस सिद्धान्त का सम्बन्ध किसी अन्य सामाजिक घटना से जोड़ने का प्रयास कर सकता है जैसे यह जानने का प्रयत्न करना कि आत्महत्या के सिद्धान्त का आवारागर्दी से भी कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं। अथवा उसका आर्थिक या मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार किसी सिद्धान्त के विभिन्न अंगों के विवेचन तथ अन्य सिद्धान्त से उसके सम्बन्ध की सम्भावना अनेक उपकल्पनाओं को जन्म देती है।

(3) **समता–विषमता के उदाहरण** – इन्हें उपमा का प्रभाव कहते हैं –**गुडे** और **हाट। उल्फ** ने भी इसका समर्थन किया है। **उल्फ** के शब्दों में – उपमा (analogy) उपकल्पनाओं के निर्माण तथा घटना में किसी काम चलाऊ नियम की खोज में अत्यन्त उपयोगी पथ प्रदर्शक है। कभी–कभी दो तथ्यों के बीच समानता के कारण नई उपकल्पना का जन्म होता है। हम जो बात एक क्षेत्र में देखते हैं प्रायः उसी को हम दूसरे क्षेत्र में लागू करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार अनेक सिद्धान्तों तथ उपकल्पनाओं का जन्म होता है। **एक उदाहरण –ऋग्वेद में** सृष्टि के उत्पन्न होने की एक कल्पना की गई है। जिसमें कहा गया है कि सृष्टि की ज्ञानात्मक, रक्षात्मक, भोगात्मक एवं अनुगामी शक्तियाँ ब्रह्म से उत्पन्न हुयी हैं। जाति या वर्ण की उत्पत्ति के सिद्धान्त खोजने के दौरान विद्वानों ने इसी कथन की 'उपमा' को ग्रहण कर जाति उदय का परम्परात्मक सिद्धान्त ही बना डाला। इस सिद्धान्त में कहा गया है कि ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, बाहों से क्षत्रिय, पेट से वैश्य और पैरों से शुद्र वर्ण पैदा हुए।

(4) **व्यक्तिगत अनुभव की देन** – अनुभव के साथ सूझ को जोड़े बिना काम न चलेगा। (Experience & insight) अनुभव और सूझ की जोड़ी से उपकल्पनाओं का निर्माण सुगम हो जाता है। अनुभव पिछले दृष्टान्तों एवं आप–बीती से मिलता है जबकि सूझ गहरी आन्तरिक दृष्टि से। अनुभव से आइन्सटीन और सूझ से न्यूटन ने अनेक उपकल्पनायें रचीं। जिनमें से कई सत्य हुई या सत्य के एक अंश तक स्वीकृत हुई। प्रकाश और पदार्थ, गुरूत्वाकर्षण के सिद्धान्त ऐसी उपकल्पनाओं से उभर कर आगे आये। किन्तु **जहोदा** बताते हैं कि सूझ और दृष्टि विस्फोट (hunch) से बनी उपकल्पना की जाँच बहुत कठिन होती है। जनश्रुतियाँ व प्रचलित विश्वास से भी सहायता ली जा सकती है – उपकल्पना के निर्माण में ।

ध्यान देने योग्य बात – व्यावहारिक उपकल्पना की खोज

उपकल्पना कैसे भी बनी हो ? आधार और प्रेरणा कितनी भी हो ? यह ध्यान रखना जरूरी है कि उपकल्पना इतनी हवाई न हो कि उसकी जाँच सही न हो सके। **गुडे** एवं **हाट** कहते हैं कि वैज्ञानिकों के मन में अत्र–तत्र अनेक उपकल्पनाएँ जन्म लेती रहती हैं परन्तु प्रमाणीकरण के अभाव में उन उपकल्पनाओं को मरना पड़ता है। इसलिए आवश्यक है कि उपकल्पनाएँ व्यावहारिक हों ताकि प्रमाणों से सिद्ध किया जा सके। वे मात्र **'दोषपूर्ण** कल्पनाएँ' ही नहीं 'सार्थक सिद्धान्त' भी बन सकती हैं।

व्यावहारिक उपकल्पना की विशेषताएँ

(1) स्पष्ट एवं सामान्य होनी चाहिए – भाषा और प्रयोग दोनों ही दृष्टि से।

(2) इसका क्षेत्र संक्षिप्त एवं दिशा बोधक होना चाहिए ।

(3) सैद्धान्तिक अन्तर्विरोध से मुक्त हो।

(4) तथ्य, अवधारणा और विचारों के मानकीकृत शब्दों एवं यथार्थ से बनी होनी चाहिए।

(5) जाँच करने की विधि और सीमा सम्बद्ध होनी चाहिए। **गुडे** और **हॉट** कहते हैं कि विधि से कटी और जाँच सीमा से परे वाली उपकल्पनाएँ कुछ दे नहीं पातीं। हाँ, यह अलग बात है कि साधनों की कमी के कारण जाँच तुरन्त सम्भव न हो सके। परन्तु, यह विश्वास होना चाहिए – व्यावहारिक आधारों पर – कि एक–न–एक दिन उपकल्पना की जाँच अवश्य होगी। अन्तरिक्ष सम्बन्धी, भौतिक विज्ञान सम्बन्धी, अनेक उपकल्पनाएँ अब भी अप्रमाणित हैं। फिर भी, कारण पूर्वक विश्वास बना हुआ है कि इनकी सत्यता खोजने का समय अवश्य आयेगा। सामाजिक अनुसन्धान में **कार्ल मार्क्स** की सामाजिक परिकल्पना और **दुर्खीम** की आत्म हत्या सम्बन्धी उपकल्पनाओं को भी तो प्रमाणित होने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ी।

(6) साधारण शोधकर्त्ता को ऐसी उपकल्पनाओं का निर्माण करना चाहिए जो मुख्य सिद्धान्त के आस–पास हों और सकारात्मकता–नकारात्मकता की जाँच में सहायक हों। अनुभवी शोधकर्त्ता के लिए ऐसा कोई नियम नहीं। वह सर्वथा स्वतन्त्र उपकल्पनाएँ भी प्रस्तुत कर सकता है।

(7) सरलता आवश्यक है। प्रसंग के अनुकूल होना चाहिए। इस गुण को 'ओकम की तलवार' कहा जाता है। इसका मतलब है कि उपकल्पना रेजर की धार की तरह तीक्ष्ण और सूक्ष्म होनी चाहिए। **श्रीमती पी.वी. यंग** कहती हैं कि समस्या के सम्बन्ध में अनुसन्धानकर्त्ता की जितनी गहरी सूझ होगी, उससे सम्बन्धित उपकल्पना में उतनी ही सरलता होगी।

सामाजिक अनुसन्धान में उपकल्पना का महत्त्व

यह पहले ही बताया जा चुका है कि उपकल्पना वास्तविक प्रयोग कर निष्कर्ष तक पहुंचने के पहले ही, निष्कर्ष जैसी राय बना लेने का नाम है। जैसे, भवन का वास्तुविद् ईंट–पत्थर की पूरी बहुमंजिली इमारत बना लेने के पूर्व ही कागज पर रेखाओं के माध्यम से भवन बना डालता है अथवा लकड़ी की खप्पचियों से गृह निर्माण कर देता है। ठीक उसी तरह अन्तिम निष्कर्ष का रेखाचित्र है – उपकल्पना। ऐसी उपकल्पना के निर्माण से अनुसन्धानकर्त्ता को तथा स्वयं अनुसन्धान में कई सुविधाएँ मिल जाती हैं। जैसे –

(1) **अध्ययन में सटीकता और निश्चयात्मकता को बढ़ावा मिलता है** – उपकल्पना के द्वारा अनुसन्धान के लिए किए जाने वाले कार्य प्रसंगानुकूल बन जाते हैं। अनुसन्धानकर्त्ता अंधेरे में तीर मारने की जगह साफ–सुथरे विवेक से शोध–कार्य में क्रमवार कार्य करता रहता है। साधारणतया उपकल्पना विहीन शोध, दिशाबोधक–यन्त्र विहीन जलयान की तरह है जिसे अज्ञात और अपार फैले समुद्र में लक्ष्य तक पहुँचने की आशा भी है और जल्दी भी। कहा तो यह भी जाता है कि कमजोर उपकल्पना ही सही, उसके सहारे शोध–कार्य में आगे बढ़ना अधिक अच्छा है, बजाये बिना उपकल्पना के इधर–उधर भटकने से।

(2) **दिशा निर्देश करती है उपकल्पना** – सच और संक्षेप में कहें तो किसी भी अनुसन्धान के दो ही भाग हैं –

(i) उपकल्पना का निर्माण।

(ii) उसका परीक्षण।

अतएव अच्छी व्यावहारिक उपकल्पना के बनते ही समझो आधा अनुसन्धान तो हो गया। शेष आधा, यानि परीक्षण के कार्य में तथ्य जुटाने, विश्लेषण करने, निष्कर्ष की ओर बढ़ने में भी यह उपकल्पना पर्याप्त योगदान देती है। परीक्षण का कार्य कैसे हो ? – तथ्य कैसे जुटें ? इसका दिशा–निर्देश उचित उपकल्पना ही कर देती है। इससे व्यर्थ का श्रम, अनायास खर्च, अवांछित समय का नुकसान नहीं होता। हमारा हर कदम निश्चित उद्देश्य और अर्थयुक्तता की ओर बढ़कर निष्कर्ष तक जा पहुँचता है।

(3) **तथ्यों की बहुलता में से आवश्यक को ही चुनने में सहायता देती है उपकल्पना** –पी.वी. यंग का कथन है कि "उपकल्पना के प्रयोग से आँख मूँदकर तथ्य खोजने तथा अन्धाधुन्ध ऐसे आँकड़ों को एकत्र करने पर नियन्त्रण होता है जो कि बाद में अध्ययन विषय के लिए अप्रासंगिक सिद्ध हों।"

ध्यान से देखें तो हमें साफ–साफ अनुभव होगा कि जब हम किसी घटना का अध्ययन करते हैं तो हमें नेक तत्वों के सम्पर्क में आना पड़ता है। प्रत्येक का अध्ययन हमारे लिए आवश्यक नहीं होता। हमें केवल उन्हीं तथ्यों का

अध्ययन करना चाहिए जो हमारे अनुसन्धान में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सहायक हों इनमें हमें अनुपयोगी तथा बेकार की सूचना का क्रमशः त्याग करना पड़ता है, तथा उपयोगी सूचना को ग्रहण करना पड़ता है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। माना कि आप किसी गाँव में अशिक्षा की समस्या पर कोई उपकल्पना बनाकर कार्य कर रहे हैं। गाँव में जाने पर देखा तो अशिक्षा सम्बन्धी, आँकड़ों के अतिरिक्त भी बनेक उत्तेजक तथ्य हैं । वहाँ – बीमारी, शिशु–मृत्यु, गरीबी, कृषि की दुर्दशा आदि। इन तथ्यों में किसको एकत्रित करें ? सब ? नहीं। उपकल्पना का स्वरूप ही आपको प्रेरित करेगा कि आप क्या चुनें ? – क्या छोड़ें ?

(4) **निष्कर्ष तक पहुँचाने में सहायक है उपकल्पना** – उपकल्पना हमारे अध्ययन की प्रगति में सहायक नहीं होती वरन् ठीक–ठाक निष्कर्ष निकालने में सहायक होती है। **गुडे** तथा **हाट** के मतानुसार "बिना उपकल्पना के अनुसन्धान एक अनिर्दिष्ट विचारहीन भटकने के समान है। उसके परिणामों को स्पष्ट अर्थ वाले तथ्यों में नहीं रखा जा सकता। उपकल्पना सिद्धान्त ऐसी खोज के बीच में आवश्यक कड़ी है जो अधिक ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होती हे।"

उपकल्पना के निर्माण की शुरूआत कैसे करें ?

याद रखें। उपकल्पना के बिना शोध अकेन्द्रित अध्ययन और वैज्ञानिक घुमक्कड़ी की खोज यात्राा से अधिक कुछ नहीं रह जाता। तब प्रयत्नपूर्वक उपकल्पना का निर्माण करना आवश्यक ही है। प्रश्न यह है कि कैसे, क्या करें कि उपकल्पना बन जाये ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले आपको जानना चाहिए कि किन कठिनाइयों या अस्पष्टताओं के कारण उपकल्पना बनाना कठिन होता है। उन्हें क्रम से समझ लें। **पहली** कठिनाई है, सैद्धान्तिक **क्रियापद्धति की** जानकारी का न होना। **दूसरी** कठिनाई है कि यदि सिद्धान्तों की कुछ बातें मालूम भी हों तो उन्हें तर्क संगत रूप से केसे आपस में जोड़ें। **तीसरी** दिक्कत है कि शोधकर्त्ता श्रेष्ठतम तकनीक नहीं चुन पाता जिसके प्रयोग से उपकल्पना के निर्माण में सहायता मिले। **चौथी** बात यह है कि शोधकर्त्ता अध्ययन पूर्व मानसिक सर्वेक्षण करने में कभी असफल रहता है जिससे वह उपकल्पना का निर्माण नहीं कर पाता।

इन कठिनाइयों को ध्यान में आने के बाद हमें उपकल्पना के निर्माण में अग्रलिखित ढंग से आगे बढ़ना चाहिए।

(1) सबसे पहले अनुसन्धान के लिए चुने गये विषय की जानकारी प्राप्त करें। अच्छा हो उससे सम्बन्धित साहित्य पढ़कर। पहले के शोध पढ़कर ऐसी चीजें उपलब्ध न हों तो चुने हुए क्षेत्र में छोटी सी यात्रा करें। कहावतें, विश्वास और फैसले सुनें। स्वयं अवलोकन और अनुभव करें।

(2) जो कुछ पढ़ा, पाया या देखा – उसके विस्तार को समेटें। ऐसा करने में कई उपकल्पनाओं का रूप बनेगा। कुछ अस्पष्ट होंगी। कुछ केवल वैयक्तिक कथन बनकर रह जायेंगी, कुछ का ओर–छोर ही न होगा। फिर भी विस्तार में से संक्षेप का सार सामने आयेगा।

(3) अपने से अपनी कल्पना पर प्रश्न उठायें। कौन हिस्सा कितना 'चलता–विचार' (commonsense) है ? किसमें कार्य–कारण सम्बन्धों (casual relationships) की तलाश से जुड़े कथन हैं? कौन टुकड़ा अधिक अमूर्त और सीधे–सीधे उत्तर–सा, या निष्कर्ष–सा है ? देखें। आकलन करें।

(4) अच्छा हो, काल, परिस्थिति और विषयानुसार किसी तकनीक या अनुसन्धान पद्धति की कसौटी पर करकर देख लें कि क्या आपकी उपकल्पना कोई उत्तर देने में समर्थ है ? आवश्यकता हो तो कुछ संशोधन करें। उपकल्पना के स्तर तक पहुंचाएँ।

(5) उपकल्पना का स्तर कया है ? कितनी उचित है वह – यह तो पूर्ण परीक्षण के बाद ही पता नेगा।

उपकल्पनाओं के प्रकार (TYPES OF HYPOTHESIS)

गुड़े एवं **हाट** के अनुसार उपकल्पनाओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) **आनुभाविक समानताएँ बताने वाली उपकल्पनाएँ** –(Hypothesis Stating existing impirical Uniformities) – ये वे उपकल्पनाएँ हैं जो कि व्यक्ति के सामान्य दैनिक जीवन में प्रचलित विचारधाराओं, मान्यताओं, निषेधों, व्यवहार प्रतिमानों इत्यादि पर आधारित होती हैं।

(2) **जटिल आदर्श–प्रारूप से सम्बन्धित उपकल्पनाएँ** (Hypothesis Concerned with Complex Ideal-typed) – क्योंकि सामाजिक घटनाओं, तथ्यों एवं समस्याओं की प्रकृति अति जटिल होती है, इसलिए वैज्ञानिक अनुसन्धानों में इस प्रकार की उपकल्पनाएँ प्रयोग में लायी जाती हैं। इन उपकल्पनाओं का निर्माण अनुभवाश्रित एकरूपता पर आधारित विभिन्न कारकों में तार्किक अन्तर्सम्बन्धों का परीक्षण करने हेतु किया जाता है।

(3) **विवेचनात्मक चरों से सम्बन्ध बताने वाली उपकल्पनाएँ** (Hypothesis related with analytical variables) –इस प्रकार की उपकल्पनाएँ जटिल आदर्श–प्रारूपों से भी अधिक अमूर्त होती हैं। इनका प्रयोग परिवर्तन के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारकों के तर्कपूर्ण विश्लेषण करने के साथ–साथ अनेक पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों का पता लगाने के लिए भी किया जाता है।

एक अच्छी या कार्यवाहक उपकल्पना की विशेषताएँ

(Characteristics of a Good or Working Hypothesis)

एक अच्छी अथवा कार्यवाहक उपकल्पना में निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होना अनिवार्य है–

(1) उपकल्पना का सरल एवं प्रसंग के अनुरूप होना अनिवार्य है चाहे यह सामान्य व्यक्ति की समझ में न आये।

(2) उपकल्पना अवधारणा की दृष्टि से स्पष्ट होनी चाहिए।

(3) एक अच्छी उपकल्पना ऐसी होनी चाहिए जिसकी प्रामाणिकता की जाँच अनुभवाश्रित रूप से की जा सके।

(4) उपकल्पना विषय में प्रचलित किसी न किसी पूर्व–निर्मित सिद्धान्त से सम्बन्धित होनी चाहिए साथ ही उसमें सिद्धान्त का परिष्कार, समान अथवा संशोधन करने की क्षमता होनी चाहिए।

(5) उपकल्पना अध्ययन विषय से सम्बन्धित विशिष्ट पहलू से सम्बन्धित होनी चाहिए।

(6) एक अच्छी परिकल्पना वह मानी जाती है जिसकी प्रामाणिकता की जाँच उपलब्ध प्रविधियों द्वारा की जा सके।

उपकल्पना की जाँच बनाम निरीक्षण – तथ्य विश्लेषण

ऊपर कहा जा चुका है कि किसी अनुसन्धान के दो ही प्रमुख हिस्से हैं –

(1) उपकल्पना का निर्माण।

(2) उपकल्पना की जाँच।

निर्माण के बारे में संक्षिप्त विवरण ऊपर दे दिया गया है। यहाँ प्रस्तुत है उपकल्पना की जाँच का विवरण – उचित सूचना एकत्र करनी होती है। अतएव सबसे पहले इस बात का निर्णय करना होता है कि उपकल्पना की सत्यता प्रमाणित करने के लिए हमें कौन–कौन–सी सूचना चाहिए और हम उसे कहाँ से और कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? सूचना एकत्र करने की अनेक विधियाँ हैं। उसे हम पुराने प्रकाशित ग्रन्थों से प्राप्त कर सकते हैं अथवा स्वयं ही सूचना एकत्र कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में चार प्रमुख विधियों का उपयोग होता है –

(1) विवरणात्मक साक्षात्कार द्वारा,

(2) अनुसूची द्वारा,

(3) अवलोकन प्रणाली द्वारा,

(4) डाक द्वारा प्रेषित प्रश्नावली द्वारा।

आँकड़ा एकत्रित करते समय सावधानी

(1) आँकड़े विषय से सम्बन्धित और प्रसंगानुकूल हों।

(2) आवश्यक सूचना या उसका कोई अंश छूट न जाय।

(3) अशुद्ध और पक्षपात युक्त आँकड़े निकाल दिए जाएँ।

(4) प्रमापन के पैमानों का उचित उपयोग किया जाय।

(5) जहाँ हो सकता है – वहाँ संख्यात्मक वर्णन भी हो।

(6) सूचना पक्ष–विपक्ष दोनों ही ओर की होनी चाहिए।

(7) उपकल्पना की दृष्टि से उन्हें सजाकर रखना चाहिए।

उपकल्पना से निष्कर्ष की ओर

उपकल्पनाएँ ही सत्य या असत्य घोषित होकर नियमों की स्थापना करती हैं। सत्य–असत्य घोषित करने के लिए तथ्य और उनकी वास्तविक व्याख्या ही आधार बनते हैं। परन्तु अनुसन्धान के निष्कर्ष को एक बार में ही वैज्ञानिक निष्कर्ष कहने से बचना चाहिए। हो सकता है सिद्धान्त में अस्पष्टता हो और वह केवल एक निर्णय की दिशा ही बता रहा हो। इसीलिए सिद्धान्त की विभिन्न परिस्थितियों में और भी कठिन परीक्षा की जाती है तथा उसे विभिन्न कारकों के निश्चित प्रभाव को जानने का प्रयत्न किया जाता हे। अन्त में एक गणितीय सूत्र के रूप में उसका उल्लेख किया जाता है और तब हम उसे वैज्ञानिक नियम कहते हैं।

इस प्रकार उपकल्पना से वैज्ञानिक नियम तक अनुसन्धान की एक सतत यात्रा है वहाँ तक पहुँचने में उसे अनेक मंजिलें पार करनी पड़ती है। तथ्यों के एकत्रीकरण, विश्लेषण और कार्य–कारण सम्बन्धों की व्याख्या के लिए अनुसन्धानकर्त्ता कई प्रकार की विधियों का सहारा लेता है। उन विधियों का हम यथा स्थान उल्लेख करेंगे।

सामाजिक अनुसन्धान की विविध–प्रविधियाँ

(Basis Of Social Research - The Logical, Historical And Scientific Method)

सामाजिक अनुसन्धान ज्यों–ज्यों वैज्ञानिक होता जा रहा है, त्यों–त्यों कल्पना, मनमानापन, विश्वास और व्यक्तिगत रूचियों से दूर हटते जाने की बाध्यता बढ़ती जा रही है। यथार्थ और प्रयोग सिद्ध निष्कर्षों को निकालने के लिए उत्तम एवं विश्वसनीय अध्ययन पद्धतियों का आविष्कार एवं प्रयोग होने लगा है। इधर बढ़ते सामाजिक ज्ञान

से यह सिद्ध हो गया है कि जैसे प्राकृतिक सत्य या घटनाएँ या प्रक्रियाएँ निश्चित विधियों तथा तरीकों पर चलती हैं, ठीक वैसे ही समस्त जीवन प्रणाली, व्यवहार एवं पूरा समाज भी विधियों, पद्धतियों का संगठन है। परिस्थितिवश जब भी विधियों का साथ छूट जाता है या हम अविधिक हो जाते हैं तो अनेक स्तरों पर हम लक्ष्य, साधन और सामाजिक स्वीकृतियों से वंचित रह जाते हैं। यदि जीवन जीने को एक लक्ष्य मान लिया जाय तो अनुसन्धान के भी निश्चित विषय और निश्चित लक्ष्य हैं। इन लक्ष्यों की प्राप्त करने के लिए आवश्यकतानुसार कई विधियों का प्रयोग करना पड़ता है। समाज वैज्ञानिकों ने समाज और सामाजिक घटनाओं की प्रकृति को समझकर कुछ विधियों को स्थापित किया है, जिनके प्रयोग से किये जाने वाले अध्ययनों को मान्यता प्राप्त है और संकलित तथ्यों को स्वीकृत किया जाता है। इन विधियों या पद्धतियों की कुछ खास विशेषताएँ हैं, जैसे –

(1) ये काल्पनिक, दार्शनिक या भाग्यवादी नींव पर आधारित नहीं होतीं।

(2) अगस्त कामटे के शब्दों में इनमें सट्टेबाजी (specullations) को कोई महत्व नहीं दिया जाता।

(3) ये 'चाहिए' का नहीं बल्कि वास्तव में 'क्या है' को आधार मानकर चलती हैं।

(4) इनमें क्रमबद्धता, तर्कसंगतता और वैषयिकता (objectivity) पायी जाती है।

(5) प्रविधियाँ तर्क–संसकलन, सारणीयन, विश्लेषण और निष्कर्ष निकालने में सक्षम हैं।

(6) इन सारे गुणों के कारण ही इन्हें वैज्ञानिक प्रविधियाँ (Scientific methods) कहा जाता है।

सामाजिक अनुसन्धान की पद्धति क्या है ? (What is Method ?)

पद्धति, अध्ययन की वह वैज्ञानिक प्रणाली है जो तथ्यों के आधार पर तर्कपूर्ण निर्णय तक पहुंचने में सहायक है। **(Method, in social research, is a scientific procedure to arrive at rational conclusions through factual studies of given problems)**। विधियों के प्रयोग को छोड़कर निष्कर्ष तक पहुंचने का कोई लघु मार्ग नहीं है।

उल्फे (Wolfe) नामक समाज वैज्ञानिक ने 'पद्धति' को समझाने के लिए कहा है कि "कोई भी खोज प्रणाली जो विज्ञान का निर्माण कर रही हो या उसके विकास में सहायता कर रही है – वैज्ञानिक पद्धति कही जा सकती है।"

बर्टराण्ड तथा साथियों ने लिखा है कि "नियमितता के निर्धारण में और वर्गीकरण में प्रयुक्त प्रणाली वैज्ञानिक पद्धति कहा जाता है।"

गुडे और हाट ने बताया है "जब विज्ञान के आधारभूत तरीके समाज विज्ञान में लागू किए जाते हैं तो उन्हें सामाजिक अनुसन्धान की पद्धति कहते हैं।"

कोसा (Cossa) ने संक्षिप्त परिभाषा देते हुए कहा है कि "पद्धति, वह –तर्कपूर्ण प्रक्रिया है जिसका उपयोग सच्चाई को खोजने या उसे दर्शाने के लिए किया जाता है।"

सामाजिक अनुसन्धान–पद्धतियों के सामान्य लक्षण

कार्ल पीयरसन (Karl Pearson) के अनुसार प्रधान लक्षण हैं :–

(1) तथ्यों की खोज, सतर्क एवं शुद्ध वर्गीकरण, सह–सम्बन्ध (कार्य–कारण) व क्रमों की तलाश करती है।

(2) रचनात्मक, विवेकपूर्ण उपकल्पना से वैज्ञानिक नियमों की खोज करती है।।

(3) निष्कर्ष की पूर्ण तलाश करती है।

(4) सामाजिक तथ्यों की प्रकृति भौतिक तथ्यों की प्रकृति से भिन्न है, इसलिए सामाजिक अनुसन्धान की विधियों की तीन स्थितियाँ हैं :–

(i) सामान्य स्थिति की पद्धतियाँ – इनमें भौतिक विज्ञान की विधियों की तरह अध्ययन करने का प्रयत्न किया जाता है। उपकल्पना का निर्माण, तथ्यों का वस्तुनिष्ठ परीक्षण, संग्रह, लेखन तथा निष्कर्ष तक पहुंचना इसके आवश्यक चरण हैं।

(ii) विशिष्ठ पद्धतियाँ –इनमें ऐतिहासिक पद्धति, तार्किक पद्धति, तुलनात्मक पद्धति या वैयक्तिक अध्ययन जैसी पद्धतियाँ शामिल हैं।

ऐतिहासिक पद्धति (HISTORICAL METHOD)

इस पद्धति में अध्ययन का आधार और सूचना का स्त्रोत इतिहास को माना जाता है। पर एक बात विचार करने की है। उसे समझ लिया जाना चाहिए। किसी चौराहे पर कोई घटना कुछ ही घण्टे पहले ही घटी है। मान लीजिए आपने खुद ही उसे घटते देखा भी हो फिर भी उसे लिपिबद्ध करने की मंशा से आप घटना के अन्य साथियों से बातचीत करें तो बहुत साफ लगेगा कि "घटना तो केवल एक है, परन्तु उसके बारे में कथन कई हैं।" सच का पता लगाना भारी कठिनाई का काम है। खासतौर से तब, जब आपने उस घटना को देखा भी न हो।

अब सोचिए। घण्टे दो घण्टे पहले घटी घटना का सच कैसे धुँधला हो गया ? फिर इतिहास तो 'पुरानेपन' का आँकड़ा होता है। लेखक ने जो कुछ लिखा होगा, वह न जाने किन्हें आधार मानकर लिखा होगा। ऐसे में

इतिहास का सच हास का पात्र है। भारी अविश्वसनीय। पक्षपातपूर्ण। तब इतिहास से प्राप्त सूचना के आधार पर दिया गया निष्कर्ष कितना सच होगा – कितना झूठ ? कितना वैज्ञानिक ? क्या ऐतिहासिक पद्धति किसी काल के सच को उजागर करने में सचमुच सक्षम है।

अगर इतिहास पर विश्वास कर ही लिया जाय तो क्या है इतिहास ? कहते हैं – "इतिहास निर्माण, पुनर्निर्माण की उन घटनाओं का प्रत्यक्ष वर्णन है, जो पिछले समय में किसी समाज में हुआ है। साथ ही समाज को प्रभावित किया है।"

श्रीमती पी.वी. यंग (P.V. Young) ने लिखा है कि "ऐतिहासिक पद्धति आगमन (induction) के सिद्धान्तों के आधार पर अतीत की उन सामाजिक शक्तियों की खोज है जिन्होंने कि वर्तमान को ढाला है। "

किन्तु भारत में इतिहास लेखन का सामाजिक स्वरूप और पश्चिमी देशों में इतिहास लेखन के राजनीतिक तरीकों में न केवल शब्द ओर भाषा का वरन् सम्पूर्ण चिन्तन का अन्तर है। भारत में घटना की 'प्रधानता' और 'प्रभावकता' का वर्णन इतिहास – इति + ह + आस् है। पश्चिम में महिमामण्डित व्यक्ति, व्यक्तित्व और सामर्थ्य का विवरण हिस्ट्री है। History शब्द पर निगाह डालें। यह शब्द His + Story का संचिप्त रूप है। हिज हाइनेस, हिज मैजेस्ट्री जैसे महिमामण्डित उद्बोधनों में जो 'हिज' शब्द है उससे बना हुआ है। हिस्ट्री उसकी कहानी जो महिमावान था। महासामर्थ्यवान था। इसलिए सामाजिक अनुसन्धान करते समय शोधकर्त्ता को और अधिक सावधान रहना चाहिए कि उसका अध्ययन व्यक्तियों की चकाचौंध में भावात्मक होकर वैषयिकता को न खो दे।

ऐतिहासिक विधि से अध्ययन में क्या–क्या ध्यान में रखें ?

(1) यह कि, तब की घटनाएँ हैं और अब इन्हें समझने की कोशिश हो रही है – इन समयों में भारी अन्तर है।

(2) इतिहास लिखे जाते समय समाज, संस्कृति, मनोविज्ञान और राजनीति – सबके सब आज से भिन्न थे।

(3) इतिहास कभी भी आम आदमी का नही होता। यह एक वर्ग का घटनात्मक वर्णन होता है।

(4) तब और अब के पर्यावरण में बहुत अन्तर है।

(5) जीवन और समूह की प्राथमिकताएँ एवं प्राइकताएँ बदल गयी हैं।

इसलिए घटनाओं में समानता भी दिखाई दे तो उसकी व्याख्या समान नहीं होगी। ये बातें अध्ययन के समय याद रहेंगी तो ऐतिहासिक अध्ययन में सावधानी बढ़ जायेगी।

क्या सावधानी रखें ?

(1) सामाजिक अन्तर्दृष्टि बनी रहे। घटनाओं में कार्य–कारण सम्बन्ध खोजते समय – परिणामों की व्याख्या करते वक्त – यह सूझ बनी रहे कि इतिहास में लिखी घटना, बात, व्यवस्था उस काल की उपज थीं। आज की घटना पर उन घटनाओं का सीधा प्रभाव नहीं हो सकता। चर (variables) बदल गये हो सकते हैं। अतः सामान्यीकरण करते समय बहुत सावधान रहना चाहिए।

(2) ऐतिहासिकता के 'क्यों', 'कब', 'कैसे' का ज्ञान होना चाहिए। सामाजिक मान्यता, राजनीति परिस्थिति, प्राकृतिक वातावरण, जनसंख्या, सामाजिक–आर्थिक मूल्यों का एक आँकलन होना चाहिए। तभी, वर्तमान में सार्थक अध्ययन सम्भव है। इस दृष्टिकोण की बहुत आवश्यकता होती है – अध्ययन के दौरान।

(3) वस्तुनिष्ठ पहुंच (objective approach) आवश्यक शर्त्त है। इसी से यथार्थ अध्ययन और परिणाम दोनों ही पाये जा सकते हैं। तथ्य जैसे हैं, जो हैं और जिस दिशा का बोध करा रहे हैं उन्हें उसी रूप में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना ही वस्तुनिष्ठता (objectivity) है। अपनी भावनाएँ, इच्छाएँ या हठ उस तथ्य से न जोड़े जाएँ। **ग्रीन** कहते हैं कि वस्तुनिष्ठता निष्पक्षता के प्रमाणों का परीक्षण करने की इच्छा और योग्यता का नाम है। (Objectivity is the willingness and ability to examine the evidences dispassionately) ।

(4) विश्लेषण करने, समन्वय करने की क्षमता रहे। केवल क्षमता ही नहीं उसके प्रयोग की मानसिकता भी होनी चाहिए। यह स्पष्ट रूप से जानना चाहिए कि इतिहास अतीत के आँचल पर बिखरी हुयी असम्बद्ध घटनाओं का एक दस्तावेज या रिकार्ड मात्र नहीं अपितु एक समय व परिस्थिति विशेष में पाये जाने वाले समन्वित सामाजिक जीवन का विवरण है। अतः ऐतिहासिक पद्धति के अन्तर्गत अध्यन करने वाले अनुसन्धानकर्त्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह अध्ययन–विषय से सम्बन्धित समस्त तथ्यों का सम्बन्ध रूप में विश्लेषण (analysis) करे और साथ ही अतीत के साथ वर्तमान का समन्वय करने वाले आधारों को खोज निकाले।

(5) सम्बन्धित तथ्यों का ही संकलन किया जाय। चूँकि ऐतिहासिक स्त्रोतों का विशाल जंगल है। हमारा अध्ययन संक्षिप्त। इसलिए यह आवश्यक है कि हम असंख्य प्रकार के तथ्यों में से केवल उन संदर्भयुक्त और विश्वसनीय तथ्यों को ही सावधानी से चुनें जो कि अध्ययन–विषय से वास्तविक अर्थ में सम्बन्धित हैं और घटना पर रोशनी डालने में समर्थ हैं।

(6) सृजनात्मक कल्पनाशीलता भी आवश्यक गुण है। शोधकर्त्ताओं में विषय को समझने की क्षमता ही नहीं होनी चाहिए बल्कि उर्वर कल्पना–शक्ति भी होनी चाहिए जिससे कि वह एक सम्पूर्ण चित्र अपने मन में उतार सके। इतिहास घटनाओं का सूक्ष्म वर्णन नहीं करता। उसकी सामग्री भी एकदम व्यवस्थित ढंग से नहीं मिलती। उसके

टुकड़ों को जोड़कर पूरा ताना–बाना तैयार करना चाहिए और समग्र चित्र बनाना चाहिए। इसके लिए उसमें कल्पना–शक्ति की आवश्यकता होगी।

(7) सूचनाओं को तथ्य में बदलकर लिखने, व्यक्त करने की भी सावधानी रखनी चाहिए।

ऐतिहासिक तथ्यों के स्त्रोत कौन–कौन से हैं ?

(1) लिखित सामग्रियाँ (documents)।

(2) विश्लेषित ऐतिहासिक तथ्य एवं विद्वानों के निष्कर्ष।

(3) सांस्कृतिक इतिहास।

(4) सभ्यता के अवशेष।

(5) जनकथाओं के बिखरे सूत्र।

(6) गवाह।

(7) कार्बन डेटिंग।

(8) शिला एवं पत्र व्यवस्था।

ऐतिहासिक विधि का महत्व (Importance)

भौतिक एवं सामाजिक विज्ञान – दोनों में ही इतिहास शोध का महान स्त्रोत है, वशर्ते शोधकर्त्ता तथ्यों को बेकार की चीजों में से निकाल सके। कार्बन कब कोयला और किस इतिहास में हीरा हुआ – यह अध्ययन भौतिक विज्ञान के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना किसी समाजशास्त्री को यह जानना कि किस इतिहास के किस अनुभव से कोई जनरीति, संस्था या संगठन बने ? क्यों कोई समूह वनवासी बन गया और कोई कैसे नागरिक हो गया ? आदि–आदि। इसी बात को **बर्नाड शॉ** ने और इतिहासकार **आर्थर शेलसिंगर** ने भी कहा है, ''अतीत, जीवन से टूटी हुयी कड़ी नहीं, समूह के भीतर छिपी हुयी वास्तविकता है।'' अथवा, अतीत के लम्बे हाथ दिखाई भले ही न दें पर वे वर्तमान को भी सहलाते रहते हैं।

ऐतिहासिक पद्धति की सीमाएँ (Limitations)

(1) ऐतिहासिक तथ्यों की प्राप्ति अति कठिन है। पुराने साक्ष्य एक तो मिलते नहीं, मिलें भी तो कितने विश्वसनीय हैं – ज्ञात नहीं होता। कई के तो भाषा या उनके वास्तविक अर्थ नहीं मिलते। काल गणना की भी समस्या है। क्षेपक अंशों की भी सम्भावना है।

(2) रिकार्ड तलाश पाना भी कम कठिन नहीं है। जो उपलब्ध रिकार्ड हैं, वे भी ऐसे रखे गये हैं कि शोधकर्ता बहुधा निराश हो जाते हैं। समय और धन का उपव्यय होने लगता है।

(3) तथ्यों का पुनः परीक्षण सम्भव नहीं है।

(4) गणना और माप भी सम्भव नहीं है।

इसलिए ऐतिहासिक शोध बहुधा 'सम्भावना के निष्कर्ष' बनकर रह जाते हैं।

आगमन पद्धति (INDUCTIVE METHOD)

क्या है ? – निगमन पद्धति (Deductive Method) का विपर्यय पथ है। तथ्य खोजने का। तर्क को आधार बनाकर यह पद्धति तथ्यों का संकलन और विश्लेषण करती है। यह विशिष्ट के सामान्य, सूक्ष्म से व्यापक निष्कर्षों की स्थापना में सहायक है। इसमें (The process of logic is from particular to general) तक का क्रम विशिष्ट से सामान्य की ओर होता है। इसे **अनुभवाश्रित** (Empirical Method) या कभी–कभी **ऐतिहासिक पद्धति** (Historical Method) भी कह दिया जाता है।

उदाहरण –

'अ' आदमी मर गया।

'ब' आदमी भी मर गया।

'स' भी आदमी था और मर गया।

अर्थात् 'आदमी' – नाम चाहे जो हो – मर जाते हैं,

मतलब आदमी मरणशील है (Man is mortal)

आगमन पद्धति के गुण (Merits)

(1) इस पद्धति का प्रयोग कठिन है क्योंकि विशिष्ट घटनाओं का वैज्ञानिक निरीक्षण करना तथा उनके अनुक्रम(sequence) को ढूँढ़ निकालना सरल कार्य नहीं होता। इसके लिए आवश्यक प्रशिक्षण (training) की बहुत जरूरत होती है।

(2) इस पद्धति द्वारा निकाले गए निष्कर्ष यथार्थ नहीं होते, विशेषकर उस दशा में जब कि निरीक्षण का क्षेत्र बहुत सीमित रखा गया हो और थोड़े से आँकड़ों के आधार पर ही निष्कर्ष निकाल दिया गया हो। उस अवस्था में निष्कर्षों के गलत होने की सम्भावना अधिक रहती है।

(3) इस पद्धति के अन्तर्गत पक्षपातपूर्ण निष्कर्षों की बहुत सम्भावना रहती है क्योंकि अनुसन्धानकर्त्ता आँकड़ों को अपनी इच्छानुसार किसी भी तरफ झुका सकता है। 'आँकड़ों द्वारा कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है।' (Statistics can prove anything) – यह कथन प्रायः इस पद्धति पर लागू हो जाता है।

(4) इस पद्धति में दो बातों को एक साथ देखकर उनमें से एक को 'कारण' और दूसरे को 'परिणाम' मान लिया है। यह त्रुटिपूर्ण पद्धति है।

निगमन पद्धति (DEDUCTIVE METHOD)

क्या है ? – निगमन प्रणाली के अनुसार नियमों एवं सिद्धान्तों की रचना तथा सत्य बातों का ज्ञान मनुष्य, प्रकृति तथा समाज से सम्बन्धित कुछ सवयं सिद्ध एवं आधारभूत बातों के आधार पर किया जाता हे। इस प्रणाली का आधार तर्क है। इसके अन्तर्गत हम पहले तो कुछ सामान्य एवं आधारभूत सत्य बातों को लेते हैं फिर उनके **आधार पर तक–वितर्क द्वारा नियमों की रचना कर लेते हैं।**

निगमन विधि में निश्चित सिद्धान्तों को व्यक्तिगत इकाइयों पर लागू किया जाता है। निगमन विधि का प्रचलित उदाहरण इस प्रकार है – मनुष्य मरणाशील है। दशरथ मनुष्य हैं। अतः दशरथ भी एक न एक दिन मरेंगे।

निगमन विधि की विशेषताएँ (Qualities of Deductive Method)

(1) **सरलता** इस पद्धति का सर्वप्रमुख गुण है क्योंकि इसके अन्तर्गत आँकड़ों को एकत्रित व विश्लेषित करने इत्यादि कठिन व जटिल कार्य नहीं करने पड़ते हैं, अपितु इसमें केवल सामान्य तथा स्वयंसिद्ध मान्यता के आधार पर तर्क की सहायता से विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

(2) **निश्चितता** तथा **स्पष्टता** इस पद्धति का दूसरा गुण है। यदि स्वयंसिद्ध तथ्य (axioms) तथा मान्यताएँ ठीक हों तो इस पद्धति द्वारा निकाले गए निष्कर्ष सामान्यतः निश्चित, यथार्थ और स्पष्ट होते हैं क्योंकि इसमें त्रुटियों को तर्क की सहायता से दूर किया जा सकता है।

(3) **सार्वभौमिकता** (Universality) इस पद्धति का एक अन्य गुण है। इस पद्धति द्वारा निकाले गए निष्कर्ष तथा नियम हर देश में सत्य सिद्ध होते हैं क्योंकि वे मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव–सम्बन्धी सामान्य मान्यताओं पर आधारित होते हैं।

(4) **निष्पक्षता** (Impartiality) इस पद्धति का एक उल्लेखनीय गुण है। चूँकि इस पद्धति के अन्तर्गत निष्कर्षों को सामान्य सत्य के आधार पर तर्क की कसौटी पर परख कर निकाला जाता है इस कारण अनुसन्धानकर्त्ता निष्कर्षों को अपने विचार तथा दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं कर सकता।

निगमन पद्धति के दोष (Demerits of the Deductive Method)

(1) यह कहा जाता है कि निगमन पद्धति द्वारा प्राप्त निष्कर्ष प्रायः वास्तविकता से दूर होते हैं। इसका कारण यह है कि इसमें जिन मान्यताओं को आधार माना जाता है, वे सदैव सत्य या वास्तविक नहीं होते या अंशतः ठीक होते हैं। अतः जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे यथार्थ व वैज्ञानिक न होकर केवल 'बौद्धिक खिलौने' (intellectual toys) मात्र ही होते हैं।

(2) इस पद्धति द्वारा प्राप्त निष्कर्ष या नियम **सार्वभौम** (universal) नहीं होते। इसका कारण यह है कि सामाजिक दशाएँ प्रत्येक समाज और समय में एक सी नहीं होतीं, इस कारण एक समाज और समय विशेष के सम्बन्ध में तर्क द्वारा निकाले गए निष्कर्षों का दूसरे समाज व समय पर लागू नहीं किया जा सकता। इसीलिए **प्रो. ए.पी. लर्नर** (A.P. Learner) का कहना है कि निगमन आराम–कुर्सी विश्लेषण (deductive arm-chair analysis) को सार्वभौमिक नहीं माना जा सकता।

एक विशेष बात

सम्मिलित विधि (Joint Method) – आगमन और निगमन विधियों के अधूरेपन को ध्यान में रखकर **प्रो. मिल** ने दोनों को मिलाकर एक नई विधि का निर्माण किया है। इसका नाम मिश्रित विधि या सम्मिलित विधि है। इसके दो स्वरूप हैं –

(1) **भौतिक स्परूप** –इसमें निगमन का प्रयोग पहले होता है।

(2) **ऐतिहासिक स्वरूप** –इसमें आगमन का प्रयोग पहले होता है।

निदर्शन (SAMPLING)

नि + दर्शन = निदर्शन अर्थात् विस्तृत का दर्शन करे पर छाँट ले उसमें से कुछ ऐसे तथ्य जो सम्पूर्ण का प्रतिनिधित्व करे। मतलब, ऐसी इकाई की पहचान जिसमें समग्र में पाये जाने वाले गुण हों। केवल हों ही नहीं वरन् प्रतिबिम्बित भी हों। निदर्शन का सबसे सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं – भारतीय महिलाएँ । पूरी बटलोही में

पक रहे चावल की स्थिति जाननी हो तो वे मात्र कुछ चावल निकालकर परीक्षण करती हैं, और निर्णय दे देती हैं – पूरी बटलोही में भरे पूरे चावल की स्थिति पर। सारे जीवन में निदर्शन की भूमिका भरी पड़ी है। खेत की फसल पकी कि नहीं – तो चारों कोनों की दस–बीस बालियाँ देखकर किसान बता देता है। कक्षा में गणित की पढ़ाई ठीक–ठीक हुई कि नहीं – निरीक्षक कुछ चुने बच्चों से पूछकर जान लेता है। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं। ये सब निदर्शन हैं। अर्थ यह निकला कि "समान गुण और प्रकृति वाली विशाल राशि की इकाइयों में से 'कुछ' के देख–परख कर निर्णय तक पहुँचने कि विधि को **निदर्शन (sampling)**कहते हैं।" इस कुछ को 'इकाई' या 'एलीमेण्ट' भी कहा जाता है।

कुछ प्रचलित परिभाषाएँ

"केवल कुछ ही पाउण्ड कोयले के परखने से प्राप्त प्रमाण के आधार पर गााड़ी भर कोयला स्वीकृत या अस्वीकृत कर दिया जाता है। केवल एक बूँद रक्त की परीक्षा कर डॉक्टर रोगी के रक्त के बारे में निष्कर्ष निकाल लेता है।"

"निदर्शन कुछ ही इकाइयों के अवलोकन द्वारा बड़ी मात्राओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने की युक्तियाँ हैं।"

—–स्नेडेकोर

कई अन्य विद्वानों ने निदर्शन को संक्षेप में समझाने की कोशिशें की हैं –

"एक निदर्शन जैसा कि नाम से स्पष्ट है किसी विशाल सम्पूर्ण का छोटा प्रतिनिधि है।"

–गुडे एवं हाट

"एक सांख्यकीय निदर्शन उस सम्पूणर्प समूह अथवा योग का एक अति लघु चित्र है जिसमें से कि निदर्शन लिया गया है।"

– पी.वी. यंग

"निदर्शन शब्द का प्रयोग केवल किसी समग्र चीज की इकाइयों के एक सेट या भाग के लिए किया जाना चाहिए जिसे इस विश्वास के साथ चुना गया है कि वह समग्र का प्रतिनिधित्व करेगा।"

–फ्रेंग याटन

"निदंर्शन एक पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार इकाइयों के बड़े समूह में से निश्चित प्रतिशत का चयन है।"

–बोगोर्डस

फेयरचाइल्ड (Fairchild) ने अपनी **डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी में लिड्रेड पार्टन** के शब्दों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "एक निश्चित संख्या में व्यक्तियों, मामलों या निरीक्षणों को एक समग्र विशेष में से निकालने की प्रक्रिया या पद्धति अथवा अध्ययन के हेतु एक समग्र समूह में से एक भाग को चुनना निदर्शन पद्धति कहलाती है।".

सारांश क्या हुआ –यह कि –

(1) बहुसंख्यक व्यक्ति, वस्तु, स्थिति का अध्ययन करना हो,

(2) प्रत्येक से अलग–अलग मिलकर अध्ययन करना असम्भव हो,

(3) तब निदर्शन विधि का प्रयोग किया जाता है। ध्यान रखते हुए कि –

(4) जिन इकाइयों का अध्ययन करें वे बड़े समूह के गुण–दोषों का प्रतिनिधित्व कर सकें और

(5) इकाइयाँ कितनी चुनी जाएँ – इस पर अवश्य ध्यान दें। सम्पूर्ण संख्या में इनका अनुपात ठीक–ठाक होना चाहिए।

निदर्शन के औचित्य का आधार

प्रश्न है, कि कौन से आधार हैं जिनके कारण यह मान लिया जाय कि थोड़ी–सी इकाइयों के अध्ययन से विशाल समूह के बारे में निकाला गया निष्कर्ष सही है ? ऐसा मान लेने के कई आधार हैं। जैसे –

(1) **सामाजिक तथ्यों की विविधता के बीच सजातीयता (Homogenety) का आधार** –सामान्य रूप से देखने पर साफ–साफ लगता है कि दो व्यक्तियों, दो तथ्यों और दो घटनाओं में पर्याप्त भेद रहता है। उनकी जटिलताएँ और असमानताएँ जाहिर होती हैं। इतना होने पर भी उनमें कई बातों की समरूपता, सजातीयता और समानता रहती ही है। उदाहरण के लिए – सबके अँगूठे एक दूसरे से भिन्न होते हैं पर यह भी सच है कि सबके पास एक ही तरह के अँगूठे होते हैं। उँगलियों के एक किनारे। यही बात सामाजिक तथ्यों के सन्दर्भ में भी लागू होती है। बाहर से अन्तर होने पर भी अनेक समताएँ होती हैं। ये 'समताएँ' ही सैम्पल पद्धति के प्रयोग का आधार बनती हैं। समताएँ शत–प्रतिशत न भी हों, परन्तु समताओं की प्रायिकता अति उच्च हो तो भी उन्हें अध्ययन के लिए उपयुक्त मान लिया जाता है।

(2) **प्रतिनिधि इकाई के चुनाव की सम्भावना का अधिक होना** – दूसरा आधार उस विश्वास और व्यवहार का है जिसके कारण शोधकर्त्ता यह मानता है कि किसी समग्र में कई–कई भिन्नताओं वाले कई समूह होते हैं। ये समूह उसी समग्र के दूसरे समूहों से भिन्न होते हैं पर अपने भीतर समान इकाइयों से बने रहते हैं। निदर्शन विधि से इन प्रत्येक उपसमूहों में से प्रतिनिधि इकाईयों का चुनाव किया जा सकता है। इससे अधिक तर्कसंगत

अध्यन हो जाता है। प्रतिनिधित्व अधिक व्यापक एवं विश्वसनीय हो जाता हे। यही व्यापकता और विश्वसनीयता निदर्शन प्रणाली को अधिक उचित घोषित करती हे।

(3) **निष्कर्षों का सत्यता के निकट होना** – यह उल्लेखनीय है कि अगर समग्र का चुनाव ठीक ढंग से हुआ है तो उसकी विशेषताओं के फैलाव और गहराई का निरीक्षण कर सैम्पलिंग की गयी है। सैम्पलिंग करते समय इकाइयों में समता की सम्भावना (probability) और इकाइयों में भिन्नता की सम्भावना पर दृष्टि रखी गयी है तो, उन इकाइयों के अध्ययन से जो भी निष्कर्ष निकलेगा, वह समग्र के लिए अति उच्चता की सीमा तक सही हो सकता है। सत्यता की सीमा तय होने का आश्वासन भी निदर्शन के लिए औचित्य का आधार है। यह बात ध्यान में रखने लायक है कि थोड़े–बहुत प्रतिशत का अन्तर दिखाने वाला निष्कर्ष सही के समीप ही माना जाता है। **उदाहरण के लिए देखें** – मान लिया जाय, हम किसी गरीब बस्ती में बँधुआ बाल मजदूरी का सर्वेक्षण करना चाहते हैं हमने इस सर्वेक्षण को दो ढंग से किया। पहला ढंग यह था कि हमने सभी उन परिवारों का एक–एक कर अध्यन किया, जिनके बच्चे बँधुआ मजदूर हैं। निरीक्षण, साक्षात्कार और अन्य विधियों का सैकड़ों लोगों पर प्रयोग करने में महीना भर लगाया। काफी पैसा एवं श्रम खर्च किया। तब जाकर निष्कर्ष निकला कि 15 प्रतिशत गरीब परिवारों के बच्चे प्रलोभन में आकर, 7 प्रतिशत बच्चे भूख से दुःखी होकर और 9 प्रतिशत बच्चे स्कूल जाने के भय से घर से भाग जाते हैं और बँधुआ मजदूर बन जाते हैं।

उपरोक्त विधि, संगणना (census) विधि थी। अब हमने यही अध्ययन निदर्शन विधि (sampling) से किया। प्रतिनिधि इकाइयों का चयन कर थोड़े समय, थोड़े खर्च में किया। परिणाम पाया कि 15 प्रतिशत की जगह 14.3 प्रतिशत बच्चे, 7 प्रतिशत की जगह 7.9 प्रतिशत बच्चे और 9 प्रतिशत की जगह 9.98 प्रतिशत बच्चे ऊपर कहे गये कारणों से बँधुआ मजदूर हो जाते हैं तो क्या इस निष्कर्ष को गलत मान लिया जायेगा ? नहीं। क्योंकि वह परम शुद्ध तो नहीं पर शुद्ध के बहुत निकट है।

सैम्पल चुनते समय क्या–क्या ध्यान दें ? (निदर्शन की विशेषताएँ)

अच्छे निदर्शक और निदर्शन (sampling) की क्या विशेषताएँ हैं? किन विशेषताओं पर ध्यान दें कि कोई निदर्शन संक्षिप्त होकर भी विश्वसनीय हो ? यहाँ हम कुछ आवश्यक विशेषताओं का उल्लेख कर रहे हैं।

(1) **निदर्शन की चुनी इकाइयाँ वास्तव में समग्र की प्रतिनिधि हों** – विश्वसनीय और श्रेष्ठ निदर्शन की यह विशेषता होती है कि उसमें चुनी हुयी इकाइयाँ समग्र का अधिकतम प्रतिनिधित्व करती हैं। यह तभी सम्भव होता है जब इकाइयों को चुनते समय, उस समग्र की समानताओं और विषमताओं को ध्यान में रखा जाये। 'समता, भिन्नता और विषमता' से भरे उप समूहों के बीच से समानुपातिक प्रतिनिधि चुने जाएँ। प्रतिनिधित्व ठीक रहे उसके लिए **लुण्डवर्ग'** ने दो सावधानियों का उल्लेख किया है –

(अ) इकाइयों में एकरूपता पर ध्यान रखें।

(ब) उपयुक्त विधि से इकाइयों का चुनाव करें।

(2) **जितना बड़ा समग्र हो उसके अनुरूप ही इकाइयों की संख्या हो** –यद्यपि **पी.वी. यंग** का कहना है कि बड़े समग्र के अध्ययन के लिए ढेर सारी इकाइयों का चुनाव करना कोई आवश्यक शर्त्त नहीं है। और कारण बताती हैं कि गलत तरीके से सैम्पल किए हुए तथ्य उतनी अच्छी तरह जानकारी नहीं देते, या यूँ कहिए कि अच्छा प्रतिनिधित्व नहीं करते, जितना कि सही तरीके से चुने हुए तुलना में कम इकाइयाँ ही सही सूचनाएँ दे देती हैं या प्रतिनिधित्व कर देती हैं। – फिर भी – मेरी दृष्टि में इस कथन को सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। शोधकर्त्ता को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि समग्र की तुलना में चुनी हुई इकाइयों का प्रतिशत–अनुपात काफी अच्छा हो। हो सके तो यह 25 प्रतिशत से कम न रहे। चुनाव करते समय जो कुछ भी 'उचिततम' हो – उस सावधानी का अधिकतम प्रयोग किया जाना चाहिए।

माना हमें पाँच हजार विद्यार्थियों की विशेषताओं का सर्वेक्षण करना है। हमने अति सावधानी के चलते केवल पाँच विद्यार्थियों को ही चुना या सैम्पल किया। अर्थात् एक हजार में एक विद्याार्थी चुना 1010 प्रतिशत । इसमें कभी भी उचित प्रतिनिधित्व एवं निष्कर्ष की आशा नहीं करनी चाहिए। अस्तु हमें सैम्पल इकाइयों की मात्रा इतनी कम नहीं रखनी चाहिए कि परिणाम व्यर्थ हो जाये। अति विषम परिस्थितियों में भी 10 प्रतिशत से कम इकाइयों का चुनाव सार्थक नहीं होगा।

(3) **सैम्पलिंग में समग्र की सभी इकाइयों को चुने जाने का अवसर हो तो बेहतर** – हालांकि सैम्पलिंग में 'समान अवसर' और 'अनवसर' (probability of being selected and non-probability of being selected) दोनों विधियों को स्वीकार किया गया है। फिर भी, समस्त इकाईयों को चुने जाने का समान अवसर दिया जाना अधिक वैज्ञानिक माना जाता है।

समान अवसर (probability) का सिद्धान्त यह आश्वासन देता है कि समग्र की प्रत्येक इकाई को सैम्पलिंग अपना एलीमेण्ट या तत्व मानता है। इसलिए प्रत्येक को चुने जाने के लिए समान भाव रखता है और समान अवसर देता है। यह बात अलग है कि अवसर की कमी के कारण उसे चुना नहीं गया। वहीं 'अनवसर' (non-probability) का सिद्धान्त यह कहता है कि किसी इकाई या एलीमेण्ट को चुन लिए जाने का समान अवसर देने का वादा भी नहीं किया जा सकता है।

'समान अवसर' और 'अनवसर' के सिद्धान्तों को मिलाकर देखने से ही यह पता चलता है कि 'सैम्पल्ड' इकाइयों की संख्या या उनका आकार कितना होना चाहिए ? **पार्टेन** ने सैम्पल के आकार की चर्चा करते हुए लिखा है कि "वह निदर्शन उत्तम होता जो कुशलता, प्रतिनिधित्व, विश्वसनीयता और लोच से भरा–पूरा होता है।

अनावश्यक खर्च श्रम से बचाने की दृष्टि से निदर्शन के आकार को पर्याप्त छोटा होना चाहिए परन्तु त्रुटियों से बचने के लिए इसका आकार पर्याप्त बड़ा होना चाहिए।''

(4) **निष्पक्षता आवश्यक है** – एक श्रेष्ठ निदर्शन को पक्षपात एवं मिथ्या–झुकाव से स्वतन्त्र होना चाहिए अन्यथा वह प्रतिनिधित्वपूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता। निदर्शन का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रहे कि वह अनुसन्धानकर्त्ता की रूचि, स्वार्थ, सुविधा एवं स्वेच्छा पर आधारित न हो, न ही उसमें पूर्व–धारण या अनुसन्धानकर्त्ता की असावधानी का कोई प्रभाव हो।

(5) **निदर्शन कार्य साधनों के अनुरूप होना चाहिए** – एक प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन वह है जो अनुसंधानकर्त्ता के पास उपलब्ध साधनों के अनुरूप हो। साधनों को ध्यान में रखकर ही निदर्शन की संख्या, प्रकार और विधि का निश्चय किया जाना चाहिए।

(6) **उद्देश्यों के अनुरूप ही सैम्पलिंग की जानी चाहिए** –सैम्पलिंग या निदर्शन मात्र एक अजीवित विधि है उसकी गुणवत्ता तो निदर्शन करने वाले शोधकर्त्ता की योग्यता पर आधारित है। यह उस कार की तरह है जिसका ड्राइवर अगर चलाने की क्रिया जानने के साथ–साथ अपना गन्तव्य जानता हो तो कार उसे सही स्थान पहुँचा देगी। वरना कार भी भटकेगी और कार चालक भी। उसी तरह शोधकर्त्ता यदि सर्वेक्षण के उद्देश्यों को पूरी तरह जानता है, उसी के अनुरूप क्रिया–विधि का प्रयोग करता है तो सर्वेक्षण पूरी तरह सफल और विश्वसनीय होता है। सफलता और विश्वसनीयता के प्रति यही आशा सैम्पलिंग की छठी विशेषता है। **उदाहरण के लिए** –कोई शोधकर्त्ता यदि यह जानना चाह रहा हो कि किसी विधान सभाई क्षेत्र में कौन–सा राजनीति दल विजयी होगा तो उसे अपने 'उद्देश्य', 'विधान सभाई क्षेत्र' और 'मतदाता' तीनों की सीमा बनानी पड़ेगी। 'मतदाता' को विशेष तौर से परिभाषित करना पड़ेगा। राजानीतिक दल के प्रति या विपक्ष में विचार तो पूरी जनता रख सकती है। जिसमें बच्चे, किशोर, युवा और बूढ़े सभी सम्मिलित हो सकते हैं। अब शोधकर्त्ता किसका सर्वेक्षण करे ? – पूरी जनसंसख्या का या उनका जिनकी आयु मतदान करने की हो गयी है। चूँकि मतदान तो 'वयस्क' ही कर सकते हैं – इसलिए उन्हीं का सर्वेक्षण किया जाना उचित है। उन्हीं में से सैम्पलिंग की जानी चाहिए।

(7) **व्यावहारिक अनुभव पर आधारित हो** – एक उत्तम निदर्शन का चयन करने के लिए हमें अन्य अनुभवी अध्ययनकर्त्ताओं के अनुभवों का भी उपयोग करना चाहिए। यदि जिस क्षेत्र का हम अध्ययन कर रहे हैं, उसका पूर्व में भी किसी ने अध्ययन किया है तो उससे सम्पर्क कर उसके अनुभवों का लाभ उठाना चाहिए। इसी प्रकार से इसी प्रकृति के यदि कोई अन्य अनुसन्धान किये गये हों तो उनके प्रतिवेदनों एवं निदर्शन–आधारों का लाभ उठाया जा सकता है।

(8) **सामान्य ज्ञान तथा तर्क पर आधारित होना चाहिए**– एक उत्तम निदर्शन वह है जो सामान्य ज्ञान एवं तर्क पर आधारित हो। निदर्शन को तर्क की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। केवल सूत्रों और नियमों का

अन्धानुकरण करने से ही आदर्श निदर्शन का चुनाव नहीं किया जा सकता। नियमों एवं सूत्रों के साथ–साथ निदर्शन के चुनाव अनुसन्धानकर्त्ता को तर्क एवं सामान्य ज्ञान का भी प्रयोग करना चाहिए।

निदर्शन प्रणाली की सीमाएँ (Limitations)

साधारण समझदारी यह कहती है कि मानव निर्मित कोई भी विधि–क्षेत्र चाहे भौतिक विज्ञान का हो या सामाजिक – शत–प्रतिशत त्रुटिहीन नहीं होती। निदर्शन भी अपनी कई विशेषताओं के बावजूद – त्रुटि से मुक्त नहीं है। इसकी अपनी सीमाएँ हैं।

(1) पहली सीमा तो यह है कि इसमें पूर्ण निष्पक्षता नहीं हो पाती।पूर्ण निष्पक्षता के लिए अतिरिक्त श्रम करने पर तथ्यों से दूर रह जाने का खतरा बना रहता है। जो निदर्शन करने वाले अनुसंधानक हैं – उनकी अपनी दृष्टि – अपने लगाव–बुझाव या दोष–गुण निदर्शन को प्रभावित कर ही जाते हैं। परिणामतः ि र्षों की शत–प्रतिशत शुद्धि का दावा पूरा नहीं होता।

(2) प्रतिनिधि एलीमेंण्ट्स (इकाइयों) का चुनाव सदा खरा ही नहीं हो पाता। खासतौर पर तब और कठिनाई हो जाती है जब समग्र **(universe)** की विविध इकाइयों में गुणात्मक व परिणामात्मक अन्तर अत्याधिक हो। जब प्रतिनिधित्व ही सन्देह के घेरे में हो तो निष्कर्ष को पूर्ण विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

(3) अनुसन्धानकर्त्ता यदि पूर्ण दक्ष, सूझवान, अनुभवी और व्यावहारिक न हो तो निंदर्शन करना ही कठिन हो जाता है। अनुभवी निदर्शकों की बहुत कमी रहती है।

(4) कभी–कभी निदर्शन के चक्कर में वह इकाई छूट जाती है जो अध्ययन के लिए वास्तव में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। तब सारा का सारा अध्ययन अनजाने ही 'छल–अध्ययन' बनकर रह जाता है।

(5) कई बार ऐसा होता है निदर्शन में चुन ली गयी इकाई पहुँच के बाहर होती है। हम उसके नाम पर अध्ययन छोड़ नहीं पाते। परिणामतः दूसरी इकाई का चुनाव करना पड़ता है। इससे निदर्शन के सिद्धान्त का तो हनन होता ही है, परिणाम भी डगमग हो जाता है।

इन सब सीमाओं पश्चात् भी मानवीय अध्ययन की आध्यताएँ, निदर्शन को सामाजिक अध्ययन के लिए सफल विधि मानती हैं। इस विधि के प्रयोग से जितने लाभ हैं उनकी तुलना में त्रुटियाँ कम हैं। अनुभवी निदर्शन हो तो कमियों को और भी घटाया जा सकता है।

निदर्शन प्रणाली के लाभ (Merits)

निदर्शन प्रणाली का प्रचार ज्यों–ज्यों होने लगा, त्यों–ज्यों इसके गुण और अवगुणों के साक्ष्य सामने आने लगे। पहले हम इसके गुणों का उल्लेख करेंगे –

(1) **इससे विस्तृत समग्र भी संक्षिप्त हो जाता है**– प्रथम दृष्टि में शोधकर्त्ता को अध्ययन क्षेत्र, समुदाय, समूह, तथ्य और घटनाएँ बहुत फैली और विशाल लग सकती हैं। यदि census विधि से इसका अध्ययन करना हो तो सोचकर ही थकान आ जाती है। निदर्शन का उपयोग कर प्रतिनिधि इकाइयों या एलीमेण्ट्स का चुनाव कर लिया जाता है, तब 'समग्र' के संक्षिप्त हो जाने के कारण अध्ययन – सर्वेक्षण बहुत सरल हो जाता है।

(2) **अध्ययन में समय की बचत होती है** – शोधकर्त्ता जब प्रतिनिधि इकाइयों को ही अध्ययन के लिए चुन लेता है तो सरलता बढ़ जाती है। काम का विस्तार घट जाता है। इसलिए अध्ययन करने में समय की भी बचत हो जाती है। समय का सैम्पलिंग में बहुत अधिक महत्व है। एक उदाहरण पर दृष्टि डालिए – किसी बस्ती में जानलेवा बीमारी फैली है ड्राक्टरों का एक दल 'रोगी और उनके लिए उचित दवा' विषय पर शोध करने जाते हैं। सर्वेक्षण शुरू होता है। पर डाक्टर सर्वेक्षण करने और निष्कर्ष निकालने में इतनी देर करते हैं कि दवाओं के रहने पर भी ॱ ्योग न किए जाने के कारण सभी रोगी मर जाते हैं। ... समय का उचित ध्यान न देने से यह हादसा हुआ । सर्वेक्षण व्यर्थ। इसलिए सर्वेक्षण में समय का ध्यान रखना बहुत जरूरी है। निदर्शन इसमें सहायक है।

(3) **धन की बचत है**– निदर्शन में कम इकाइयों का अध्ययन किया जाता है, अतः इससे धन की पर्याप्त बचत होती है। सामान्यतः सभी लोगों के आर्थिक साधन सीमित होते हैं। इसलिए सरकारी अध्ययनों के अतिरिक्त धनाभाव में अनुसन्धान का संचालन एक कठिन कार्य है। निदर्शन में संगणना विधि की अपेक्षा स्टेशनरी, फाइलों, कार्यकर्त्ता के वेतन, यात्रा–भत्ता आदि पर कम खर्च करना पड़ता है।

(4) **श्रम भी बचता है**– चूँकि निदर्शन में कम इकाइयों का अध्ययन करना पड़ता है, अतः अधिक श्रम **एवं कार्यकर्त्ताओं** की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार निदर्शन श्रम की बचत को प्रोत्साहन देता है।

(5) **अध्ययन भी गहरा तथा विस्तृत होता है** –जनगणना पद्धति में अनुसन्धानकर्त्ता का ध्यान असंख्य इकाइयों में बिखर जाता है और इसलिए उनका गहन अध्ययन सम्भव नहीं होता, केवल मोटी–मोटी बातों का पता लगाना ही सम्भव होता है। इसके विपरीत निदर्शन–प्रविधि में इकाइयों की संख्या पर्याप्त कम होती है। इसलिए अधिक समय तक तथा अधिक सूक्ष्म रूप से उनका अध्ययन तथा विवेचन किया जा सकता है। आधुनिक सामाजिक घटनाएँ अधिक जटिल होती हैं अतः उन्हें समझने के लिए उनका सूक्ष्म अध्ययन ही एक मात्र तरीका होता है। निदर्शन–प्रविधि इसी आवश्यकता की पूर्ति करती है क्योंकि इकाइयों की संख्या कम होने के कारण गहन अध्ययन सम्भव होता है।

(6) **निष्कर्ष भी कम यथार्थ नहीं होते हैं** – निदर्शन–प्रविधि के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता का ध्यान कुछ निश्चित इकाइयों पर केन्द्रित होने के कारण वह उनके सम्बन्ध में गहन अध्ययन करके अधिक यथार्थ निष्कर्षों को

निकाल सकता है। यदि निदर्शनों का चुनाव ठीक से किया गया तो उसके आधार पर होने वाले अध्ययनों के निष्कर्ष जनगणना–पद्धति की सहायता से किए गए अध्ययनों की ही तरह यथार्थ के निकट या यथार्थ होते हैं।

गुडे और **हाट** के शब्दों में निदर्शन के कई लाभ हैं –

(1) अध्ययन को ओर अधिक सटीक वैज्ञाानिक्ता प्रदान करता है।

(2) संक्षिप्तता प्रदान करता है।

(3) उद्देश्य की ओर केन्द्रित करता है।

(4) समय की बचत होती है।

(5) गहन अध्ययन होता है।

(6) विस्तृत अध्ययन होता है।

निदर्शन का क्षेत्र

चूँकि हर कहीं निदर्शन की विश्वसनीयता को स्वीकार किया जाने लगा है। समय, श्रम, धन की बचत में इसकी भूमिका को सम्मान मिलने लगा है। इसीलिए इसका प्रयोग समस्त सामाजिक एवं **भौतिक विज्ञानों के** क्षेत्रों में होने लगा है। एक पद्धति के रूप में इसका उपयोग जीवन विज्ञानों, कृषि विज्ञान, भौतिक शस्त्र, रसायन–शास्त्र – सब में हो रहा है। थोड़े में कहें तो – जहाँ भी विस्तृत 'चर' (variables) को ध्यान में रखकर परिनिरीक्षण किया जाना जरूरी है – वहाँ निदर्शन का प्रयोग अवश्यम्भावी हो गयी है।

निदर्शन के दो सैद्धान्तिक आधार

एम.जहोदा और **अन्यों** ने बताया है कि निदर्शन प्रविधि के दो सैद्धान्तिक आधार हैं –

(1) सम अवसर की प्रायिकता (Probability) का सिद्धान्त।

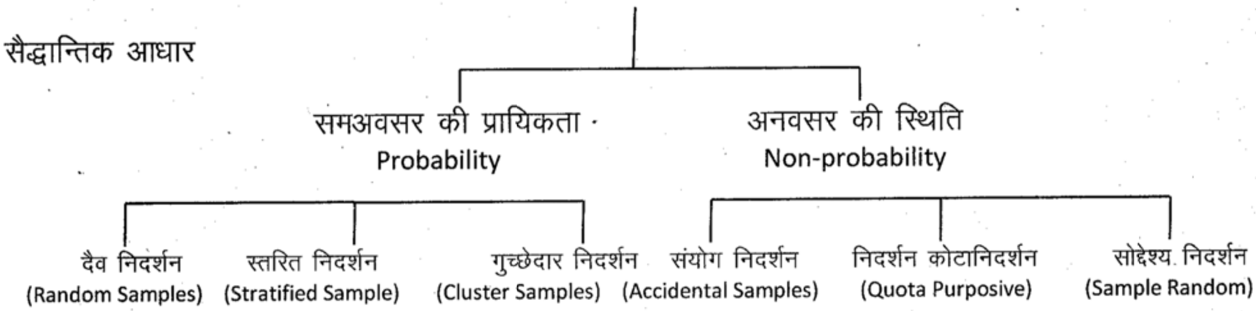
(2) अनवसर (Non-probability) का सिद्धान्त।

'सम अवसर की प्रायिकता का सिद्धान्त' शोधकर्त्ता की ओर से यह गारण्टी चाहता है कि समग्र की प्रत्येक इकाई (element) को, सैम्पल विधि में अध्ययन के लिए,समान रूप से चुने जाने का अवसर दिया जा सकता है। बिना किसी आग्रह–पूर्वाग्रह के। हाँ, शोधकर्त्ता का काम चल जाय तो वह थोड़ी इकाइयों से ही भले काम चला ले।

दूसरी तरफ **'अनवसर का सिद्धान्त'** यह कहता है कि शोधकर्त्ता किसी भी इकाई (element) को चुन लिए जाने का गारण्टी नहीं दे सकता।

इन दोनों सिद्धान्तों के आधार पर निदर्शन के कई प्रकार हो जाते हैं।

निदर्शन के प्रकार



इन प्रकारों के अतिरिक्त भी निदर्शन के तरीके हैं। इनमें से अधिकांश प्रकारों की अपनी विधियाँ–उपविधियाँ हो सकती हैं।

दैव निदर्शन (Random Sample)

क्या है दैव निदर्शन ? यह जानने के लिए कुछ परिभाषाओं पर नजर डालिए –

(The selection process gives equiprobability of selection to every unit in any universe.) अर्थात् "देव निदर्शन में समग्र की प्रत्येक इकाई को इस प्रकार अवसर दिया जाता है कि चयन प्रक्रिया में चुने जाने की सबको सम्भावना रहती है।"

– गुडे एवं हाट

(A random sample is a sample selected in such a way that every item in the population has an equal chance of being included.) अर्थात् "दैव निदर्शन ऐसा है जिसमें प्रतिनिधि का चुनाव करते समय यह माना जाता है कि समग्र की प्रत्येक इकाई को चयनित होने का समान अवसर मिलेगा।"

– हार्पर

"जब समग्र की प्रत्येक इकाई का निदर्शन में सम्मिलित होने का समान अवसर हो तब किसी इकाई का चयन दैव निदर्शन है। "

––यूज और केण्डाल

अर्थ यह हुआ कि दैव निदर्शन में अग्रलिखित विशेषताएँ होती हैं –

(1) रैण्डम निदर्शन के लिए एक विशाल समग्र में से प्रतिनिधि का चुनाव करना होता है।

(2) ऐसा मानकर चुनाव होता है कि चुनी हुई इकाई में वे सभी दोष–गुण हैं जो समग्र में हैं।

(3) यह माना जाता है कि प्रत्येक इकाई को समान रूप से चुने जाने की स्वतन्त्रता और सम्भावना रही है।

(4) यह At random चुनाव की पद्धति है अर्थात् संयोग और आकस्मिकता ही इस चुनाव के आधार हैं।

निदर्शन करते समय सावधानियाँ

पार्टन ने दैव निदर्शन करते समय निम्न सावधानियाँ बरतने की बात कही है –

(1) समग्र की 'इकाइयों' का गुण–दोषों एवं भिन्नताओं के आधार पर, स्पष्ट गणना और वर्गीकरण किया जाना चाहिए।

(2) प्रयत्न हो कि सभी इकाइयों का आकार लगभग समतुल्य रहे।

(3) प्रत्येक इकाई अपने में स्वतन्त्र और दूसरी इकाई से अलग रहे।

(4) प्रत्येक इकाई को निदर्शन में चुने जाने का समान अवसर मिले।

(5) निदर्शन करते समय किसी इकाई के प्रति पक्षपात न हो।

(6) प्रत्येक चुनी गयी इकाई तक शोधकर्त्ता की पहुँच होनी चाहिए।

(7) चुनी गई इकाई को किन्हीं कारणोंवश छोड़ना और उसकी जगह दूसरी इकाई को ला रखना दोनों ही त्रुटिपूर्ण है।

कुछ अन्य स्मरणीय बातें

दैव निदर्शन अपने स्थितियों में श्रेष्ठतम प्रणाली है – प्रतिनिधि इकाइयों के अध्ययन से समग्र के बारे में निर्णय देने के लिए। इसमें शोधकर्त्ता का अपना पक्षपात, अपनी व्यक्तिगत रूचि या घृणा, पूर्वाग्रह – कुछ भी सामने नहीं आ पाता। इसलिए हर इकाई का समान महत्व बना रहता है। चुनाव पूरी तरह संयोग पर निर्भर करता है। उस संयोग का भी एक निश्चित सिद्धान्त होता है। इसलिए दैव निदर्शन, आकस्मिक निदर्शन से भिन्न होता है। क्योंकि 'आकस्मिक निदर्शन' में चुनाव के लिए कोई सिद्धान्त नहीं, आकस्मिकता ही प्रधान तरीका है।

दैव निदर्शन तो सानुपातिक निदर्शन (proportionate sampling) है। वह यह ध्यान रखता है कि कोई भी समग्र कई वर्गों की इकाइयों से निर्मित होता है। प्रत्येक वर्ग की इकाइयों की सम्पूर्ण संख्या में कोई न कोई अनुपात अवश्य होता है। चयन प्रक्रिया में जो इकाइयाँ चुनी जाएँ, उनमें भी वह अनुपात बना रहना चाहिए। **उदाहरण के लिए** – एक समुदाय की समस्याओं का अध्ययन करना है। उस समुदाय की समस्याओं का अध्ययन करना है। उस समुदाय में कुल पाँच आयु समूह के लोग हैं – बूढ़े (70 वर्ष से ऊपर), प्रौढ़ (50 वर्ष से ऊपर), युवा (25 वर्ष से ऊपर), किशोर (16 वर्ष से ऊपर) और बच्चे (16 वर्ष से नीचे)। इन लोगों की संख्या में भी उम्र के आधार पर, यही अनुपात होना चाहिए।

दैव निदर्शन कैसे करें ?

कई तरीके हैं दैव निदर्शन करने के। उनमें से कुछ अधिक प्रचलित हैं। जैसे – लॉटरी विधि, कार्ड विधि, टिपेट विधि, ग्रिड विधि या आँख बन्द करके। आदि। इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ है –

(1) **लाटरी विधि से चुनाव** – इस विधि में समग्र की सभी इकाइयों के नाम अथवा नम्बर कागज के छोटे–छोटे टुकड़ों पर लिखकर उन्हें मोड़ लिया जाता है। इन सभी कागज की चिटों को किसी बर्तन, बॉक्स या झोले में डालकर अच्छी तरह से हिला दिया जाता है जिससे कि वे भली–भँति मिल जाएँ। इसके बाद निष्पक्ष व्यक्ति द्वारा अथवा स्वयं आँखें बन्द करके उतने ही कार्ड या चिट निकाल लिये जाते हैं जितनी इकाइयाँ निदर्शन में सम्मिलित करनी हैं। इस प्रकार जो इकाइयाँ दैवयोग से चुनाव में आ जाती हैं – उनका अध्ययन किया जाता है। राज्य सरकार द्वारा लॉटरी में पुरस्कार निकालने के लिए यही विधि काम में ली जाती है।

(2) **कार्ड या टिकट प्रणाली से चुनाव** –कार्ड प्रणाल लॉटरी विधि का ही परिवर्तित रूप है। इसमें समग्र की सभी इकाइयों के नाम, नम्बर अथवा कोई प्रतीक एक ही रंग, आकार और मोटाई के कार्डों अथवा टिकटों पर अंकित कर दिया जाता है। इन कार्डों को एक ड्रम में डालकर खूब हिलायाा जाता है और पहला कार्ड निकाल लिया जाता है। इसके बाद फिर ड्रम को हिलाया जाता है और दूसरा कार्ड निकाला जाता है। इस प्रकार यह क्रिया उतनी बार ही की जाती है जितने कार्ड हमें निकालने हैं। इस विधि से जो कार्ड निकाले जाते हैं उनसे सम्बन्धित इकाइयों का अध्ययन किया जाता है। भारतीय दूरदर्शन के 'सुरिभि' प्रोग्राम में विजयी उत्तरदाताओं का चुनाव इसी विधि से किया जाता है। लॉटरी विधि एवं कार्ड प्रणाली में मूल अन्तर है कि लॉटरी में आँखें बन्द करके चिटें निकाली जाती हैं जबकि इस विधि में आँखें खुली रखकर कार्ड निकाले जाते हैं। इस विधि का उपयोग करते समय यह सावधानी रखनी चाहिए कि सभी कार्डों का आकार, रंग–रूप और मोटाई एक जैसी हो अन्यथा उनके चयन में पक्षपात आ सकता है।

(3) **टिपेट प्रणाली से चुनाव**– यह अंकों के क्रम–अक्रम का खेल है। ऐसी अन्य प्रणालियाँ भी विकसित की जा चुकी हैं। यहाँ टिपेट प्रणाली का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

प्रो. टिपेट ने चार अंकों वाली 10,400 संख्याओं की एक सूची बनायी और संख्याओं को बिना किसी क्रम के कई पृष्ठों पर लिख दिया। इसमें कुछ संख्याएँ इस प्रकार हैं :–

2952	6641	3992	9792	7979	5911
4167	9524	1545	1396	7203	5356
2370	7483	3408	2762	3563	1089
0560	5246	1112	6107	6008	8126
2754	9143	1405	9025	7002	6111

टिपेट संख्याओं के निदर्शन चुनने का तरीका इस प्रकार है – माना कि हमें 500 छात्रों में से 80 छात्रों का निदर्शन निकालना है तो पहले हम सभी 500 छात्रों के नामों को क्रमवार लिख देंगे, फिर टिपेट संख्या की पुस्तक का कोई एक पृष्ठ खोलकर उसमें से प्रथम 80 संख्याओं को नोट कर समग्र से उन्हीं संख्याओं को अध्ययन के लिए

चुन लेंगे। स्मरणीय है कि समग्र में यदि हजार संख्या में है तो चार अंकों में, सैंकड़े में है तो तीन अंकों और सौ से नीचे है तो दो अंकों में ही इकाई को अंकित करेंगे।

(4) **आँख बन्द कर नामों पर उँगली रखकर चुनाव** – इस पद्धति में निदर्शन करने वाले व्यक्ति की आँखें बन्द रहती हैं। उसके सामने नामों की एक सूची रहती है। वह उँगली उठाकर उस सूची के नामों पर रखता जाता है। जिन–जिन नामों पर उँगली रख दी जाती है – उन्हीं–उन्हीं नामों वाले इकाइयों का अध्ययन किया जाता है।

(5) **ग्रिड प्रणाली से क्षेत्रों का निदर्शन** – इस विधि से भागौलिक क्षेत्रों का निदर्शन किया जाता है। पहले नक्शा तैयार किया जाता है। जिसमें 'समान तरह' के कई क्षेत्र, ग्राम और नगर दर्शाये जाते हैं। फिर उसी नक्शे के अनुरूप एक पारदर्शक वस्तु की रूपरेखा बना दी जाती है। उसमें कई छेद कर दिए जाते हैं। फिर इस पारदर्शक वस्तु को नक्शे के ऊपर लगा देते हैं। छेद में से जिन–जिन क्षेत्रों को दखा जा सकता है, उन्हीं क्षेत्रों को अध्ययन के लिए चुना हुआ मान लेते हैं।

इन विधियों के अतिरिक्त नियमित अंकन प्रणाली (Regular marking method), अनियमित अंकन प्रणाली (Irregular marking method) तथा अन्य कई विधियाँ हैं, जो निदर्शन द्वारा इकाइयों को खोज निकालती है। इन्हीं इकाइयों का अध्ययन किया जाता है।

दैव निदर्शन प्रणाली के गुण (Merits or Random Sampling)

दैव निदर्शन प्रणाली के प्रमुख गुण या लाभ निम्नांकित हैं –

(1) इस विधि में प्रत्येक इकाई के चुने जाने के समान अवसर होते हैं, अतः समग्र ही अधिकाधिक विशेषताएँ विद्यमान होती हैं।

(2) यह विधि एक वैज्ञानिक विधि है जैसा कि **एकॉफ** कहते हैं, "दैव निदर्शन एक प्रकार से समस्त वैज्ञानिक निदर्शन का आधार है।"

(3) यह निदर्शन की सबसे सरल विधि है, इसमें जटिल अथवा गूढ़ सिद्धान्तों का पालन नहीं करना पड़ता है।

(4) इस विधि में निष्पक्षता का गुण मौजूद है और निदर्शन के चुनाव में किसी को भी प्राथमिकता नहीं दी जाती है। अतः पक्षपात आने की सम्भावना नहीं रहती है।

(5) इस विधि में समय, धन और श्रम की भी पर्याप्त बचत होती है, अतः यह विधि मितव्ययतापूर्ण है।

(6) इस विधि में इकाइयों के चयन में यदि किसी प्रकार की त्रुटि या अशुद्धता रह गयी है तो उसका पता लगाना सरल है।

(7) इसके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष विश्वसनीय माने जाते हैं।

(8) इसे साधरण अनुसन्धानकर्त्ता भी समय आने पर प्रयोग में ला सकता है।

दैव निदर्शन प्रणाली के दोष या सीमाएँ (Demerits or Limitations)

दैव निदर्शन प्रणाली के निम्नांकित दोष हैं –

(1) इस विधि में समग्र की सूची होना आवश्यक है किन्तु कई बार यह सूची उपलब्ध नहीं हो पाती तब इस विधि द्वारा निदर्शन ग्रहण करना सम्भव नहीं होता है।

(2) यदि समग्र बहुत छोटा हो अथवा कुछ इकाइयाँ इतनी महत्वपूर्ण हों कि उनका निदर्शन में समावेश अनिवार्य हो तो ऐसी स्थिति में दैव निदर्शन उपयुक्त नहीं होता है।

(3) जब समग्र में बहुत अधिक विविधताएँ हों और सजातीयता का अभाव हो तब भी यह विधि उपयुक्त नहीं होती।

(4) जब समग्र का विस्तार बहुत अधिक हो और इकाइयाँ दूर–दूर तक फैली हों तब भी उनसे सम्पर्क करना कठिन होता है।

(5) अनुसन्धानकर्त्ता द्वारा थोड़ा भी पक्षपात किया गया तो परिणाम गलत हो जाता है।

(7) दैव निदर्शन में विकल्प की सम्भवना नहीं होती, विकल्प के लिए इकाइयों में परिवर्तन करना होता है। ऐसी स्थिति में दैव निदर्शन अवैज्ञानिक और पक्षपातपूर्ण हो जाता है।

इस कमियों अथवा दोषों के बावजूद भी कुछ गुण हैं जिनके कारण इस विधि का बहुत अधिक उपयोग होता है।

स्तरित निदर्शन (STRATIFIED SAMPLING)

कई बार ऐसा होता है निदर्शन के आधार पर अध्ययन करने के लिए जिस समग्र (universe) को चुना जाता है, उसका नाम तो 'एकरूपता' इंगित करता है। किन्तु उसके भीतर झाँकने पर लगता है उसे एलीमेण्ट भीतर ही भीतर बहुत भिन्न होते हैं। अर्थात् उनके नामत्व के भीतर भारी विविधता होती है। **उदाहरण के लिये** – 'आम' का फल लीजिए। नाम तो एक है आम। अब भीतर झाँकिए तो कई भिन्नताएँ हैं। छिलका, गूदा, रेशा, गुठली। सब अलग स्वभाव के। अगर इसका अध्ययन करना हो तो सभी विविध रूप में से इकाई चुननी पड़ेंगी। ऐसे चुनाव को हम स्तरित निदर्शन कह सके हैं। **दूसरा उदाहरण लें** – 'एक' गाँव चुनें। एक 'नाम'। सर्वेक्षण के लिए। जाने पर मालूम हुआ – गाँव एक है पर भीतर की जनसंख्या रचना तो भिन्न स्तर के लोगों से बनी है। कुछ ब्राह्मण हैं। कुछ वैश्य और कुछ अछूत। अब तै है कि अध्ययन तभी वैज्ञानिक होगा जब हर स्तर के लोगों के बीच से 'प्रतिनिधि' चुने जाएँ। ऐसे चुनाव को स्तरित सैम्पलिंग कहेंगे।

प्रो. सिन पाओ यंग (Hsin Pao Yang) ने लिखा है कि "संस्तरित निदर्शन का अर्थ है समग्र में से उप–निदर्शनों (sub-samples) को लेना जिनकी कि समान (common) विशेषताएँ हैं। जैसे – खेती के प्रकार,

खेतों के आकार, भूमि पर स्वामित्व, शिक्षा–स्तर, आय, लिंग, सामाजिक वर्ग अदि। उप–निदर्शनों के अन्तर्गत आने वाले इन तत्वों (elements) को एक साथ लेकर रूप (type) या श्रेणी के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।''

कुछ खास बातें

(1) अनुसन्धानकर्त्ता इस विधि में संयोग के आधार पर 'प्रतिनिधि इकाइयों' का चयन करता ही है, स्तरों को ध्यान में रखकर विचारपूर्वक भी निदर्शन करता है, इसलिए इसे 'मिश्रित विधि' भी कहते हैं। जिसमें दैव निदर्शन एवं सविचार निदर्शन (Purposive Sampling) दोनों होते हैं।

(2) इस विधि का प्रयोग तब किया जाता है जब समग्र 'विजातीय' स्तर की इकाइयों से बना हो।

(3) **क्यूलर** और **श्च्युस्लर** ने स्तरित निदर्शन के अग्रलिखित चरण बताये हैं

(i) समग्र को अधिकाधिक गुणपरक वर्गों में स्तरित किया जाता है।.

(ii) दैव निदर्शन का प्रयोग प्रत्येक उपवर्ग के लिए किया जाता है और प्रत्येक में से प्रतिनिधियों का निदर्शन किया जाता है।

(iii) फिर, प्रत्येक स्तर के प्रतिनिधियों का अलग–अलग अध्ययन किया जाता है।

(iv) जिस वर्ग में जनसंख्या कम या अधिक हो, उसी के अनुपात में कम या अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

स्तरित निदर्शन के प्रकार : तीन प्रकार हैं –

(1) **अनुपातिक निदर्शन** (Proportionate Sampling)–समग्र में वर्गों की संख्या का जो अनुपात हो उसी अनुपातिक–संख्या में प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

(2) **अनानुपातिक निदर्शन**(Non-proportionate Sampling)– सभी वर्गों से समान मात्रा में इकाइयों को चुना जाता है।

(3) **भारयुक्त स्तरीकरण** (Weighted Sampling)–ऊपर की दोनों विधियों का मिश्रण है यह। अर्थात् पहली बार में हर वर्ग के समान प्रतिनिधि चुने जाते हैं। जो वर्ग बड़ा होता है उसमें से आनुपातिक ढंग से कुछ और चुन लिए जाते हैं।

स्तरित निदर्शन के गुण (Merits)

(1) स्तरित निदर्शन से 'दैव निदर्शन' एवं 'सुविचारित निदर्शन' – दोनों ही त्रुटियों पर नियन्त्रण लगाता है। न पक्षपात हो पाता है न ही अनदेखापन। यह अधिक नियन्त्रण रखती है।

(2) यह अपेक्षाकृत कम प्रतिनिधियों के अध्ययन से निष्कर्ष दे सकती है – शुद्धता के निकट के निष्कर्ष।

(3) समग्र के भीतर के वर्गों की स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है।

(4) इकाइयों का – परिस्थिति आने पर – प्रतिस्थापन भी किया जा सकता है। अर्थात् एक प्रतिनिधि इकाई पहुँच में न हो तो उसी वर्ग की दूसरी इकाई को चुना जा सकता है।

(5) यदि समग्र का भौगोलिक विस्तार अधिक हो तो जनसंख्या का स्तरीकृत अध्ययन तो होगा ही; क्षेत्र को भी बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है।

(6) सामान्य दैव निदर्शन में लगने वाले खर्च और समय में ही इस विधि से कई चरों पर आधारित निष्कर्ष निकल आते हैं। इसलिए यह कम खर्चीली विधि है।

स्तरित निदर्शन के दोष (Demerits)

(1) यदि वर्गों का निर्माण उचित प्रकार से नहीं किया गया है तो निदर्शन के चुनने में पक्षपात आने की सम्भावना रहती है। ऐसा भी हो सकता है कि कुछ वर्गों में से अधिक इकाइयों का चुनाव कर लिया जाये और कुछ में से कम। ऐसी स्थिति में निदर्शन प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं रह जाता है।

(2) प्रतिनिधित्वपूर्ण होने के लिए निदर्शन का आनुपातिक होना आवश्यक है। किन्तु भिन्न–भिन्न वर्गों के आकार में यदि बहुत अधिक भिन्नता है तो उनमें समानुपात का गुण लाना कठिन होता है। साथ ही चुनाव करने वाले व्यक्ति की व्यक्तिगत रूचि का भी प्रभाव पड़ता है।

(3) यदि वर्गों से इकाइयों का चुनाव असमानुपातिक आधार पर किया गया है तो बाद में भार का प्रयोग करना पड़ता है। भार प्रदान करते समय व्यक्ति का पक्षपात भी आ सकता है तथा अनुचित भार प्रदान करने पर इकाइयाँ प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं रह जाती हैं।

(4) स्तरित निदर्शन में एक गुण रखने वाली इकाइयों का एक वर्ग बनाया जाता है किन्तु एक इकाई में एकाधिक गुण होने पर यह कठिनाई आती है कि उसे किस वर्ग में रखा जाय।

गुच्छेदार या गुच्छक निदर्शन (CLUSTER-SAMPLING)

व्यवहार में देखा जाता है कि विस्तृत क्षेत्रों में फैले समग्र का सर्वेक्षण, चाहे दैव निदर्शन या स्तरीकृत निदर्शन के माध्यम से किया जा रहा हो – बहुत खर्चीला, समय लेने वाला होता है। क्योंकि, एक कोने से दूसरे कोने तक फैले हुए प्रतिनिधियों से मिलना पड़ता है। ऐसे में कम खर्चीला मार्ग क्या हो जिसकी विश्वसनीयता कम न हो। इसीलिए खोजा गया – गुच्छक निदर्शन। **वीस** के शब्दों में – "समूह में प्रतिनिधि चुने जाएँ जब गुच्छक निदर्शन है।"

इस तरह के निदर्शन में कई बातें ध्यान में रखी जाती हैं मसलन –

(1) कितने प्रकार की प्रतिनिधि इकाइयाँ हैं जो पूरे समग्र में फैली हैं ?

(2) क्या समग्र के किसी विशेष क्षेत्र में सभी प्रकार की इकाइयों का प्रतिनिधित्व है ?

(3) क्या समग्र के चारों कोनों तक दौड़–धूप करने की जगह विशेष घेरों में चुने गये प्रतिनिधियों का ही अध्ययन किया जाय तो क्या प्रतिनिधित्व वास्तविक न होगा ?

(4) और, अगर घेरों (pockets) में बसे प्रतिनिधियों के अध्ययन से काम चल सकता है तो अध्ययन कैसे करें ?

(5) दैव निदर्शन और स्तरीकृत निदर्शन का प्रयोग कैसे करें ?

गुच्छक निदर्शन कैसे होता है ?

जब खर्च और समय बचाना हो, जब इकाइयों की पूरी सूची उपलब्ध न हो, जब बड़े निदर्शन में भाग–दौड़ की अत्याधिक सम्भावना हो तो गुच्छक निदर्शन करते हैं। गुच्छक से अर्थ है मनुष्यों के यहाँ–वहाँ बसे समूह जिनमें सभी प्रकार की इकाइयाँ सम्मिलित हैं। जेसे 'गाँव में लोग', 'स्कूल में लोग', 'शहर में लोग' आदि। एक समग्र में कई–कई गुच्छक हो सकते हैं। निदर्शन के नाम पर अकेले–अकेले व्यक्ति को चुनकर अध्ययन करने की जगह गुच्छक निदर्शन में कुछ व्यक्तियों से बनी 'बस्ती' (गुच्छक) का दैव निदर्शन और स्तरित निदर्शन के जरिये चुनाव कर लेते हैं।

उदाहरण देखिए –उत्तर प्रदेश की जनता का सर्वेक्षण करना है, आगामी चुनाव में जनमत की दृष्टि से। उत्तर प्रदेश हुआ 'समग्र'। इस प्रदेश में गाँव, कस्वे, नगर हैं, जहाँ उत्तर प्रदेश की जनता रहती है। हरेक गाँव, कस्वे में हिन्दू, मुस्लिम, बैकवर्ड, अनुसूचित जाति, धर्म व वर्ग के लोग रहते हैं। सर्वेक्षण का एक तरीका यह हो सकता है कि हम प्रत्येक वर्ग के सदस्यों का चुनाव 'अकेले–अकेले' पूरे प्रदेश से करें। यह भी हो सकता है कि हम कुछ 'गाँवों' और 'कस्वों' तथा 'नगरों' को ही दैव तथा स्तरित निदर्शन के द्वारा चुन लें। आखिर इन बस्तियों में भी तो वे ही लोग रहते हैं जिनको हम पूरे उत्तर–प्रदेश में दौड़–धूप कर चुनते–निदर्शन के जरिये। इस निदर्शन से भी तो हम प्रत्येक वर्ग के जनमत का पता लगा सकते हैं। यही है – गुच्छक निदर्शन द्वारा अध्ययन का तरीका।

गुच्छक निदर्शक के लाभ (Advantages)

(1) बहुत बड़े समग्र को लघु बनाकर अध्ययन किया जा सकता है।

(2) धन, श्रम और समय बच जाता है।

(3) साक्षात्कारदाताओं से मिल पाना अपेक्षाकृत सरल होता है।

गुच्छक निदर्शन की सीमाएँ (Limitations)

(1) समूह में चुनी गयी इकाइयाँ समग्र का पूरी तरह प्रतिनिधित्व नहीं करतीं।

(2) कई बार प्रतिनिधि, परिस्थिति और परिणाम – तीनों ही, अधूरे रह जाते हैं क्योंकि हम उन पर परिस्थितियों, भौगोलिक भिन्नताओं और आधुनिकता–परम्पराओं का प्रभाव नहीं जान पाते। ऐसा इसलिए कि हम कुछ सीमित गुच्छकों में सिमट कर रह जाते हैं।

उद्देश्य पूर्ण या सविचार निदर्शन या संयोग निदर्शन (Accidental Sampling)

यह विधि 'अनवसर के सिद्धान्त' (Non-probability) से प्रेरणा पाती है। अर्थात्, इसमें समग्र के सभी 'एलीमेण्ट्स' या 'इकाइयों' को निदर्शन में चुने जाने की सम्भावना नहीं होती। शोधकर्त्ता विभिन्न चरों (variables), स्थितियाँ, सम्भावनाओं और प्रेरकों को देख–समझकर कुछ खास इकाइयों को ही चुनता है ताकि सीधे और संक्षेप में परिणाम तक पहुँचा जा सके। जो इकाइयाँ शोधकर्त्ता का मकसद नहीं पूरा करतीं, उन्हें छोड़ दिया जाता है। आकस्मिकता, सम्भावना या संयोग के नाम पर कोई भी चुनाव नहीं होता। हाँ, यह अवश्य ही ध्यान में रखा जाता है कि शोधकर्त्ता द्वारा उन्हीं इकाइयों का चयन हो जो उस समग्र का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करें। सचिवार–निदर्शन का सबसे अच्छा उपयोग वैयक्तिक अध्ययन (case study) में होता है।

सविचार निदर्शन कैसे करें ?

(1) न्निदर्शन के पहले 'समग्र' की प्रकृति, गुण–विस्तार समझें।

(2) इकाइयों की विशेषताओं से पूर्व में परिचय बनाएँ। सोचें कि किस इकाई के चयन से हमें सर्वाधिक सूचना मिलेगी।

(3) अध्ययन का उद्देश्य स्पष्ट बनाएँ। फिर इकाइयों की क्षमता देखकर उद्देश्य के अनुरूप उनका चुनाव करें।

(4) पक्षपात की गलतियों से बचें।

सविचार निदर्शन के गुण (Merits)

(1) यह अध्ययन पद्धति कम खर्चीली है क्योंकि इसमें निदर्शन का आकार बहत छोटा होता है।

(2) इस विधि में निदर्शन का आकार बहुत छोटा किन्तु अपेक्षाकृत अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण होता है।

(3) यह विधि ऐसे अनुसंधानों में विशेष रूप से उपयोगी होती हैं जिनमें समग्र की कुछ इकाइयों का चुना जाना विशेष रूप से उपयोगी होता है। **उदाहरण के लिए** –भारत में दंगों लिए जिम्मेदार कारणों का सर्वेक्षण करना हो तो हमें उन निश्चित लोगों और कारणों पर ध्यान देना होगा जिनके बारे में हम पूर्व सूचित हैं। इसके लिए हमें उन लोगों को ही अपने अध्ययन में सम्मिलित करना पड़ेगा जिनको हमारी समझदारी 'उत्तरदायी' मानती है।

(4) यह विधि पूर्वगामी अध्ययनों में विशेष लाभदायक है।

(5) इसके द्वारा अध्ययन बिना भटके और फैले लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

सविचार निदर्शन की सीमाएँ (Limitations)

सविचार निदर्शन के जहाँ कई गुण हैं, वहीं यह दोषों से भी मुक्त नहीं है। **पार्टन** लिखते हैं, ''समस्त संख्या शास्त्रियों को सविचार निदर्शन के पक्ष में एक शब्द भी नहीं कहना है।'' ने **मैन ने इस विधि को** –बेकार' **(useless)** कहा है। **स्नेडेकोर** ने इस प्रणाली के निम्नांकित दोषों का उल्लेख किया है –

(1) इस विधि में अध्ययनकर्त्ता को समग्र का पहले से ज्ञान होना चाहिए जो सदैव सम्भव नही होता।

(2) इसमें इकाइयों के चुनाव में पक्षपात आने की पूरी–पूरी सम्भवना बनी रहती है, अतः परिणाम अवैज्ञानिक और अशुद्ध हो जाते हैं।

(3) निदर्शन की अशुद्धता का पता लगाने की जो मान्यताएँ प्रचलित हैं, उनमें से एक भी इस विधि में नहीं पायी जाती।

(4) इस प्रणाली द्वारा निष्कर्षों की परिशुद्धता की मात्रा बहुत कम होंती है।

(5) इसमें इकाइयों के चुनाव में न्यायपूर्ण निर्णय की अपेक्षा व्यक्तिगत सुझाव का अधिक महत्व होता है।

(6) इसके आधार पर सम्पूर्ण समग्र की विशेषताओं को नहीं समझा जा सकता।

कोटा निदर्शन (QUOTA SAMPLING)

यह अनवसर **(Non-probability)** के सिद्धान्त पर आधारित निदर्शन पद्धति है। इस सिद्धान्त पर आधारित एक अन्य विधि का नाम **'आकस्मिक निदर्शन' है। इस विधि में समग्र की किसी इकाई को चुने जाने की गारण्टी नहीं** रहती। वरन् आकस्मिकता के दौरान जो मिल जाता है उसे स्वीकार कर लिया जाता है। ऐसा तब तक किया जाता है जब तक आवश्यक इकाइयाँ उपलब्ध नहीं हो जाती।

परन्तु, कोटा निदर्शन इससे थोड़ा आगे भी है और भिन्न भी। इस निदर्शन में 'सब' इकाइयों को चुने जाने की सम्भावना या गारण्टी तो नहीं होती परन्तु 'कुछ' में से कईयों को चुनने की गारण्टिड सम्भावना होती है। **एम. जहोदा** और अन्यों ने एक उदाहरण दिया है कि माना हमें एक समग्र (universe) का सर्वेक्षण करना है। इसमें आधी संख्या स्त्रियों की है और आधी संख्या पुरूषों की। इन दोनों की विशेषताओं में काफी अन्तर है। अब, अगर हमें उन अन्तरों, विशेषताओं का सर्वेक्षण करना हो तो हमें गारण्टी देनी होगी कि हम 'स्त्री' और 'पुरूष' दोनों में से कुछ को अवश्य चुनेंगे – अपने अध्ययन के लिए । अन्यथा हमारा परिणाम भूल–भूलैया से भर जायेगा। कुछ को चुने जाने की गारण्टी देना ही इसे (Quota sampling) कोटा सैम्पलिंग बना देता है। इसीलिए यह स्तरित निदर्शन (stratified sampling) से भिन्न है। कोटा विधि से चुनाव करते समय शोधकर्त्ता को यह स्मरण रहे कि हर वर्ग, समूह या स्तर से उसी अनुपात में एलीमेण्ट या प्रतिनिधि चुने जाने चाहिए, जो अनुपात समग्र और उस वर्ग की संख्या में है।

कोटा निदर्शन के गुण (Merits)

(1) कम समय में अधिक साधारण जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(2) बड़े क्षेत्र का भी अध्ययन सम्भव है।

कोटा निदर्शन की कमजोरियाँ (Demerits)

(1) पक्षपात की सम्भावना रहती है।

(2) शोधकर्त्ता सुविधा से जो मिले उसी का चुनाव करते हैं, इसलिए कई बार वास्तविक उत्तरदाता छूट जाते हैं।

(3) इसके निष्कर्ष की परिशुद्धता कम होती है। सांख्यिकीय दृष्टि से त्रुटि माप भी सम्भवना नहीं है।

(4) व्यक्तिगत रूप से अकेला शोधकर्त्ता इस विधि से अध्ययन में सफल नहीं हो पाता।

बहुस्तरीय निदर्शन (MULTISTAGE SAMPLING)

इस विधि का प्रयोग बहुत बड़े क्षेत्र से निदर्शन निकालने के लिए किया जाता है। चूँकि इस विधि में निदर्शन का चुनाव कई स्तरों से गुजरने के बाद किया जाता है, इसलिए इसे बहुस्तरीय निदर्शन कहा जाता है। इस विधि से यदि हम किसी बड़े नगर का अध्ययन करना चाहते हैं तो उसके लिए हमें निम्नांकित स्तरों से गुजरना होगा –

(1) सम्पूर्ण नगर को कई क्षेत्रों या बार्डों में बाँटा जायेगा। ये क्षेत्र क्षेत्रफल की दृष्टि से एवं निवासियों की दृष्टि से समान होने चाहिए।

(2) प्रत्येक क्षेत्र में से कुछ गृह समूहों का चुनाव दैव निदर्शन के आधार पर किया जांय।

(3) प्रत्येक गृह–समसूह में कुछ परिवारों का चुनाव दैव निदर्शन के आधार पर किया जाय।

(3) प्रत्येक गृह–समूह में कुछ परिवारों का चुनाव दैव निदर्शन के आधार पर किया जाय।

(4) प्रत्येक परिवार में से एक व्यक्ति को अध्ययन के लिए चुना जाय।

इस प्रकार इस विधि में अन्तिम चुनाव कई चरणों में जाकर होता है। इस विधि में स्तरित निदर्शन विधि एवं दैव निदर्शन विधि दोनों का प्रयोग किया जाता है। यदि सावधानीपूर्वक इसका प्रयोग किया जाय तो इसमें दोनों के लाभ प्राप्त हो सकते हैं तथा कम–से–कम इकाइयों से ही अधिकाधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त किया जा सकता है।

निदर्शन विधि में प्रयुक्त कुछ शब्द – उनके अर्थ – विशेषताएँ

(1) **समग्र क्या है** ? What is universe or population?

मेरी दृष्टि में – "एक समग्र उस सम्पूर्ण राशि (संख्या, मात्रा, गुण, घटना, व्यक्ति या अन्य अस्तित्व) को कहते हैं जो किसी विशेष कार्य के सन्दर्भ में किसी समय विशेष में इंगित की जा सकती है।"

(An universe, for any specific purpose, is the aggregate of all (lives] ph;enomena] cases or organizations) mentioned in a given time.)

एम. जहोदा ने 'समय' का उल्लेख किए बिना ऐसा ही कुछ कहा है। उनके शब्दों में – "एक समग्र किसी नामित घटना विशेष से जुड़े हुओं का सम्पूर्ण है।"

(A population is the aggregate of all the cases that conforms to some designated set of specification)। अर्थात्

(अ) समग्र किसी घटना से जुड़े लोगों को कहा जाता है।

(ब) एक ही समग्र कई घटनाओं से जुड़ा हो सकता है।

(स) किसी समय विशेष में कोई व्यवस्था (लोग) किसी घटना के लिए समग्र हो सकती है। परन्तु किसी दूसरे समय में नहीं भी हो सकती है।

इकाई, प्रतिनिधि या एलीमेण्ट क्या है ?

निदर्शन के पीछे मान्यता यह है कि प्रत्येक 'समग्र' एक–एक कर अपने सदस्यों से बना होता है। सामान्य स्थिति में यदिय समग्र 'सजातीय' या 'समान–विशेषता' वालों के मिलने से बना है तो उसके प्रत्येक सदस्य में समग्र की अधिकांश विशेषताएँ हो सकती हैं। यदि ऐसा है तो वह 'सदस्य' उस समग्र की 'इंकाई' है। 'प्रतिनिधि' है अथवा 'एलीमेण्ट' है। **जहोदा** कहते हैं हैं कि "A single member of a population is reffered to as a population element." अर्थात् समग्र का प्रत्येक अकेला समस्य समग्र का प्रतिनिधि है। इकाई है या एलीमेण्ट है।

कैसे जाने कि हमारा निदर्शन सही है ? (Test of Reliability)

चुने हुए निदर्शनों की विश्वसनीयता को परखने के लिए निम्नांकित उपाय अपनाये जा सकते हैं :

(1) **समान्तर निदर्शन** (Parallel Sampling)–इस विधि में समग्र से किसी अन्य विधि द्वारा दूसरा निदर्शन चुन लिया जाता है और दोनों ही निदर्शनों के सांख्यिकीय मापों, मूल्यों, विचार, आवृत्ति एवं बंटन आदि की तुलना की जाती है। यदि दोनों में पर्याप्त सीमा तक समानता है तो निदर्शन विश्वसनीय माना जाता है। समानता का अर्थ एकदम समानता से नहीं वरन् पर्याप्त मात्रा में समानता से है।

(2) **समग्र से तुलना** (Comparison with Universe)–कभी–कभी समग्र की बहुत सी विशेषताएँ जैसे – लिंग, अनुपात, आयु आदि का विवरण ज्ञात होता है। यदि इस प्रकार की माप का पता हो तो निदर्शन की इकाइयों की उनसे तुलना की जाती है और दोनों में पर्याप्त समानता होने पर निदर्शन विश्वसनीय माना जाता है।

(3) **निदर्शन का निदर्शन** (Sampling from Sampling)–निदर्शन की विश्वसनीयता की परख का एक तरीका यह है कि चुने हुए निदर्शन में से कुछ इकाइयों का चुनाव दैव निदर्शन द्वारा किया जाता है और उसकी तुलना मूल निदर्शन से की जाती है। यदि इस उपनिदर्शन में मूल निदर्शन के गुण हैं तो निदर्शन को विश्वसनीय माना जाता है।

(4) **महत्व परीक्षण** (Significance Tests)– मोजर ने निदर्शन की विश्वसनीयता की जाँच के लिए प्रमाप त्रुटि (Standard error) के आधार पर निदर्शनों के महत्व का परीक्षण करने का सुझाव दिया है।

(5) **अध्ययन परिणामों की तुलना** (Comparison of Findings)–किसी एक विधि द्वारा निकाले गये निदर्शनों के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों की तुलना किसी दूसरी विधि द्वारा चयनित निदर्शनों के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों से की जाती है तो भी हमें मूल निदर्शन के विश्वसनीय होने का पता लग सकता है।

(6) **सर्वेक्षण की पुनरावृत्ति** (Repetition of Survey)–यद्यपि यह एक कठिन कार्य है फिर भी यदि सम्भव हो तो लगभग मिलते –जुलते सर्वेक्षणों की पुनरावृत्ति करके उनमें लिये गये निदर्शनों की तुलना करके विश्वसनीयता की जाँच की जा सकती है।

तथ्य : संकलन, प्रकार एवं स्त्रोत (DATA: COLLECTION, TYPES AND SOURCES)

यहाँ Data ही Fact भी कहा जा सकता है।

यह बहुत साफ–साफ समझ लेना चाहिए कि शोधकर्त्ता जब अपने अध्ययन के अनुरुप 'क्षेत्र', 'जनता', 'घटनाएँ' चुन लेता है, तभी वह चाहता है कि इनमें समाई हुई सूचनाएँ उसे मिल जाएँ। सूचनाएँ न मिल सकें तो सर्वेक्षण, निदर्शन, केस–स्टडी और अन्य कई ताम–झाम करने से क्या लाभ हुआ ? इसलिए शोधकर्त्ता के सामने दो दृष्टियाँ होती हैं –

(1) अध्ययन की इच्छा को स्थायी होते ही दायरों की खोज, सीमांकन और स्पष्ट जानकारी – प्राप्त की दृष्टि – यह अध्ययन के लिए देह की तरह मात्र बाहरी कवच है। 'समग्र', 'इकाई' एवं 'विषय वस्तु' आते हैं – इस देह या कवच में। सर्वेक्षण आदि से इसे निश्चित किया जाता है। खोजा जाता है। परिभाषित किया जाता है।

(2) दूसरी दृष्टि और पैनी तथा मूल्यवान होती है। इसमें तकनीकों (techniques), तरीकों (ways) और औजारों (tools) के प्रयोग से 'समग्र' (populaltion) की इकाइयों (elements) में छिपी हुई सूचनाओं के भीतर झाँका जाता है यदि सूचनाएँ अक्रिय और गुप्त (innert) हुई तो उन्हें उत्तेजित कर जगाया जाता है। फिर प्राप्त किया जाता है। तब संकलित किया जता है। सूचनाओं को पाने, उत्तेजित करने, जगाने के लिए निरीक्षण (observation) साक्षात्कार (interview)] प्रश्नावली (questionnair) आदि का सूझ सहित प्रयोग किया जाता है।

यह सब करने से शोधकर्त्ता को अपने 'निर्धारित विषय' (decided object of study) के सन्दर्भ में बहुत–सी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। ये सूचनाएँ समग्र की इकाइयों प्रत्यावर्तित होकर आती हैं। इसलिए उन सूचनाओं में वैषयिता (objectivity) भी होती है और उत्तरदाता के भीतर की छाप भी रहती है। .... और ऐसी सूचनाएँ ही 'तथ्य' कही जाती हैं। अध्ययनकर्त्ता के लिए ये तथ्य (data) ही अनुसन्धान के मूल घटक हैं। ये तथ्य न मिलें तो न कोई निष्कर्ष मिलेगा और न ही कोई सामान्यीकरण हो सकेगा। सिद्धान्तों की रचना भी न हो सकेगी। हाँ, ध्यान रखना चाहिए कि ये सूचनाएँ बोलचाल की भाषा में (literal), प्रतीकों में (symbols) अथवा संख्याओं में (numbers) से किसी भी या सभी रूपों में हो सकती हैं। तथ्यों में वस्तुनिष्ठता जितनी अधिक होती है, अध्ययन के निष्कर्ष सच के उतने अधिक निकट होते हैं।

तथ्य क्या देते हैं अनुसन्धानकर्त्ता को ?

तथ्य चाहे जिस रूप में हों – भाषिक, प्रतीकपरक या संख्यात्मक–सबकी अपनी विशेषताएँ हैं। ये मूक होकर भी बहुत मुखर होते हैं। ये राष्ट्रीय, सामाजिक और अन्य समाज वैज्ञानिक क्षेत्रों को न केवल सूचना देते हैं, वरन् सावधान भी करते हैं और दिशा–निर्देश भी देते हैं। अनुसन्धानकर्त्ता यदि दक्ष है तो वह तथ्यों से सीख–सुनकर 'समाज वकत' और 'समाज द्रष्टा' तथा 'भविष्य विचारक' बन सकता है।

वैसे इन तथ्यों का बहुत उपयोग है। जैसे –

(1) **सामाजिक अनुसन्धान में उपयोगिता** – ये सामाजिक मूल्य, आदर्श, व्यवहार, प्रतिमान, अभिरुचि, इच्छा, सामाजिक पृष्ठभूमि, सामाजिक प्रक्रिया, प्रस्थिति–भूमिका की प्रकृति बताते हैं। इतिहास, परिवर्तन व स्वीकृति की स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। पुराने तथ्यों का परीक्षण भी हो जाता है।

(2) **व्यावहारिक सामाजिक अनुसन्धान में उपयोगिता** – सामाजिक समस्याओं का स्वरूप बताते हैं – तथ्य। कारण, परिणाम और नियन्त्रण के रास्तों पर प्रकाश डालते हैं – तथ्य। निर्धनता, बेकारी, बाल–अपराध, आत्म–हत्या, युद्ध, भ्रष्टाचार जैसी समस्याओं की दिशा व दशा पर बहुत कुछ कहते हैं – तथ्य । सामाजिक नियन्त्रण की दिशा तै करते हैं – तथ्य।

(3) **क्रिया अनुसन्धानों में उपयोगिता** – समूह–समुदाय–उपचार, सुधार, पुनर्निर्माण की सामाजिक योजनाएँ बनाते समय, सामुदायिक विकास जैसे प्रश्नों का हल ढूँढ़ते समय तथ्यों की बड़ी आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से तथ्य शोधकर्त्ता के लिए सहायक तो हैं ही, राष्ट्र और समाज के निर्माण में भी सहायक हैं।

ऐसी स्थिति में 'तथ्य क्या है'अवश्य जानना चाहिए।

तथ्य से क्या समझें ?

अमेरिकन कालेज शब्दकोश कहता है –"What happens is a fact" अर्थात् जो भी घटता है – वह तथ्य है। परन्तु सामाजिक अनुसन्धानकर्त्ता के लिए यह परिभाषा पूरी नहीं है। जो कुछ भी घटता है या घटा, उसके बारे में शोधकर्त्ता को क्या सूचना है – वास्तव में वही समाजशास्त्रीय तथ्य है। वरना, जंगल में मोर नाचा, किसने देखा ? घटना जो घटी, घटना जो देखी गई, घटना जो अनुसन्धानकर्त्ता तक पहुँची – इन तीनों का सार सामाजिक–सूचना–तथ्य (social-information-fact) है। यदि ध्यान से देखें, विश्वास से परखें, सतर्क समझें जो सामाजिक फैक्ट, 'भौतिक फैक्ट' की तुलना में इसी आधार पर भिन्न भी है। गुणात्मक और बीते काल से सम्बन्धित तथ्य तो हर द्रष्टा के लिए भिन्न होते हैं।

वैसे तो, वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाओं के विस्तार हेतु शोध–प्रयत्नों के आधार पर संकलित की गयी साधारण–सी लगने वाली छोटी–छोटी सूचनाएँ भी काफी लाभदायक होती हैं। इन्हीं संकलित सूचनाओं को तथ्य या सामग्री **(data)** के नाम से पुकारते हैं। ऐसे ही तथ्यों या समग्री के आधार पर वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाले जाते तथा नियमों का प्रतिपादन एवं सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है।

'तथ्य' को परिभाषित करें तो कहा जा सकता है कि ''किसी सामाजिक शोधकर्त्ता के लिए 'तथ्य' वह पक्षपातविहीन प्रत्यक्षीकरण एवं उत्तरदाता की अधिकतम समझ और जानकारी पर आधारित प्रत्यक्षीकरण का हूबहू वर्णन है, जो किसी भी ऐसी घटना के बारें में है जो मनो–भौतिक चरों वाली सामाजिक व्यवस्था में किसी काल तथा स्थान विशेष में घटित हुई है। यहाँ वर्णन के तीन स्तर समझे जाने चाहिए – (1) शब्दों के सार्थक प्रयोग से – भाषा के माध्यम से, (2) प्रतीकों के माध्यम से, (3) संख्याओं के प्रयोग से।

(Facts, for a social researcher, are those unblised perceptions and their exact description made to the best of percevier's knowledge about any phenomenon occuring in a multi-variable system of psycho-physical society. There are three levels of description - (i) Literal level - Statement in workds, (ii) Symbolic presentation and (iii) Numerical presentation) ।

उचित तथ्य संकलन प्रत्येक विज्ञान (चाहे वह 'भौतिक विज्ञान' हो या 'सामाजिक विज्ञान') का लक्ष्य होता है। व्यवस्थित रूप में संकलित तथ्यों के आधार पर ही वैज्ञानिक नियमों का प्रतिपादन किया जा सकता है। तथ्य संक्रलन से ही घटनाओं के कार्य–कारण सम्बन्ध को जाना जा सकता है, कारण–प्रभाव **(cause and effect)** सम्बन्धों का पता लगाया जा सकता है। प्रत्येक विज्ञान में विविध घटनाओं के कारणों एवं प्रभावी को जानने का प्रयत्न किया जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि विज्ञान की प्रगति तथ्यों पर निर्भर करती है। अन्य शब्दों में प्रत्येक विज्ञान तथ्यों के आधार पर ही आगे बढ़ता है, न कि कल्पनाओं के आधार पर।

तथ्यों के प्रकार

तथ्यों की प्रकृति और उनको प्राप्त करने के स्त्रोंतों के आधार पर तथ्यों के चार प्रकार हो सकते हैं।

तथ्य (Facts)

- प्रकृति के आधार पर
  - 1. गुणात्मक तथ्य (Qualitative data)
  - 2. मात्रात्मक आंकड़े (Quantitative data)
- स्त्रोत के आधार पर
  - 3. प्राथमिक तथ्य (Primary data)
  - 4. द्वैतीयक तथ्य (Secondary data)

गुणात्मक तथ्य (QUALITATIVE DATA)

सूक्ष्म भावना पर आधारित, सामाजिक सम्बन्धों की सान्द्रता पर आधारित होते हैं – ये तथ्य। धर्म, सद्भाव, राष्ट्रीयता, भाई–चारा, संगठनात्मकता, स्नेह, श्रद्धा, प्रतिस्पर्द्धा, सहयोग जैसे तथ्य गुणात्मक हैं। इनका अध्ययन करना, इनका संकलन, साणीयन वैसे नहीं हो पाता जैसे जनसंख्या, आय, श्रमिक समस्या या विद्यार्थियों में नशाखोरी की आदत से सम्बन्धित तथ्यों का हो जाता है। इन तथ्यों को समझने के लिए गुणात्मक विधियों का, प्रमापन की स्केल विधियों का प्रयोग बढ़ रहा है।

मात्रात्मक तथ्य (QUANTITATIVE DATA)

मात्रात्मक तथ्य वे हैं जो संख्यात्मक ढंग से लिखे दर्शाये जा सकते हैं। इन्हें गिना, तौला और नापा जा सकता है। जैसे – किसी समुदाय में जनसंख्या, आय–खर्च, जीवन–मृत्यु के आँकड़े। सांख्यिकीय शब्दों में कहें तो इनके विचलन, सह–सम्बन्ध का पता लगाया जा सकता है। **मात्रात्मक तथ्यों को 'आँकड़ा' कहने का प्रचलन है।**

प्राथमिक तथ्य – (सामग्री, सूचना या कभी–कभी आँकड़ा) (PRIMARY DATA)

पी.वी. यंग के अनुसार प्राथमिक तथ्य वे सूचनाएँ हैं जिनको पहली बार संकलित किया गया है। यह संकलन स्वयं शोधकर्त्ता को अथवा उसके दल को करना पड़ता है। इस दृष्टि से प्राथमिक तथ्य वे मौलिक सूचनाएँ या आँकड़े होते हैं जाकि एक अनुसन्धानकर्त्ता वास्तविक अध्ययन–स्थल (field) में जाकर विषय या समस्या से सम्बन्धित जीवित व्यक्तियों से साक्षात्कार (interview) करके अथवा अनुसूची या/ और प्रश्नावली की सहायता से एकत्रित करता है अथवा प्रत्यक्ष निरीक्षण के द्वारा प्राप्त करता है। प्राथमिक तथ्य प्राथमिक इस अर्थ में होते हैं कि उन्हें अनुसन्धानकर्त्ता अपने अध्ययन–उपकरणों की सहायता से प्रथम बार एकत्रित करने के दो प्रमुख स्त्रोत (sources) हो सकते हैं –**एक** तो जीवित व्यक्तियों से ओर **दूसरा** प्रत्यक्ष निरीक्षण के द्वारा। **प्रथम स्त्रोत** के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते हैं जो अध्ययन–विषय या समस्या के सम्बन्ध में ज्ञान रखते हैं अथवा दीर्घ समय से उसके घनिष्ठ सम्पर्क में हैं। **श्री पामर** के अनुसार ऐसे व्यक्ति न केवल एक विषय की विद्यमान अवस्थाओं को बताने की येग्यता रखते हैं अपितु एक सामाजिक प्रक्रिया में अन्तर्निहित महत्वपूर्ण चरण व निरीक्षण योग्य झुकावों (trends) के सम्बन्ध में भी संकेत कर सकते हैं।

प्राथमिक तथ्यों को उनकी विशिष्टता के कारण तीन नाम दिए गए हैं –(i) First hand dat (नवीनतम तथ्य), (ii) Field data (क्षेत्र से जुटाया गया तथ्य), (iii) Basic data (मौलिक तथ्य)।

प्रथम स्त्रोत से सूचना इकट्ठा करने के लिए **पी.वी. यंग** ने प्रश्नावली, अनुसूची एवं साक्षात्कार की तकनीकों के प्रयोग का उल्लेख किया है।

प्राथमिक तथ्य प्राप्त करने की प्रथम कुछ विधियाँ – (प्रश्नावली, अनुसूची, साक्षात्कार)

(1) **प्रश्नावली** (Questionnarie)– जब अध्ययन–क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि अनुसन्धानकर्त्ता के लिए यह सम्भव नहीं होता है कि वह विषय से सम्बन्धित अपने प्रश्नों का उत्तर सूचनादाताओं से स्वयं सम्बन्ध स्थापित करके प्राप्त कर सकता है तो वह प्रश्नों की एक सूची डाक द्वारा सूचनादाताओं के पास इन अनुरोध के साथ भेज देता है कि उन प्रश्नों का उत्तर भरकर उसे लौटा दिया जाए। इसी को प्रश्नावली कहते हैं और प्राथमिक तथ्यों को एकत्रित करने का यह एक महत्वंपूर्ण स्त्रोत होता है। प्रश्नावली एक ऐसा साधन है जिसकी सहायता से बड़े से बड़े क्षेत्र में फैले हुए सूचनादाताओं से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना और महत्वपूर्ण सूचनाओं को एकत्रित करना सम्भव होता है। पर यह स्त्रोत तभी सफलतापूर्वक कार्य करता है जबकि सूचनादाता पढ़े –लिखे हों और उनमें अनुसन्धान–कार्यों के प्रति सहयोग की भावना हो। भारत में इसी का अभाव होने के कारण यह स्त्रोत अधिक प्रभावपूर्ण प्रमाणित नहीं होता है।

(2) **अनुसूची** (Schedule)–यह भी एक प्रकार की प्रश्नावली ही है, पर इसे डाक द्वारा न भेजकर सूचनादाताओं के पास स्वयं जाकर इसे भरवा लिया जाता है अथवा अनुसन्धानकर्त्ता सूचनादाता से प्रश्न–पूछकर उत्तर भर लेता है। यह स्त्रोत तभी लाभप्रद सिद्ध होता है जबकि अध्ययन–क्षेत्र बहुत विस्तृत न हो। पर इसके द्वारा अशिक्षित व्यक्तियों से भी सूचना प्राप्त की जा सकती हे।

(3) **साक्षात्कार** (Interview)–प्राथमिक सूचनाओं को प्राप्त करने का एक और उल्लेखनीय साधन सम्बन्धित स्थानीय व्यक्तियों से स्वयं मिलकर व उनसे बातचीत करके विषय से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करना है। स्थानीय व्यक्ति उस घटना के साथ रहे होते हैं। उसमें जीते हैं। उसका अनुभव करते हैं। उनके पास विश्वास करने योग्य जानकारी होती है। इसलिए उनसे साक्षात्कार करके बहुत कुछ पाया जा सकता है। आवश्यक भी। महत्वपूर्ण भी।

प्राथमिक तथ्य खोजने का दूसरा तरीका – प्रत्यक्ष निरीक्षण (Direct Observation)

'प्रत्यक्ष निरीक्षण' सबसे अधिक विश्वसनीय तरीका है – प्राथमिक तथ्यों को प्राप्त करने का। इसमें शोधकर्त्ता स्वयं ही अध्ययन स्थल पर जाकर अपने विषय से सम्बन्धित घटनाओं को देखता है। समझता है। तथ्यों को जुटाता

है। रहन–सहन, रीति–रिवाज, भाष, व्यवहार, आपसी व्यवहारों को समझना हो तो यह विधि सर्वोत्तम है। बस शोधकर्त्ता को यही ध्यान में रखना है कि उसका पक्षपात, उसकी भावनाएँ, लगाव या घृणा उसके अध्ययन में न जो पैठें। यह निरीक्षण गहरी सहभागिता से ज्यादा अच्छा होता है। इसमें शोधकर्त्ता कुछ समय के लिए समुदाय का अंक बन जाता है। असहभागी निरीक्षण से भी अध्ययन सम्भव है। इस विधि में शेधकर्त्ता समुदाय का अंग नहीं बनता वरन् बाहर से 'झाँकने वाला' – अध्ययनकर्त्ता ही रहता है। इसके अतिरिक्त शोध–कार्य आकस्मिक–अध्ययन पर भी आधारित हो सकता है। **वेब** और **वेब** ने लिखा है कि "किसी.... के वास्तविक क्रियाओं का अध्ययन करने के लिए सोच–समझकर लगातार व्यक्तिगत अवलोकन करना अनिवार्य है।"

प्राथमिक तथ्यों के गुण (Utility of Primary Data)

(1) प्राथमिक तथ्यों के अध्ययन में शेध्कर्त्ता पर्याप्त लचीला होकर कार्य करता है। परिस्थिति के अनुसार विधियों में परिवर्तन कर सकता है।

(2) शोधकर्त्ता के निर्देशन में व्यापक तौर पर संकलित किए जाने में सरल होते हैं।

(3) विश्वसनीय होते हैं।

(4) यदि शोधकर्त्ता सूझ–बूझ से काम ले तो गहरे तथ्य भी मिल जाते हैं।

(5) प्रामाणिक होने के कारण प्राथमिक तथ्यों पर आधारित निष्कर्ष भी प्रामाणिक होते हैं।

(6) समय, श्रम, धन की भी हानि नहीं होती है।

(7) निष्कर्षों की तुलना करने में सरल होते हैं।

प्राथमिक तथ्यों की कमियाँ (Demerits of Primary Data)

(1) पक्षपात और मिथ्या दृष्टि की सम्भावना अधिक रहती है।

(2) प्राथमिक तथ्यों तोड़–मरोड़कर पेश किया जा सकता है।

(3) ये केवल वर्तमान काल से ही सम्बन्धित सूचनाएँ दे पाते हैं।

(4) कम दक्ष एवं अर्द्ध प्रशिक्षित शोधकर्त्ता की देख–देख में संकलित किए जाने वाले प्राथमिक तथ्य विश्वसनीय नहीं हो पाते।

द्वैतीयक प्रकार के तथ्य (SECONDARY DATA)

द्वितीयक तथ्य वे सूचनाएँ और/अथवा आँकड़े हैं जो कि अनुसन्धानकर्त्ता को प्रकाशित व अप्रकाशित प्रलेखों (documents)] रिपोर्ट, सांख्यिकीय (statistics), पाण्डुलिपि, पत्र–डायरी आदि से प्राप्त होते हैं। द्वितीयक तथ्यों की उल्लेखनीय विशेषता यह होती है कि ये तथ्य, सूचनाएँ या आँकड़े स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता अपने कार्य में उपयोग करने के लिए एकत्रित कर लेता है। द्वितीयक तथ्यों के भी दो प्रमुख स्त्रोत होते हैं – एक तो **व्यक्तिगत प्रलेख** (Personal Documents) जैसे – आत्मकथा, डायरी, पत्र आदि और दूसरा, **सार्वजनिक प्रलेख** (Public Documents) जैसे – रिकार्ड, पुस्तकें, जनगणना रिपोर्ट, विशिष्ट कमेटियों की रिपोर्ट, समाचारपत्र व पत्रिकाओं में प्रकाशित सूचनाएँ, सरकारी, अर्द्धसरकारी, गैर सरकारी व शोध संस्थानों के प्रकाशनों में या व्यापारिक पत्रों एवं अप्रकाशित अनुसंधान कार्यों से प्राप्त होते हैं। विदेशी सरकारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों द्वारा अनेक क्षेत्रों में आँकड़ों का संग्रहण व प्रकाशन किया जाता है, इन्हें द्वितीयक समंकों के रूप में प्रयेग किया जाता है। **लुण्डवर्ग (lundberg)** के अनुसार – शिलालेख, स्तूप, विभिन्न खुदाइयों से प्राप्त अस्थिपिंजर, भौतिक वस्तु आदि ऐतिहासिक स्त्रोत से प्राप्त तथ्य या सूचनाएँ भी द्वितीयक तथ्यों के अन्तर्गत आते हैं।

श्रीमती पी.वी. यंग के अनुसार, "द्वैतीयक तथ्य वे होते हैं न्हिं मौलिक स्त्रोतों से एक बार प्राप्त कर लेने के पश्चात् काम में लिया गया हो एवं जिनका प्रसारण अधिकारी उस व्यक्ति से भिन्न होता है जिसने प्रथम बार तथ्य संकलन को नियन्त्रित किया था।" स्पष्ट है कि द्वैतीयक तथ्य वे तथ्य होते हैं जिनका एकत्रीकरण स्वयं या शोधकर्त्ता या उसके सहायकों द्वारा नहीं किया गया हों ऐसे तथ्य किन्हीं औरों ने जुटाये हैं। शोधकर्त्ता तो बस उसे सत्य मानकर अपने काम में उपयोग कर रहा है।

द्वैतीयक तथ्यों के गुण (Utility of Secondary Data)

(1) द्वैतीयक तथ्य लिखित या किसी अन्य तरह से रिकार्ड बन जाते है। **जान मेज** के अनुसार, ये तथ्य आँकड़े उपलब्ध कराते हैं और अपने समय तथा स्थान एवं समुदाय के बारे में सूचनाएँ भी देते हैं।

(2) शोध करने वाले को अपने विषय से सम्बन्धित पूर्व जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। ऐसे में द्वैतीयक तथ्य सहायक होते हैं।

(3) **क्लूखोन** के अनुसार, ये तथ्य नयी जानकारियों के लिए संकलन और विश्लेषण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

(4) **पी.वी. यंग** ने कई बातें कही हैं –

(अ) प्रलेखों से अन्तर्दृष्टि मिलती है। प्रश्न पूछने में सहयोग मिलता है।

(ब) प्रलेखों की प्रकृति ऐन मौके पर प्रविधि के चुनाव में निर्णायक होती है।

(स) किसी तथ्य के दुबारा संकलन को अनावश्यक माना जाता है। प्रलेख अपने आप में पिछले तथ्यों की जानकारी दे देते हैं।

(5) **लुण्डवर्ग** कहते हैं –

(अ) एक ही प्रकार के अनुसन्धान कार्य को फिर से करने की गलती से बचा देते हैं – द्वैतीयक तथ्य।

(ब) अप्रत्याशित आपत्तियों की सूचना भी देते हैं।

(स) अनुसन्धान के निष्कर्षों की तुलना को सरल बना देते हैं।

प्राथमिक व द्वैतीयक तथ्यों में अन्तर

(1) प्राथमिक एवं द्वैतीयक तथ्य वास्तव में समय एवं अनुसन्धानकर्त्ता की दृष्टि से सापेक्ष हैं। एक शोधकर्त्ता, जिसने पहले काम किया – उसके लिए जो तथ्य प्राथमिक हैं – वे ही तथ्य उस शोध्कर्त्ता के लिए द्वैतीयक हो जायेंगे जो उसी क्षेत्र में बाद में काम कर रहा है।

(2) प्राथमिक तथ्यों को द्वैतीयक तथ्यों की तुलना में अधिक विश्वसनीय माना जाता है। अधिक मौलिक (original) कहा जाता है।

(3) प्राथमिक तथ्य द्वैतीयक तथ्यों की तुलना में नवीनतर होते है।

(4) प्राथमिक तत्वों का ही जब दुबारा उपयोग करते हैं – अध्ययन में – तो उन्हें द्वैतीयक कहा जाने लगता है।

(5) प्राथमिक तत्वों के संकलन में शोधकर्त्ता का अपना निर्देशन होता है। द्वैतीयक तथ्य किसी और के निर्देशन में रिकार्डेड होते हैं।

(6) प्राथमिक तथ्यों के संकलन में धन, समय, परिश्रम, योजना और बुद्धि का प्रयोग होता है। द्वितीयक तथ्यों को केवल अन्य स्थानों से उद्धत करना होता है अतः धन, समय और परिश्रम का विशेष उपयोग नहीं होता।

द्वैतीयक स्त्रोतों के उदाहरण

द्वैतीयक स्त्रोातों को प्रमुखतः दो भागों में विभाजित किया जाता है : **प्रथम, व्यक्तिगत प्रलेख** (jpersonal Documents)**तथा द्वितीय, सार्वजनिक प्रलेख** (Public Documents), इन पर विचार करने से

यह स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगा कि शोधकर्त्ता किन–किन स्त्रोतों से द्वैतीयक तथ्य एकत्रित कर अपने अध्ययन हेतु उपयोग में ला सकता है।

व्यक्तिगत प्रलेख (PERSONAL DOCUMENTS)

जॉन मेज ने लिखा है, "अपने संकुचित अर्थ में, व्यक्तिगत प्रलेख किसी व्यक्ति के द्वारा उसकी स्वयं की क्रियाओं, अनुभवों एवं विश्वासों के बारे में स्वयं द्वारा लिखा गया एक विवरण है।" **जहोदा** एवं उनके सहयोगी लेखकों के अनुसार, "व्यक्तिगत प्रलेखों के अन्तर्गत उन सभी प्रलेखों को सम्मिलित किया जाता है जो सामान्यतः सूचनादाताओं के व्यक्तिगत जीवन के आधार पर स्व्यं उन्हीं के द्वारा लिखे जोते हैं एवं जिनमें उनके स्वयं के अनुभव शामिल होते हैं।" पर याद रखें कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि उन्हें लिखते समय लिखने वाले का सामाजिक अनुसन्धान सम्बन्धित दृष्टिकोण हो।

व्यक्तिगत प्रलेखों के पीछे का मनोविज्ञान

व्यक्तिगत प्रलेख क्यों तथा किस लिए रखे जाते हैं ? इस सम्बन्ध में आलपोर्ट **(Alport)** ने 13 कारण बतलाये हैं –

(1) अपने किसी कार्य के औचित्य को सिद्ध करने के लिए।

(2) प्रदर्शन, जैसे – 'रूसो' का कनफेंशन्स **(Confessions)** ।

(3) क्रमबद्ध वर्णन की इच्छा, जेसे – पेपी की डायरी **(Paipy Diary)** ।

(4) साहित्यिकता का आनन्द, जिसमें व्यक्तिगत अनुभवों को सुन्दर तथा रोचक विधि से प्रकट किया जाता है।

(5) व्यक्तिगत प्रलेखों में अनुसन्धान के लिए।

(6) मानसिक तनाव से छुटकारा पाने के लिए।

(7) धन सम्बन्धी प्राप्ति के लिए।

(8) किसी सौंपे हुए कार्य की पूर्ति के लिए। कभी–कभी इस प्रकार के प्रलेख दूसरों की आज्ञानुसार लिखे जाते हैं।

(9) चिकित्सा सम्बन्धी विवरण के लिए, जैसे मानसिक चिकित्सा के लिए पिछली घटनाओं तथा अनुभवों का वर्णन।

(10) अपराधों की स्वीकृति के लिए जिससे मन का बोझ हल्का हो, रह सके।

(11) वैज्ञानिक–रूचि।

(12) जन–सेवा–अपने अनुभवों द्वारा – जन कल्याण के लिए।

(13) अमरता की भावना से।

व्यक्तिगत प्रपत्र भी कई प्रकार के होते हैं। उनमें से कुख्य–मुख्य इस प्रकार हैं –

(1) व्यक्तिगत पत्र, (2) डायरी, (3) जीवन–इतिहास, (4) संस्मरण आदि।

(1) **पत्र (letters)**–व्यक्तिगत पत्र मन के गाँठ खोलकर लिखे जाते हैं। इसलिए हमें लेखक के विचार, विरोध और विवेक तीनों के प्रमाण मिल जाते हैं। पारिवारिक तनाव, असमायोजन, प्रेम, मित्रता, यौन जीवन की झलक मिल जाती है। जिनके आधार पर सम्पूर्ण व्यक्तित्व व्यवस्था के सम्बन्ध में सूचनाएँ संकलित की जा सकती है। पर इन्हें प्राप्त करना पठिन है। साथ इनके विवरण बहुत संक्षेप में होते हैं।

(2) **डायरी (Diary)**–डायरी लिखना एक ऐसी आदत है जो व्यक्ति के भीतरी जीवन के बाहर की घटनाओं से जोड़ती है और लेखक के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है। विस्तृत और नियमित डायरी लेखन माने – विश्वसनीय तथ्यों का पुलिन्दा। शोधकर्त्ता उन तथ्यों में से अपनी आवश्यकता के अनुरूप सूचनाएँ ले सकता है। शोधकर्त्ता को डायरी से तथ्य संकलित करते समय कई चीजें ध्यान में रखनी चाहिए। जैसे –

(i) नाटकीयता और अतिशयोक्तियों की पहचान करना जरूरी है।

(ii) टुकड़े–टुकड़े का दैनिक वर्णन मिलाकर तथ्य को समझना चाहिए।

(iii) इसमें दी गयी सूचनाएँ संक्षिप्त होती हैं इसीलिए उनकी जाँच करना आवश्यक है।

(3) **जीवन–इतिहास (Life History)– प्रो. मैज** का मानना है कि "जीवन इतिहास विस्तृत आत्मकथा ही होती है।" स्वलिखित या परलिखित (Autobiography or Biography) दोनों ही व्यक्ति की कथाएँ हैं। **एक,** अपनी दृष्टि से अपनी कथा। **दूसरी,** पराये लेखक की दृष्टि से कथा। जीवन–इतिहास, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वैयक्तिक परिवेशों की पूरी सूचना देता है।

जीवन–इतिहास तीन प्रकार के होते हैं –

(i) स्वतः लिखित आत्मकथा (Spontaneous Autobiography)– **वह आत्मचरित है** जाकि एक व्यक्ति स्वतः अपनी इच्छा से अपने जीवन की घटनाओं का रिकार्ड रखने के लिए लिखता है। अनेक दिन बाद भी

पुरानी बातों को याद करके दुःख–सुख को अनुभव करने और आत्म–विश्लेषण करने के लिए इस प्रकार की जीवनी लिखी जाती है और इसलिए यह अधिकतर निष्पक्ष होती है।

(ii)**ऐच्छिक आत्मकथा** (Volunteered Self-record)–वे आत्मकथाएँ हैं जो किसी प्रकाशक या अन्य व्यक्ति के कहने से एक व्यक्ति ऐच्छिक तौर पर लिखता है।

(iii)**संकलित जीवन–इतिहास** (Compiled Life History)–वे जीवनियाँ हैं जो कि किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा लिखी जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मूल व्यक्ति स्वयं अपनी जीवन–कथा नहीं लिखता है बल्कि उसके द्वारा विभिन्न अवसरों पर दिये गये व्याख्यान, लिखित रचनाएँ, साक्षात्कार के समय कही गई बातें, पत्र आदि के माध्यम से प्राप्त सामग्री को संकलित करके कोई दूसरा व्यक्ति उसकी जीवनी को तैयार करता है।

इन सभी प्रकार के जीवन इतिहास लेखन में तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक घटनाओं का संकेत रहता है, जिनके विश्लेषण से शोधकर्त्ता को पर्याप्त तथ्य प्राप्त हो सकते हैं।

जीवन–इतिहासों के उपयोग की कुछ सीमाएँ भी हैं –

प्रथम, इनमें वस्तुनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। आत्मकथाएँ लिखने वाले अधिकांशतः यह जानते हैं कि उनका प्रकाशन होगा, अतः वे उनके दुर्बल पक्षों को कई बार छिपा जाते हैं, परिस्थितियों व घटनाओं का यथार्थ चित्रण नहीं कर पाते। इससे आत्मकथाओं द्वारा प्राप्त सामग्री की वस्तुनिष्ठता एवं विश्वसनीयता कम हो जाती है। **द्वितीय,** जीवन–इतिहासों से संकलित तथ्यों की जाँच करना सम्भव नहीं होता है। **तृतीय,** जीवन–इतिहासों में व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाता है। जीवन–चरित्र लिखने वाले, किसी नेता या महापुरूष की प्रशंसा में घटनाओं को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हैं। **चतुर्थ,** लेखक जिन घटनाओं को अपनी दृष्टि से महत्वपूर्ण समझतें, उन्हें बढ़ा–चढ़ाकर और शेष को अति संक्षिप्त में प्रस्तुत करते या छोड़ देते हैं। जो बातें उनके सम्मान की दृष्टि से अरूचिकर होती है, उन्हें वे स्थान नहीं देते हैं। इससे वास्तविक स्थिति का पता नहीं चल पाता है। ऐसी सामग्री के आधार पर वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाला बहुत कठिन है।

(4) **संस्मरण** (Memories)–अनेक व्यक्ति अपने यात्राओं, जीवन के रोमांचक अनुभवों और महत्वपूर्ण घटनाओं के विषय में संस्मरण प्रकाशित करते हैं अथवा समय–समय पर इन्हें दूसरे लोगों को सुनाते रहते हैं। वास्तव में, इनमें से अनेक संस्मरण – सामाजिक अनुसंधान के लिए तथ्यों के संकलन का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत होते हैं। इन संस्मरणों में एक समय विशेष की राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक दशओं का समावेश होता है। अक्सर लोगों के रीति–रिवाजों, सांस्कृतिक विशेषताओं, भाषा तथा रहन–सहन को समझने में भी यह संस्मरण बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। यह सच है कि संस्मरणों में भी क्रमबद्धता का अभाव होने के साथ ही व्यक्तिगत अभिनति की सम्भावना रहती है लेकिन तथ्य संकलन के एक द्वैतीयक स्त्रोत के रूप में इनकी उपयोगिता को

अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतीत में कोलम्बस, फाहियान, ह्वेनसांग तथा मैगस्थनीज जैसे व्यक्तियों द्वारा लिखित संस्मरणों के आधार पर बहुत उपयोगी सूचनाओं को प्राप्त किया जा सका।

व्यक्तिगत प्रलेखों की सीमाएँ

(1) **जॉन मैज** ने लिखा है कि यह निर्धारित कर सकना बहुत कठिन कार्य है कि किसी विशेष प्रलेख को कहाँ से प्राप्त किया जाय, प्रलेख को प्राप्त करने की अनुमति कहाँ से प्राप्त हो सकती है तथा किसी विशेष प्रलेख का उपयोग किस सीमा तक किया जा सकता है।

(2) यह समझना भी बहुत कठिन है कि कोई व्यक्तिगत प्रलेख कहाँ तक विश्वसनीय है।

(3) वैयक्तिक प्रलेखों से प्राप्त तथ्यों का सांख्यिकीय विश्लेषण भी नहीं किया जा सकता।

(4) अधिकांश वैयक्तिक प्रलेखों में व्यक्तिगत अभिनति का समावेश होता है।

सार्वजनिक प्रलेख (PUBLIC DOCUMENTS)

द्वैतीयक सूचनाओं की प्राप्ति के लिए सार्वजनिक प्रलेख बहुत महत्वपूर्ण हैं। सार्वजनिक प्रलेख, सार्वजनिक सूचना या उपयोग के लिए सरकार अथवा किसी समर्थ संस्था द्वारा तैयार किए–कराये जाते हैं। कभी–कभी व्यक्तिगत प्रयत्न भी सार्वजनिक प्रलेख बन जाते हैं। ये दो तरह के हो सकते हैं –

(1) **प्रकाशित प्रलेख** (Published Documents)।

(2) **अप्रकाशित प्रलेख** (Unpublished Documents) ।

वे हो सकते हैं –

(अ) प्रकाशित लेख (व्यक्तिगत, सरकारी या संस्थागत)।

(ब) शोध संस्थानों के अथवा शोध छात्रों के अथवा किसी रूचिवान द्वारा लिखे छापे गये प्रतिवेदन।

(स) समितियों व आयोगों के प्रतिवेदन।

(द) जनगणना सम्बन्धी रिपोर्ट।

(य) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रकाशन।

(र) पत्र, पत्रिकाएँ, अखबार।

(ल) अभिलेख (ताम्र पत्र, भोजपत्र, पत्थर पर)।

(व) पाण्डुलिपियाँ।

(ष)लोकगीत, लोकगाथा, स्मृतियाँ।

प्रलेखों की अनिवार्यता –

तथ्य संकलन के द्वैतीयक स्त्रोत चाहे व्यक्तिगत प्रलेख के रूप में हों या सार्वजनिक प्रलेख के रूप में, चाहे वे प्रकाशित हों अथवा अप्रकाशित हों, परन्तु सामाजिक शोध की दृष्टि से उनकी काफी उपयोगिता है।

प्रलेखीय सामग्री के लाभ

पी.वी. यंग ने विश्वसनीय प्रलेखीय सामग्री के उपयोगी लाभ इस प्रकार बताये हैं :

(1) इससे शोध–कार्य में अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है एवं सही प्रश्नों को पूछने में मदद मिलती है।

(2) इससे अध्ययन को विधियों का चयन करने में मदद मिलती है।

(3) इससे प्राक्कल्पना के निर्माण एवं परीक्षण में मदद मिलती है। तथा

(4) इससे शोधकार्य में अनावश्यक पुनरावृत्ति से बचने में मदद मिलती है।

थोमस ऐडिसन का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है आपने बताया है, "मैं जब भी कोई खोज या अनुसन्धान करना चाहता हूँ तब मैं भूतकाल में उसे सम्बन्ध में जो कुछ किया जा चुका है, उसे पढ़कर उसके पश्चात् अपना कार्य प्रारम्भ करना चाहता हूँ। इस कथन से द्वैतीयक सामग्री की उपयोगिता का पता चलता है।

तथ्यों के संकलन का महत्व (Importance of Collection of Data)

सामाजिक अनुसंधान में तथ्यों के संकलन के महत्व को संक्षेप में निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है –

(1) किसी भी सामाजिक अनुसंधान का वास्तविक कार्य तथ्यों के संकलन से ही आरम्भ होता है। संकलित तथ्यों का वर्गीकरण और व्याख्या करने से ही महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं ।

(2) सामाजिक अनुसंधान के अन्तर्गत तथ्य संकलन की एक महत्वपूर्ण उपयोगिता यह है कि संकलित तथ्य के द्वारा ही किसी समस्या अथवा घटना के कारणों और परिणामों को ज्ञात किया जा सकता है।

(3) इनके आधार पर समस्याओं को समाधान करना भी सम्भव हो जाता है।

(5) तथ्यों के संकलन के दौरान यह ज्ञात किया जा सकता है कि वर्तमान में हमारे साधन तथा समस्याएँ क्या हैं और भविष्य में विभन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किन क्षेत्रों में परिवर्तन लाना आवश्यक है।

(6) तथ्यों का संकलन प्रशासनिक सुधार तथा नीतियों में परिवर्तन करने के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है।

(7) एक ही समूह अथवा समुदाय की विभिन्न सामाजिक विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन करने में भी तथ्यों के संकलन का महत्वपूर्ण योगदान है।

(8) सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में तथ्यों का संकलन एक महत्वपूर्ण कार्य है। नये ज्ञान और सृजन और सिद्धान्तों का निर्माण तथ्यों के संकलन के बिना नहीं किया जा सकता। नियोजित परिवर्तन, प्रशासनिक सुधार, सामाजिक नियंत्रण और जन कल्याण से सम्बन्धित प्रयत्नों के क्षेत्र में तथ्यों का संकलन इसकी व्यावहारिक उपयोगिता को स्पष्ट करता है।

द्वितीयक समंकों के प्रयोग में सावधानियाँ (Precautions is use of Secondary Data)

अन्य व्यक्तियों द्वारा संकलित किए जाने वाले द्वितीयक समंकों के प्रयोग में पूर्ण सावधानी का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि वे अपूर्ण, अपर्याप्त एवं सीमित होते हैं। अतः द्वितीयक समंकों का प्रयोग करने में निम्न सावधानी आवश्यक है –

(1) **पूर्व अनुसन्धानकर्ता के सम्बन्ध में जानकारी**–पिछले अनुसन्धानकर्ता के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। यदि समंकों का संतुलन अयोग्य तथा अनुभवहीन संगठन या व्यक्ति द्वारा किया गया तो उसकी विश्वसनीयता संदेहजनक होती है।

(2) **पूर्व अनुसन्धान का उद्देश्य या क्षेत्र**– द्वितीय समंकों का प्रयोग करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक होता है जिस अनुसन्धान के लिए समंकों का संकलन किया गया था उसके उद्देश्य या क्षेत्र क्या थे। यदि नये व पुराने अनुसन्धानों के उद्देश्य व क्षेत्र समान हों तभी द्वितीय समसंसकों का उपयोग उपयुक्त होता है।

(3) **पूर्ण अनुसन्धान में समंकों के संकलन की रीति** –प्राथमिक समंकों के संकलन में प्रयक्त रीति वर्तमान अनुसन्धान के लिए किस सीमा तक उपयुक्त एवं उपयोगी सिद्ध हो सकती है इस पर भी विचार कर लिया जाना चाहिए। हो सकता है पहले प्रत्यक्ष अनुसन्धान का प्रयोग किया गया हो अथवा अप्रत्यक्ष अनुसन्धानों का, जो अब उपयुक्त न हो।

(4) **संकलन की प्रविधि** – संगणना अथवा निदर्शन में इस बात की जानकारी आवश्यक है कि पूर्व में किस प्रविधि से आँकड़े दिये गए थे। निदर्शन की भी कौन–सी विधि अपनायी गयी थी? प्रतिचयन किस मात्रा में तथा किस सीमा तक लिया गया था ? क्या वर्तमान अनुसन्धान के लिए उसे प्रतिनिधि प्रतिदर्श मानेंगे अथवा नहीं ? इन सब बातों को ध्यानपूर्वक सोच लिया जाना चाहिए।

(5) **नये अनुसन्धान के लिए उपयुक्तता**– यह भी देखना चाहिए कि द्वितीयक समंक नये अनुसन्धान उद्देश्यों के अनुसार उपयुक्त हैं अथवा नहीं ?

(6) **तुलनीयता तथा सजातीयता** – यह भी ध्यान रखना चाहिए कि द्वितीयक समंकों में तुलनीयता तथा सजातीयता के गुण हैं अथवा नहीं ? यदि समंक परस्पर तुलना योग्य न हों तो उन्हें प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(7) **इकाई की परिभाषा** – यह भी देख लिया जाना चाहिए कि पूर्व अनुसन्धान में समंकों के संकलन के लिए इकाई के जो अर्थ रखे गये कि, वे वर्तमान में अनुकूल हैं अथवा नहीं ? यदि इकाईयों की परिभाषा में अन्तर हो तो समंकों में आवश्यक संशोधन व समायोजन कर लेना ठीक रहता है।

(8) **शुद्धता की मात्रा** – गत सांख्यिकीय अनुसंधान में शुद्धता का रखा गया स्तर वर्तमान अनुसन्धन के लिए वांछनीय स्तर के समान ही है अथवा नहीं, यदि शुद्धता का अधिक स्तर आवश्यक है तो द्वितीयक समंकों का प्रयोग अनुपयुक्त होगा।

(9) **अवधि एवं परिस्थितियाँ** – जिस अवधि में प्रथम अनुसन्धान सम्बन्धित है तथा उस समय जो परिस्थितियाँ विद्यमान थीं, उनकी जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। समय के साथ–साथ परिस्थितियों में परिवर्तन आता रहता है। यदि वर्तमान परिस्थितियाँ उस काल की परिस्थितियों से भिन्न हैं तो आँकड़ों का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

(10) **पूर्व परीक्षण** –समंकों की विश्वसनीयता की जाँच करने के लिए परीक्षण कर लिया जाना चाहिए और उसके परिणामों के आधार पर द्वितीयक समंकों का उपयोग किया जाना चाहिए।

इस प्रकार द्वितीयक समंकों के प्रयोग से पूर्व उनके व्यापक जाँच व निरीक्षण की आवश्यकता होती है। उनको बिना जाँच के स्वीकार नहीं करना चाहिए। जो लोग उन्हें निर्विरोध स्वीकार करते हैं वे सांख्यिकी का सही प्रयोग नहीं करते।

जे.एम. बैवन के अनुसार, "अन्य व्यक्तियों के परिणामों को अपनाना ही हमारी शोध को उचित दिशा देने के लिए पर्याप्त न होगा। हमें सामान्य ज्ञान, दूरदर्शिता तथा विद्यमान ज्ञान का उपयोग करते हुए उनकी गहराई में जाकर अज्ञानता के क्षेत्र जिसमें हम अनुसन्धान कर रहे हैं, की खोज करनी चाहिए।

विशेष –तथ्यों को प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें उचित क्रम में कैसे सजाया जाता है, वर्गीकरण और सारणीयन कैसे होता है, फिर उनका विश्लेषण कैसे किया जाता है – आदि प्रश्नों के उत्तर कुछ अध्यायों के अन्य लेखनों के बाद दिए जायेंगे।

श्रेष्ठ साक्षात्कारकर्त्ता के लक्षण (Qualities of a Bright Interviewer)

साक्षात्कारकर्त्ता एक अनुसन्धानकर्त्ता होता है। उसमें भी अनुसन्धानकर्त्ता के सभी गुण होने चाहिए तभी वह सफल साक्षात्कारकर्त्ता बन सकता है। उसमें अन्य अनेक विशेष गुण जैसे – कुशलता, चतुरता, बौद्धिक ईमानदारी,

निष्पक्षता, विनम्रता, प्रेम की भावना आदि गुण होने चाहिए क्योंकि कुछ सूचनादाता अत्याधिक चतुर एवं मक्कार होते हैं। हो सकता है वे साक्षात्कारकर्त्ता को बेवकूफ बनाने का प्रयत्न करते हों। कोई साक्षात्कारदाता अत्यधिक मन्द बुद्धि का होता है, तो कोई डरपोक एवं आत्मगत। कोई साक्षात्कारदाता केवल अपनी ही बात कहने का आदि होता है, तो कोई साक्षात्कारकर्त्ता से ही नई–नई बातें सुनने का इच्छुक होता है। कोई साक्षात्कारदाता तो अत्यधिक बढ़ा–चढ़ाकर बातें करता है, तो कोई आदर्शवादिता के पीछे पड़ा रहता है। कोई साक्षात्कारदाता तो अत्यधिक झूठ बोलने का प्रयत्न करता है एवं बड़ी मुश्किल से अपने मन की बात कहता है, साक्षत्कारकर्त्ता को इन सभी प्रकार के व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित कर, उनको प्रसन्न कर, अपने मतलब की बात निकालनी पड़ती है।

अच्छे साक्षात्कारकर्त्ता के गुणों की हम अग्रलिखित संक्षिप्त सूची बना सकते हैं –

(1) साक्षात्कारकर्त्ता का व्यक्तित्व हँसमुख, प्रभावशाली एवं आकर्षक होना चाहिए।

(2) उसमें धैर्य एवं सहनशीलता होनी चाहिए।

(3) उसमें आत्म–नियन्त्रण रखने की क्षमता होनी चाहिए।

(4) उसे एक व्यवहार कुशल, विनम्र एवं चतुर व्यक्ति होना चाहिए।

(5) उसमें वाक्पटुता तथा हाजिरजबाबी का गुण होना चाहिए।

(6) उसमें बौद्धिक ईमानदारी एवं निष्पक्षता होनी चाहिए।

(7) साक्षात्कारकर्त्ता एक बुद्धिमान व्यक्ति होना चाहिए।

(8) उसमें शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए।

(9) उसमें समय एवं परिस्थिति के अनुसार अनुकूलन करने का गुण होना चाहिए।

(10) विषय के साथ–साथ साक्षात्कार शैलियों का ज्ञान होना चाहिए।

(11) तथ्य संकलन, सारणीयन, वर्गीकरण और प्रतिवेदन के करने–लिखने की जानकारी होनी चाहिए।

(12) उत्तरदाता को अधिक से अधिक बोलने–खुलने का अवसर दें।

साक्षात्कार विधि क्यों उपयोगी है ?(Merits of Interview Technique)

साक्षात्कार तीन अंगों के मेल का नाम है –(i) साक्षात्कारकर्त्ता, (ii) साक्षात्कारदाता, (iii) साक्षात्कार विधि। यदि ये तीनों अंग श्रेष्ठ भूमिका अदा करें तो साक्षात्कार की तकनीक सामाजिक अध्ययनों के लिए बहुत ही श्रेष्ठ है। इन तीनों की सम्मिलित श्रेष्ठ भूमिकाओं का क्रमवार वर्णन यहाँ दिया जा रहा है –

(1) साक्षात्कार एक ऐसी विधि है जिसके प्रयोग से साक्षत्कारकर्त्ता, उत्तरदाता के मन–मस्तिष्क के भीतर पैठकर सूचनाओं को देख आता है। विचार, भाव, अभिवृत्तियों का अध्ययन हो जाता है – इस विधि से।

(2) जो भी घटना को देखे, सुने या जाने हैं, जो घटना से सम्बन्धित है – चाहे उनकी शैक्षिक योग्यता जो भी हो – उनका साक्षात्कार किया जा सकता है। उनसे सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं – साक्षात्कार विधि से। यही इस विधि की विशेषता है।

(3) यह अध्ययन की लचीली विधि (flexible) है। विषयवस्तु के नियोजन और तकनीक के प्रयोग तथा संचालन की दृष्टि से समायोजन करने में यह विधि सर्वोत्तम है।

(4) इसके द्वारा भूतकाल में घटी घटनाओं, जो लोगों की स्मृति में हैं, का भी अध्ययन किया जा सकता है।

(5) जो घटनाएँ अमूर्त्त हैं, गुणात्मक प्रकृति की हैं, जो अनुभव और मस्तिष्क में हैं उनको भी संक ित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए विचार, भाव, धारणा,. संवेग, अभिवृत्ति और अनुभूति आदि।

(6) साक्षात्कार के प्रश्न और उत्तर, प्रेरणा और उत्तेजक की तरह साक्षात्कारकर्त्ता और साक्षात्कारदाता को बाँधे रहते हैं। भीतर की गोपनीयता को उगालकर शोधकर्त्ता के समक्ष रखवा देते हैं – ये सम्बन्ध ।

(7) **पी.वी.यंग** कहते हैं कि साक्षात्कार एक सामाजिक अन्तःक्रिया है, जो बिना भेद–भाव के किसी भी वर्ग, जाति, धर्म, उम्र, लिंग आदि के व्यक्तियों के बीच स्थापित हो सकती है। इस अन्तःक्रिया का परिणाम है – ज्ञानवृद्धि, अनुभव वृद्धि और साहित्य वृद्धि।

(8) साक्षात्कार प्रविधि में एक लाभ यह भी है कि इस प्रविधि द्वारा प्राप्त सूचनाओं का सत्यापन भी सम्भव होता है। इस सत्यापन के सम्भव होने का मुख्य कारण विचारों का स्वतन्त्रतापूर्वक स्पष्टीकरण किया जाना है। चूँकि साक्षात्कार में अधिकतर घटनाओं का स्वतन्त्र वर्णनात्मक स्पष्टीकरण होता है, अतः एक बार कही गयी बात की सत्यता उसके स्पष्टीकरण में प्रकट हो जाती है जबकि संक्षिप्त उत्तरों में ऐसा सम्भव नहीं हो पाता।

(9) यह विधि मनोवैज्ञानिक है। शब्द से जो कुछ ज्ञात होता है, वह तो है ही। बहुत कुछ उत्तरदाता की आकृति में हो रहे परिवर्तनों से भी जान लिया जाता है।

इसी लिए **गुडे** तथा **हाट** ने इसके महत्व को बताते हुए लिख है, ''आधुनिक अनुसन्धान में साक्षात्कार करना गुणात्मक साक्षात्कार का फिर से मूल्यांकन करने हेतु अधिक महत्वपूर्ण हो गया है।''

याद रखें – बोगार्डस (Bogardus) के मतानुसार, साक्षी उस समय सबसे अच्छे उत्तर देता हैं जब –(i) उसे वर्णनात्मक शैली का उपयोग करने दिया जाय, (ii) कम से कम हस्तक्षेप किया जाय, (iii) समय के क्रम को पालन करने या न करने की सुविधा दी जाय तथा (iv) उत्तर प्रश्नों द्वारा इंगित न किये जाएँ बल्कि वर्णन को

आरम्भ करने के लिए ही उनका उपयोग किया जाय। साधारणतया निम्नलिखित सावधानियाँ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं –

(i) संक्षिप्त कथा या वर्णन के रूप में उत्तर निकलवाया जाए।

(ii) उत्तरदाता को महत्व दिया जाए, प्रतिष्ठा दी जाए। प्रेरणा दी जाए।

(iii) व्यक्तिगत जीवन जानने का उपाय न करें।

(iv) अपने उद्देश्य के सामाजिक सामूहिक लाभ से साक्षात्कारदाता को जोड़ें।

हमने जाना

- समाज कार्य अनुसंधान के अन्तर्गत उन समस्त प्रक्रियाओं का उपयोग किया जाता है जो सामाजिक अनुसंधान या वैज्ञानिक अनुसंधान में समाहित हैं।
- वैज्ञानिक अनुसंधान के अन्तर्गत निरीक्षण परीक्षण वर्गीकरण एवं विश्लेषण के आधार पर निर्गत तथ्यों का सामान्यीकृत करके सिद्धान्त निर्माण किया जाता है।
- उद्देश्य की दृष्टि से सामाजिक अनुसंधान के अन्तर्गत शुद्ध या मौलिक शोध, क्रियात्मक शोध उपचारात्मक शोध एवं व्यावहारिक शोध प्रमुख प्रकार है।
- शोध प्रारम्भ करने के पूर्व तैयार किया गया वह दस्तावेज जिसके आधार पर भविष्य में शोध का कार्य सुगमतापूर्वक संचालित होता है शोध प्रारूप कहलाता है।
- उपकल्पना के द्वारा शोध को सही दिशा और सुगमतापूर्वक संचालित करने के लिए शोध के पूर्व कुछ निष्कर्षों को मानकर उसके सही एवं गलत होने का विश्लेषण किया जाता है।
- शोध की सीमाओं जैसे समय, धन एवं श्रम को देखते हुए वैज्ञानिक ढंग से समग्र के भाग का चयन करना निदर्शन कहलाता है।
- वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाओं के विस्तार हेतु अनुसंधान के दौरान संकलित की जाने वाली उपयोगी एवं विषय के अनुरूप आवश्यक छोटी–से छोटी सूचनाओं को तथ्य या सामग्री कहा जाता है।
- तथ्य दो प्रकार के होते हैं– प्राथमिक एवं द्वितीयक तथ्य।

कठिन शब्दों के अर्थ

- वैज्ञानिक विधि – निरीक्षण, परीक्षण तथा वर्गीकरण के आधार पर प्राप्त वस्तुगत ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार वे समस्त विधियाँ जो वस्तुगत ज्ञान तक पहुँचाने में सहायक होती हैं वैज्ञानिक विधि कही जाती हैं।
- आगमन एवं निगमन – विशिष्ट से सामान्य अथवा सूक्ष्म से व्यापक निष्कर्षों तक पहुँचने की प्रक्रिया को आगमन विधि एवं इसके विपरीत व्यापक से सामान्य अथवा सूक्ष्म निष्कर्षों पर पहुँचने की प्रक्रिया को निगमन विधि कहा जाता है। तर्कशास्त्र की इन दोनों विधियों से निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

1. वैज्ञानिक अनुसंधान क्या है?
2. समाज कार्य या सामाजिक अनुसंधान किसे कहते हैं।
3. सामाजिक अनुसंधान के क्षेत्र एवं चरण कौन–कौन से हैं।
4. शोध प्रारूप का निर्माण कैसे होगा।
5. उपकल्पना क्यों तथा कैसे बनाई जाती है।
6. सामाजिक अनुसंधान की पद्धतियाँ कौन–कौन सी हैं।
7. निदर्शन क्यों तथा कैसे किया जाता है।
8. प्राथमिक एवं द्वितीयक तथ्यों का संकलन कैसे होता है।
9. सामाजिक अनुसन्धान में अनुसन्धान प्रारूपों की क्या भूमिका है ?
10. अनुसन्धान प्रारूपों के मुख्य प्रकारों का सोदाहरण उल्लेख करिए ।
11. उपकल्पना किसे कहते हैं ? यह अन्तिम निष्कर्ष से कैसे भिन्न होती है?
12. उपकल्पना निर्माण के लिए अनुसन्धानकर्त्ता के क्या प्रयत्न करना चाहिए ?
13. उपकल्पना बनाने की प्रेरणा या सूझ कहाँ से मिलती है ?
14. उपकल्पना की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
15. एक ऐतिहासिक विधि क्या है ? इससे किए जाने वाले अध्ययनों के गुण–दोष बताइए।
16. आगमन विधि को समझाइए एवं गुण दोष बताइए।
17. आगमन विधि और निगमन विधि में क्या अन्तर है। निगमन विधि से निकाले गये निष्कर्षों की विश्वसनीयता के बारे में प्रकाश डालिए।
18. निदर्शन क्या है ? निदर्शन के कुछ प्रमुख प्रकारों पर प्रकाश डालिए।
19. निदर्शन की क्या उपयोगिता है ? – सामाजिक अनुसंधान में।
20. दैव निदर्शन क्या है ? इसे कैसे किया जाता है ? कुछ विधियों का उल्लेख करिए।
21. स्तरीकृत निदर्शन क्या है ? यह दैव निदर्शन से किस प्रकार भिन्न है ?
22. सविचार निदर्शन पर प्रकाश डालिए।
23. सैम्पलिंग (निदर्शन) के सिद्धान्त पर एक निबन्ध लिखिए।

24. शोधकर्त्ता की दृष्टि में 'तथ्य' क्या हैं ? तथ्यों के स्त्रोतों का विवेचन कीजिए।

25. प्राथमिक और द्वैतीयक तथ्य क्या हैं ? इनके अन्तरों पर विचार कीजिए।

26. तथ्यों को संकलित करते समय कौन–कौन सी सावधानियाँ रखनी चाहिए ?

आओ करके देखें

- अपने क्षेत्र की किसी समस्या के समाधान के लिए एक अनुसंधान प्रारूप की रचना कीजिए।
- अपने क्षेत्र में सतत् विकास के लक्ष्यों को स्थापित करने के लिए एक क्रियात्मक शोध (एक्शन रिसर्च) का प्रस्ताव बनाकर सम्बन्धित विभाग को प्रस्तुत कीजिए।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

- रविन्द्र नाथ मुखर्जी, सामाजिक अनुसंधान
- कोठारी, सोशल रिसर्च

■■■

15.3 सामाजिक क्रिया (Social Action)

उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे –

- सामाजिक क्रिया का तात्पर्य
- सामाजिक क्रिया और सामाजिक सुधार के बीच क्या सम्बन्ध
- सामाजिक क्रिया की प्रमुख विधियाँ एवं उपविधियाँ
- भारत में सामाजिक क्रिया के रूप में किये गये प्रमुख प्रयास

सामाजिक क्रिया की कोई सर्वसम्मत परिभाषा नहीं है, लेकिन सहमति आवश्यक है। **पॉल** के अनुसार "सामाजिक क्रिया का सम्बन्ध उन संगठित और नियोजित कार्यकलाप से है जो हैसियत, सत्ता और संसाधनों के सामाजिक वितरण को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।"

फ्राइडलैंडर के शब्दों में – "सामाजिक कार्य दर्शन और व्यवहार की रूपरेखा के अन्तर्गत सामाजिक क्रिया एक व्यक्तिगत, वर्ग अथवा सामुदायिक प्रयास है, जिसका उद्देश्य सामाजिक प्रगति लाना है, सामाजिक नीतियों में परिवर्तन करना तथा सामाजिक विधान और स्वास्थ्य तथा कल्याणकारी सेवाओं में सुधार करना है।"

रॉजर वाल्डविन ने सामाजिक क्रिया की परिभाषा इस प्रकार दी है : यह "सामाजिक कार्य या समाजसेवा से भिन्न सामाजिक तथा आर्थिक परम्पराओं में परिवर्तन के लिए संगठित पयास है। जिसके क्षेत्रों में संस्थापित संगठनों में परिवर्तन का होना अनिवार्य है। सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत राजनीति सुधार, औद्योगिक लोकतंत्र, सामाजिक विधान, जातिगत तथा सामाजिक न्याय, धार्मिक स्वतंत्रता एवं नागरिक स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन आते हैं। इसकी प्रविधियों में प्रचार, अनुसंधान और समर्थन प्रचार करना शामिल है।"

विशेषताएँ – सामाजिक क्रिया की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं –

1. सामाजिक क्रिया के लक्ष्य मूल्य तटस्थ नहीं होते हैं। उनका स्वरूप मूल्य–प्रधान और आदर्शोन्मुखी होता है, यद्यपि इन मूल्यों और मानकों में सांस्कृतिक रूप से मान्य लक्ष्यों तथा मूल्यों के अनुसार विविधता हो सकती है।
2. सामाजिक क्रिया के लिए प्रेरक बल बाहर से आ सकता है।
3. सामाजिक क्रिया में संघर्ष का तत्व होता है, जिसका समाधान सदा शान्तिपूर्ण और पूर्णतः अंहिसात्मक उपायों से नहीं होता है। भले ही हिंसा को ही इसकी निश्चित विधि घोषित नहीं किया जाता है।
4. सामाजिक क्रिया गैर–राजनीतिक नहीं होती। फिर भी अधिकांश सामाजिक क्रिया आन्दोलन राजनैतिक दलों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शुरू नहीं किए जाते हैं।
5. सामाजिक क्रिया विश्वव्यापी और भूमंडलीय मुद्दों जैसे पर्यावरण के ह्रास के विरूद्ध उसके सुरक्षा और संरक्षण या अधिक स्थानीय मुद्दों पर जैसे अपराध, शराब तथा नशीले पेय पदार्थों की बिक्री , प्रभावशाली व्यक्तियों वर्गों द्वारा ग्रामीण समुदाय के संसाधनों का गलत उपयोग, श्रमिकों का शोषण, गलत कार्य करने वालों को दण्ड, वृक्षों की अवैध कटाई आदि के विरोध में भी होते हैं। यहाँ तक कि पहले मामले में भी सामाजिक क्रिया कार्यक्रम निश्चित और केन्द्रित होने चाहिए ताकि समर्थन जुटाना और दबाव वर्ग को संगठित करना संभव हो सके।
6. सामाजिक क्रिया आन्दोलनों में नेताओं की प्रतिबद्धता, उनका भावनात्मक लगाव और लक्ष्यों में तथा प्रयुक्त उपायों में विश्वास का होना भी आवश्यक है।
7. सामाजिक क्रिया के क्षेत्र बहुत व्यापक हैं, जैसे राजनीतिक सुधार, सामाजिक और आर्थिक सुधार, सामाजिक अन्याय तथा धार्मिक असहिष्णुता का उन्मूलन, मान अधिकारों की बहाली, कानून बनाना, निर्णय करने तथा लाभ में भागीदारी, पर्यावरण संरक्षण, प्रचलित रीति–रिवाजों के फंदों से मुक्ति आदि।
8. सामाजिक क्रिया का भैगोलिक क्षेत्र विशाल हो सकता है और इसमें सम्मिलित व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक हो सकती है अथवा अपेक्षाकृत कम भी हो सकती है, यह सम्बद्ध मुद्दे पर निर्भर करता है।
9. सामाजिक क्रिया एक संगठित प्रयास है, जिसका उद्देश्य सामाजिक और आर्थिक प्रगति के लिए विशेष रूप से अल्प सुविधा प्राप्त वर्गों की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के लिए सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक ढाँचे में और उनकी कार्यशैली में परिवर्तन लाना तथा न्यायोचित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था लाना है। इसे निहित स्वार्थों के विरूद्ध और मौजूदा शक्तिशाली वर्ग (राजनीतिक वर्गों, आर्थिक हितों, उद्योग, व्यापार आदि) द्वारा शोषण के विरूद्ध जन–आन्दोलन और सामूहिक कार्रवाई के माध्यम से सुविधा वंचित वर्ग को शक्ति देने के तरीके के रूप में समझा जा सकता है।
10. सामाजिक क्रिया के उद्देश्य परिवर्तनवादी (redical) हो सकते हैं, अर्थात् वर्तमान ढांचे के आधार को ही चुनौती देना और उन्हें समाप्त करने का संकल्प करना तथा बहुधा उनका विकल्प सुझाना, भले ही इन

विकल्पों को स्पष्ट रूप से तैयार नहीं किया गया हो। दूसरी ओर, सामाजिक क्रिया विद्यमान प्रणाली में परिवर्तन के लिए कार्यशील हो सकती है।

15.3.1 सामाजिक क्रिया और सामाजिक सुधार

विद्यार्थी होने के नाते आप सामाजिक क्रिया और सामाजिक सुधार के बीच अन्तर को जानना चाहेंगे। आप सामाजिक क्रिया के बारे में कुछ जानते ही हैं। आइए, हम पहले सामाजिक सुधार का अर्थ संक्षेप से समझें।

गोरे (1987) ने सामाजिक सुधार की परिभाषा "सामाजिक अभिरुचियों में परिवर्तन लाने के लिए, सुविचारित प्रयास, सांस्कृतिक दृष्टि से परिभाषित भूमिका, अनन्य और सार्वजनिक शिक्षा की प्रक्रियाओं के रूप में किया है। संक्षेप में सामाजिक क्रिया और सामाजिक सुधार की समान विशेषताओं का विवरण निम्न है :–

1. दोनों प्रचलित प्रणालियों या मूल्यों के प्रति असंतोष से शुरू होते हैं और सामाजिक न्याय में परिवर्तन के लिए प्रयास करते हैं। दोनों ही सुविधा वंचित वर्गों की बढ़ोत्तरी के लिए "सुविधा–प्राप्त" वर्गों से परिवर्तन स्वीकार करने की अपील करते हैं।
2. दोनों अपने लक्ष्य, जिनमें से अधिकांश समान होते हैं, प्राप्त करने के लिए विभिन्न कार्यनीतियाँ और युक्तियाँ अपनाते हैं।
3. दोनों के उद्देश्य आदर्शमूलक होते हैं।
4. सामाजिक सुधार न तो आर्थिक, राजनीति संरचनाओं में पूर्ण परिवर्तन चाहता है और न ही यह उन्हें अस्वीकार करता है। यह उन्हें अधिक मानवोचित बनाने के लिए उनके निश्चित पहलुओं में संशोधन या परिवर्तन चाहता है, परन्तु सामाजिक क्रिया विद्यमान प्रणालियों में आमूल परिवर्तन करना चाहती है या उन्हें रद्द तक भी करना चाह सकती है यदि उनसे अन्याय, असमानता, दमन और शोषण होता है।
5. दोनों जन–आन्दोलन का तरीका अपनाते हैं।
6. सामाजिक क्रिया का कार्यक्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। सामाजिक सुधार, सामाजिक क्रिया का केवल एक क्षेत्र मात्र है।
7. सामाजिक सुधार का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य कानून द्वारा परिवर्तन लाना है। सामाजिक क्रिया के मामले में कानून आवश्यक भी हो सकता है और नहीं हो भी सकता है, क्योंकि उद्देश्य की प्राप्ति गैर–कानूनी उपायों से भी हो सकती है।
8. सामाजिक सुधार आन्दोलन समय की माँग से उत्पन्न होते हैं और इतिहास के भिन्न–भिन्न युगों में इनका महत्व भी अलग–अलग रहा है। इसके विपरीत, समाज के विकास की प्रत्येक अवस्था में सामाजिक क्रिया का स्थान, प्रासंगिकता और आवश्यकता होती है।
9. सामाजिक सुधार के मुख्य प्रवर्तक धार्मिक वर्ग से होते हैं। भिन्न–भिन्न समुदायों में सामाजिक क्रिया के हित परस्पर विरोधी होते हैं।

सामाजिक क्रिया के स्तर (Levels of Social Action)

सामाजिक क्रिया के कार्यों को सोलेण्डर (Solender) ने तीन स्तरों पर विवेचित किया है–

(1) स्वास्थ्य एवं कल्याण के क्षेत्र में स्थानीय, क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय सामाजिक संस्थाओं के कार्य के रूप में सामाजिक क्रिया ।

(2) समाज कार्य व्यवसाय के कार्य के रूप में सामाजिक क्रिया।

(3) एक नागरिक के रूप में सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा सामान्य सामाजिक संस्था के नेता द्वारा सामाजिक क्रिया।

सामाजिक क्रिया के उद्देश्य (Objectives of Social Action)

समाज कार्य अभ्यास के अन्तर्गत सामाजिक क्रिया एक द्वितीयक प्रणाली के रूप में प्रयोग में लाई जाती हैं जो सामाजिक नीतियों में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाने की दिशा में निर्देशित होती हैं। अतः सामाजिक किया के उद्देश्यो पर प्रकाश डालने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि परिवर्तनों के प्रकारों पर दृष्टिपात कर लें।

(1) सामाजिक क्रिया द्वारा परिवर्तन की दिशा सामाजिक दोषों को दूर करने, समुदाय की दशाओं में सुधार करने, नए विधानों का निर्माण करने या वर्तमान विधियों में आशोधन करके आवश्यक सेवाओं का सृजन करने की ओर निर्देशित होती हैं।

(2) सामाजिक क्रिया द्वारा इस प्रकार परिवर्तन पक्ष प्रभावित हो सकें।

(3) वर्तमान विधियों की समीक्षा करके उनके समुचित परिवर्तन लाना।

(4) निजी या अर्द्धसरकारी संस्थाओं की नीतियों कार्यों एवं कार्यक्रमों को प्रभावित करना।

उपरोक्त चार दिशाओं में निर्देशित समाजकार्य अभ्यास के सन्दर्भ में सामाजिक क्रिया के निम्नलिखित उद्देश्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है :–

(1) सामाजिक क्रिया का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य सामाजिक नीतियों के निष्पादन में एक विस्तृत सामाजिक दृष्टिकोण प्रदान करता है।

(2) सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं संस्थाओं द्वारा संकलित सामाजिक तथ्यों व सूचनाओं को समुदायों के सामने प्रस्तुत करना तथा इन सूचनाओं में निहित अर्थों को स्पष्ट करने में विशिष्ट ज्ञान का प्रयोग करना।

(3) समाज कार्य के व्यावहारिक अनुभव, प्राविधिक कुशलता एवं ज्ञान के उपयोग द्वारा सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए सुझाव देना।

(4) सामाजिक समस्याओं के समाधानों को गतिशील बनाने और उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए सामाजिक साधनों का एकीकरण करना।

(5) सामाजिक समस्याओं के प्रति जन साधारण में चेतना, जागरूकता तथा प्रबोध का विकास करना, कल्याण सम्बन्धी योजनाओं के प्रति सामाजिक स्वीकृति तथा सामुदायिक नेताओं का समर्थन प्राप्त करना।

(6) राजकीय व प्रशासनिक अधिकारियों व नीति निर्धारकों द्वारा कल्याण योजनाओं के प्रति स्वीकृति प्राप्त करना।

(7) सामाजिक नीतियों एवं कार्यक्रमों को सरकार द्वारा लागू किए जाने के सन्दर्भ में प्रयास करना।

(8) समाजकार्य के मूल्यों की मान्यता तथा वर्तमान सरकारी व गैरसरकारी समाज कल्याण सेवाओं व कार्यक्रमों के विकास तथा समाज कार्य के समुचित प्रयोग के लिए सरकार को प्रेरित करना।

सामाजिक क्रिया के सोपान

सामाजिक क्रिया में कुछ क्रम सम्मिलित होते हैं, ये निम्नलिखित हैं :–

1. समस्याओं का पता लगाना, इसके बारे में सूचना एकत्र करना और यह ज्ञात करना कि इसका प्रमुख प्रवर्तक कौन है, उनकी क्या भूमिका है, उनका क्या स्वार्थ है और इससे उन्हें क्या लाभ होता है।
2. की जाने वाली कार्यवाही का निर्धारण।
3. औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरीकों का प्रयोग करने के लिए समर्थन जुटाना तथा प्रभाव और शक्ति के केन्द्र का पता लगाना।
4. सामाजिक क्रिया के लक्ष्यों का पता लगाना अर्थात् अनुमानित आय।
5. कार्यनीति निर्धारित करना ,सुविचारित योजना तैयार करना, जिसमें कार्रवाइयों की श्रृंखला और नेताओं के बीच कार्य विभाजित हो।
6. संघर्ष, पक्ष प्रचार कार्रवाई के लिए तंत्र की स्थापना और नेतृत्व प्रदान करना।
7. कार्यवाही का कार्यान्वयन।
8. कार्यनीति के कार्यान्वयन की समीक्षा करना और यदि आवश्यक हो तो वैकल्पिक दृष्टिकोणों का मूल्यांकन करना तथा वैकल्पिक योजनाएँ तैयार करना।
9. संचार सारणियों को और सामाजिक क्रिया आन्दोलन संबंधी नीति निर्माण की प्रक्रिया के केन्द्र को निर्धारत करना।
10. दबाव बनाए रखना।

सामाजिक क्रिया की विशेषताएँ (Characteristics of Social Action)

(1) सामाजिक क्रिया की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सामान्य एक विशिष्ट दोनों ही रूपों से इसके उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिभाषित होते हैं।

(2) सामाजिक क्रिया संस्था द्वारा प्रदान की जाने वाली संवाओं की अंगभूत होती हैं। इसे सुचारू रूप से स्पष्ट किया जाता है तथा कार्य की सफलता के लिए प्रशासकीय साधन जुटाए जाते हैं।

(3) सामाजिक क्रिया के कार्यक्रमों की प्राथमिकता स्पष्ट होती है।

(4) जिन समूहों पर सामाजिक क्रिया के संचालन का उत्तरदायित्व होता है उन्हें सम्बन्धित सूचनाएं प्रेषित करने की व्यवस्था की जाती है।

(5) संस्था के सन्दर्भ में ही सामाजिक क्रिया के स्वरूप को परिभाषित किया जाता है।

(6) सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत कार्यक्रमों को संचालित करने के लिए व्यावसायिक दृष्टि से प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं की सेवाएं प्राप्त की जाती हैं।

(7) दूसरी संस्थाओं के साथ सहयोग की प्रकृति व दिशा को स्पष्ट किया जाता है।

(8) सामाजिक क्रिया सम्बन्धी कार्यक्रमों के संचालन के लिए सम्बन्धित राजकीय विभागों और उनके अधिकारियों से सनिरन्तर प्रकार्यात्मक सम्बन्ध स्थापित रखा जाता है तथा

(9) सामाजिक क्रिया के विशेष कार्यक्रमों को गहन रूप से विचार करके नियोजित तथा उपयुक्त समय पर कार्यान्वित किया जाता है।

सामाजिक क्रिया के तत्व (Components of Social Action)

फ्रीडलैण्डर ने सामाजिक क्रिया के प्रमुख तत्वों का उल्लेख किया है :–

(1) सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत सामूहिक क्रिया (group action) आवश्यक होती है। यह सामूहिक क्रिया एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों द्वारा आरम्भ की जा सकती है।

(2) सामाजिक क्रिया या सामाजिक आन्दोलन जनसाधारण के हित में सामाजिक परिवर्तन लाने का प्रयास करता है तथा

(3) सामाजिक क्रिया किसी भी हिंसा प्रतिबन्धित नियन्त्रण द्वारा लादी नही जाती वरन् सामाजिक विधान व कानून की सीमा में ही नियोजित व कार्यान्वित की जाती है।

15.3.2 सामाजिक क्रियाकी विधियाँ व प्रविधियाँ

(Methods and Techniques of Social Action)

(1) सामाजिक अनुसंधान, सामाजिक मामलों का अध्ययन, निर्णय का निर्धारण तथा कार्यक्रमों की संस्तुतियों से सम्बन्धित विधियां।

(2) किसी क्रिया की निश्चित दिशा के संगठित पक्ष समर्पण तथा इसके लिए जनसाधारण का समर्थन प्राप्त करने से सम्बन्धित विधियाँ।

(3) सामाजिक नीति निर्धारकों को प्रभावित करने के लिए प्रत्यक्ष प्रयासों से सम्बन्धित विधियाँ।

उपरोक्त विधियों के समुचित प्रयोग द्वारा सामाजिक क्रिया प्रणाली का अभ्यास किया जाता है जिसके माध्यम से सूचनाओं का एकत्रीकरण व संकलन अनुसंधान कार्य, विशेषज्ञों की सेवाओं की प्राप्ति, विभिन्न साधनों के प्रयोग द्वारा अपनी आवश्यकताओं व समस्याओं के अध्ययन करने की दिशा में समूहों की सहायता करना, सम्मेलन, गोष्ठी व कर्मशालाएं आयोजित करना, विधानों के लिए बिल बनाना, प्रस्ताव व मत पारित करना, प्रतिवेदनों का आलेख व उन्हें जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना, उपलब्ध संचार के साधनों का समुचित प्रयोग करना, पत्र–पत्रिकाओं व लेखों एवं शोध पत्रों का उल्लेख व प्रकाशन करना, नीति निर्धारकों को सामाजिक परिस्थितियों व समस्याओं से अवगत कराना तथा समस्याओं के निराकरण के लिए विधान निर्मित करने के लिए उन्हें प्रेरित किया जाता है।

सामाजिक क्रिया की उपरोक्त विधियों की भाँति ही क्लार्क ने भी चार विधियों का उल्लेख किया है :–

(1) अनुसंधान सहित तथ्यों का संकलन तथा उसका प्रयोग करना।

(2) शिक्षा, अर्थनिरूपण तथा जनसम्पर्क संबंधी कार्य करना।

(3) प्रशासन करना।

(4) विधान सृजन व कार्यान्वयन करना।

डी. पॉल चौधरी ने सामाजिक क्रिया प्रणाली की विधियों को निम्नलिखित रूप में सूचीबद्ध किया है:–

(1) अनुसंधान एवं तथ्यों का संकलन,

(2) जनता के विचारों में जागरूकता लाना तथा समाधान नियोजित करना,

(3) प्रमुख व्यक्तियों, समूहों व संस्थाओं से सम्पर्क करना,

(4) सार्वजनिक सम्मेलन,

(5) सामाजिक शिक्षा,

(6) प्रचार,

(7) विचार विमर्श,

(8) जनता के समर्थन का अध्ययन,

(9) विभिन्न समूहों व संस्थाओं के कार्यों का समन्वय करना,

(10) अधिकारियों को प्रस्ताव प्रेषित करना,

(11) पत्र–पत्रिकाओं का उपयोग व विधायकों से सम्पर्क करना,

(12) सामाजिक शिक्षा एवं कानूनों का उचित कार्यान्वयन,

(13) सामाजिक विधान एवं

(14) वैयक्तिकसेवा कार्य का अभ्यास करना।

सामाजिक क्रिया अभ्यास के द्वारा मुख्य रूप से पर्दा प्रथा, दहेज समस्या, छूआछूत, वेश्यावृत्ति, अशिक्षा, धार्मिक अंधविश्वास, अध्यात्मवाद में अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, पूर्वाग्रह; बाल विवाह, विधवा विवाह, भिक्षावृत्ति, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, आदि जैसी समस्याओं के समाधान में सहायता की जा सकती है।

सामाज़िक क्रिया में सामाजिक कार्यकर्ता (Social Worker in Social Action)

सामाजिक क्रिया सम्बन्धी कार्यों के कार्यान्वयन के लिए सामाजिक कार्यकर्ता विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित एवं निपुण होता है। जब तक कार्यकर्ता में निम्नलिखित विशेषताएं एवं निपुणताएं विद्यमान नहीं होगी सामाजिक क्रिया की सफलता संदिग्ध ही रहेगी :–

(1) समाजकार्य व्यवसाय के प्रशिक्षणार्थी में सामाजिक क्रिया के प्रति रूचि होना आवश्यक होता है क्योंकि उसके मूल्य एवं सामाजिक चेतना, सामाजिक उत्तरदायित्व एवं रूचि से प्रभावित होते हैं।

(2) समाजकार्य के दर्शन, उद्देश्यों व उन्नति में आस्था व विश्वास की धारणा तर्कपूर्ण ढंग से, सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित होती हैं।

(3) सामाजिक कार्यकर्ता सहायता प्रक्रिया के दौरान समुदायों के निकट रहकर ही समस्याओं की समीक्षा भली प्रकार कर पाता है।

(4) व्यक्तिगत, सामूहिक व सामुदायिक जीवन की गतिकी का समुचित ज्ञान कार्यकर्ता को समस्या के समझने व निवारण करने में सहायता प्रदान करता है।

(5) सामाजिक कार्यकर्ता का सामाजिक पर्यवेक्षण, विश्लेषण तथा नियोजन सम्बन्धी ज्ञान, प्रशिक्षण तथा अनुभव का समुचित उपयोग सामाजिक क्रिया में किया जा सकता है।

(6) व्यक्तियों, समूहों एवं समुदायों के अध्ययन, नियोजन तथा क्रिया के लिए संगठित करने सम्बन्धी सामाजिक कार्यकर्ता की निपुणता सामाजिक क्रिया के लिए महत्वपूर्ण होती है।

भारत में सामाजिक क्रिया आंदोलन

भारत बहुत से सामाजिक क्रिया आन्दोलन की कर्मभूमि रहा है, उनमें से कुछ का उल्लेख निम्नलिखित है :–

सत्याग्रह – गाँधी जी ने इस सामाजिक क्रिया के तरीके को दुर्जेय अस्त्र का रूप दिया। यद्यपि यह अहिंसा पर आधारित है, क्योंकि गाँधी जी अहिंसा पर विश्वास करते थे और इसे अत्यन्त सशक्त साधन मानते थे। सत्याग्रह का अर्थ है, लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जन–आन्दोलन, सामूहिक, न्यायिक हिरासत और लम्बे जुलूसों द्वारा नैतिक दबाव डालना।

गाँधीवादी सामाजिक क्रिया को रचनात्मक कार्य सम्बन्धी गाँधी दर्शन के संदर्भ में समझा जाना चाहिए, जिसका लक्ष्य अहिंसा पर आधारित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना है। इसमें न केवल आपात

स्थिति में सहायता कार्य जैसे कार्यकलाप शामिल थे बल्कि बुनियादी शिक्षा के स्कूलों की स्थापना, खादी और अन्य कुटीर शिल्पों का प्रोत्साहन, शराब विरोधी प्रचार, नीची जातियों और अछूतों को ऊपर उठाना भी शामिल थे।

महिला मुक्ति मोर्चा –दल्ली राजहरा : दल्ली राजहरा खनिज, लोहे के खदान का कस्बा है। यह मध्य प्रदेश में जिला दुर्ग के दक्षिणी छोर पर स्थित है। इन खदानों में अधिकांश कार्य ठेकेदारों द्वारा हाथ से करवाया हाता है। ठेके के मजदूर अधिकतर पूर्वी मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ के साथ जिलों के आदिवासी, भूमिहीन, छोटे किसान हैं। महिलाओं की सामाजिक क्रिया संघर्ष आयोजित करने में प्रमुख भूमिका थी। उदाहरण के लिए 1979–80 में सफल संघर्ष के बाद कामगारों की मजदूरी में सुधार हुआ। शराब विरोधी आन्दोलन इस आधार पर सफल हुआ कि सख्त परिश्रम की कमाई ठेकेदारों और शराब के व्यापारियों की जेबों में चली जाती थी।

नमक सत्याग्रह –गाँधी जी की प्रख्यात डांडी मार्च नमक पर सरकार के एकाधिकार और नमक कर लगाने के विरोध का प्रतीक था। यह मार्च साबरमती से गुजरात के मध्यवर्ती भाग से होता हुआ समुद्र तट तक था। इस मार्च ने देश तथा देश के बाहर के लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

गाँधीवादी सामाजिक क्रिया को रचनात्मक कार्य संबंधी गाँधी दर्शन के संदर्भ में समझा जाना चाहिए, जिसका लक्ष्य, अहिंसा पर आधारित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना है। इसमे न केवल आपात स्थिति में सहायता कार्य जैसे कार्यकलाप शामिल थे, बल्कि बुनियादी शिक्षा के स्कूलों की स्थापना, खादी और अन्य कुटीर शिल्पों का प्रोत्साहन, शराब विरोधी प्रचार, नीची जातियों और अछूतों उपर उठाना भी शामिल था।

महिला मुक्ति मोर्चा – डाल्ली रजारा : डाल्ली रजारा खनिज लोहे के खदान का कस्बा है। यह मध्य प्रदेश में जिला दुर्ग के दक्षिणी छोर पर स्थित है। इन खदानों में अधिकांश कार्य ठेकेदारों द्वारा हाथ से करवाया जाता है। ठेके के मजदूर अधिकतर पूर्वी मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ के सात जिलों के आदिवासी, भूमिहीन, छोटे किसान हैं।

नर्मदा बचाओ आंदोलन –यह एक ऐसा सामाजिक क्रिया आन्दोलन है जिसने देश के विकास संबंधी मुद्दों पर काम करने वाले उन कई संगठनों को एक मंच पर लाने का काम किया है, जो नर्मदा बांध के निर्माण को एक पर्यावरण संकट मानते हैं और इसे रोकना चाहते हैं। आज इस आंदोलन को विभिन्न वर्गों से व्यापक समर्थन मिल रहा है, चाहे, वे बाँध के निर्माण द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हों या न हों। आँदोलन में प्रख्यात सामाजिक कार्यकर्ता, वैज्ञानिक, बुद्धिजीवी, छात्र और ग्रामवासी अग्रणीय हैं। विशाल विरोध मार्च आयोजित किए गए हैं, जिनमें विभिन्न राज्यों के निकटवर्ती तथा दूरवर्ती ग्रामवासियों ने विरोध में बैनरों और झंडों को लहराते हुए, नारे लगाते हुए, बैज (badge) लगाकर और नर्मदा के किनारों पर मानव श्रृंखला बना कर प्रतिज्ञा लेते हुए बांध स्थल पर प्रदर्शन आयोजित किये तथा निषेधात्मक आदेशों का उल्लंघन किया। राजनीतिज्ञों और योजनाकारों के लिए इस अवज्ञाकारी क्रिया का यह संदेश है कि लोग अब मूक निराशा में यह देखते नहीं रहेंगे कि विकास और प्रगति के नाम पर लोगों

पर एक परियोजना के बाद दूसरी ऐसी परियोजनाएं थोपी जाएं जिनसे मुख्य रूप से ठेकेदारों और धनी व्यक्तियों को लाभ होता है।

विधिक सहायता

सामाजिक अवस्था को सुव्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में शांति स्थापित हो। समाज शांति स्थापना के लिए राज्य कानूनों का निर्माण करता है। कानून के मुख्य दो कार्य होते हैं :–

1. सामाजिक न्याय की स्थापना करना
2. शांति एवं सुव्यवस्था बनाये रखना

कानून के द्वारा सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए जो कार्य किए जाते हैं इसके अंतर्गत समाज का उच्चवर्ग, सम्पन्न वर्ग प्रायः धनशक्ति के द्वारा न्याय को अपने पक्ष में कर लेता है। कानूनी सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता गरीब निर्धन वर्ग को होती है, किन्तु वे निर्धन व असहाय होने के कारण तथा कानूनों के द्वारा जागरूकता के अभाव में इसका लाभ नहीं उठा पाते हैं। अतः निर्णायक एवं असहाय वर्ग को इसका लाभ न्याय मिलने तथा सामाजिक संघर्षों में कमी लाकर शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से कानूनी सहायता की अवधारणा बनी।

कानूनी सहायता का मुख्य उद्देश्य सामाजिक न्याय प्रदान करना होता है। कानूनी सहायता के अंतर्गत वह समस्त सहायता आ जाती है जिसके द्वारा गरीब, अशिक्षित, असहाय, दलित एवं सूदूर अंचलों में रहने वाले लोगों को निःशुल्क न्याय प्रदान करने के साथ–साथ उनमें कानूनों के प्रति जागरूकता पैदा हो जिससे वे अपने सामाजिक अधिकारों एवं दायित्वों को समझने पूर्ण सफल हो सकें। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विधिक सहायता समाज में संघर्षों एवं विवादों को कम करके सामाजिक न्याय आधारित तनाव मुक्त वातावरण निर्मित किया जाता है। यह एक ऐसा साधन जिसके अंतर्गत जागरूकता, सहायता एवं न्याय तीनों पक्ष समाहित हो जाते हैं।

15.3.3 सामाजिक न्याय (Social Justice)

न्याय की अवधारणा राजनीति, दर्शन, कानून, नीतिशास्त्र आदि के अध्ययनों का एक महत्वपूर्ण विषय है। जब से मानव ने समाज तथा मानवता के विषय में विचार करना प्रारम्भ किया तब से न्याय की अवधारणा पर भी विचर व्यक्त किये गए। न्याय के नाम पर अनेक युद्ध और आंदोलन हुए, संघर्ष एवं क्रांतियां हुई। न्याय की अवधारणा के बारे में भिन्न–भिन्न विचारों ने विभिन्न दलों के मध्य विवाद को जन्म दिया।। अतः समाज विज्ञानों के अध्ययन में न्याय की अवधारणा काफी महत्वपूर्ण है। न्याय का सम्बन्ध धर्म, नैतिकता, समानता, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, कानून, राजनीति, अर्थव्यवस्था आदि से जोड़ा जाता है।

सामान्य रूप से 'न्याय' शब्द का प्रयोग होता है। चूंकि न्याय स्वयं में स्वतंत्र अवधारणा नहीं है अतः यह एक सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक आचरण के आधारभूत नियमों के आधार पर निश्चित होता है। हर समाज में न्याय की अपनी धारणा होती है जो उसे समाज के संपूर्ण आचार–व्यवहार, सम्बन्धों आदि की अच्छाई–बुराई मापने की कसौटी बन जाती है। बार्कर के अनुसार, यह प्रधानतः मनुष्यों को मानवीय सम्बन्धों की संगठित व्यवस्था से जोड़ने का कार्य करता है। मानवीय सम्बन्धों की संगठित व्यवस्था में कई प्रकार के मूल्यों की आवश्यकता होती है, यथा – स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व आदि है। कानून की किसी व्यवस्था में ये सभी मूल्य होते हैं, किन्तु भिन्न–भिन्न कालों में मूल्य भिन्न–भिन्न मात्रा में पाये जाते हैं। उनके दावों के बीच निरन्तर समायोजन तथा पुनर्समायोजन करना पड़ता है। स्वतन्त्रता के दावे का समानता के दावे के साथ समायोजन करना पड़ता है और दोनों के दोषों को सहकारिता के दावे के साथ समायोजित करना पड़ता है। इस प्रकार न्याय कार्य भिन्न–भिन्न राजनीतिक मूल्यों का समायोजन करना है। अतः न्याय राजनीतिक मूल्यो का संश्लेषक है। न्याय स्वयं में पूर्ण धारणा नहीं है बल्कि सापेक्ष धारणा है। समय तथा परिस्थितियों के बदलते ही न्याय की धारणा में भी परिवर्तन आता रहता है। न्याय का सम्बन्ध मूल्यों से है। औचित्य से है और आदर्शों से है।

न्याय के अर्थ को मुख्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है – (1) व्यापक अर्थ में एवं (2) संकीर्ण अर्थ में। व्यापक अर्थ में न्याय को मानव तथा समाज के समस्त आचरणो के संदर्भ में देखा जाता है। इस रूप में यह सदाचार और अच्छाई के रूप में माना जाता है। इसको नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतक आदि दृष्टिकोणों को आधार पर न्याय–अन्याय, अच्छाई–बुराई, धर्म–अधर्म, सदाचार–दुराचार आदि के नियमों, मूल्यों तथा आचरणों के मापने का पैमाना माना जाता है। इसी अर्थ में न्याय को प्लेटो और अरस्तु के दर्शन में स्थान मिला है। यहां न्याय की धारणा सत्य तथा नैतिकता की धारणा के समरूप समझी गई। इसके आधार पर मानव के सारे आचरणों एवं सम्बन्धों की परख की जाती है। यहां न्याय व्यक्ति से सम्बन्धित न होकर सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। न्याय का व्यापक अर्थ न्याय को एक प्रक्रिया अर्थात् कानूनी न्याय के रूप में नहीं देखना होता है जबकि संकीर्ण अर्थ में न्याय को कानून के साथ जोड़कर देखा जाता है। यहाँ न्याय एक प्रक्रिया के रूप में दिखाई देता है। न्याय को व्यक्ति के रूप में देखा जाता है, अर्थात् क्या व्यक्ति को उचित न्याय मिल रहा है या नहीं ? कानून कनाने के तरीके, न्यायसंगत कानून, अदालती स्वतन्त्रता तथा निष्पक्ष न्यायिक व्यवस्था, कानून तथा अदालतों के समक्ष प्रत्येक नागरिक की समानता, इत्यादि के संदर्भ में न्याय को देखा जाता है। यह मुख्यतः न्याय का कानूनी दृष्टिकोण है और यह 'कोर्ट ब्रांड' न्याय है। मेरियम के अनुसार, "न्याय उन मान्यताओं और प्रकियाओं का योग है जिनके माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को वे सभी अधिकार और सुविधाएँ जुटाई जाती हैं जिन्हें समाज उचित मानता है।" जे.एस. मिल के अनुसार, "न्याय नैतिक नियमों के कतिपय सूत्रों का नाम है जो अधिक स्पष्ट रूप से मानव कल्याण की आवश्यकताओं से सम्बन्धित हैं और इसी कारण जीवन के पथ–प्रदर्शन के लिए किन्हीं भी अन्य विषयों की तुलना में वह अधिक निश्चित दायित्व है।"

सामाजिक क्रिया की विधियाँ तथा प्रविधियाँ

सामाजिक क्रिया के लिए प्रयुक्त कुछ साधन निम्नलिखित हैं :–

1. अन्वेषण तथा दत्त–संग्रह।
2. कार्य की योजना तैयार करना तथा जनमत बनाना।
3. मूल (मुख्य) व्यक्तियों और विभिन्न समूहों तथा संस्थाओं से सम्पर्क।
4. सार्वजनिक सभाएँ।
5. समाज–शिक्षा।
6. प्रचार।
7. विचार–विमर्श।
8. जन–समर्थन प्राप्त करना।
9. विभिन्न समूहों तथा एजेंसियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना।
10. अधिकारियों के सामने लिखित अथवा मौखिक रूप से मामला प्रतुत करना।
11. यदि सम्भव हो तो अखबारों का उपयोग करना और विधायकों से मिलना।
12. सामाजिक विधायन।
13. कानून लागू कराना।
14. वैयक्तिक सामाजिक कार्य।

सामाजिक क्रिया द्वारा अनेक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया जाता है, जैसे दहेज प्रथा, निरक्षरता (प्राथमिक अनिवार्य शिक्षा द्वारा) धार्मिक कट्टरता, अंधविश्वास, पूर्वाग्रह, बाल–विवाह तथा विधवा–विवाह निषेध आदि।

15.3.4 सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त (Theory of Social Action)

पारसन्स द्वारा प्रस्तुत अवधारणाओं में सामाजिक क्रिया की अवधारणा अथा ' क्रिया के सिद्धान्त' का विशेष महत्व है। उन्होंने अपनी प्रथम पुस्तक **'द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन'** में सामाजिक क्रिया को सामाजिक व्यवस्था की एक प्रमुख इकाई के रूप में स्वीकार करते हुए इससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों को स्पष्ट किया।

सन् 1937 में प्रकाशित पुस्तक में क्रिया का उल्लेख करते हुए पारसन्स ने बतलाय कि "किसी क्रिया–व्यवस्था में साधन–साध्य सम्बन्धों के रूप में परिवर्तन की कोई भी प्रक्रिया केवल तार्किक आदर्शों की ओर ही अग्रसर हो सकती है जिसे एक सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित अन्य कर्ता भी स्वीकार करते हैं।" इस कथन के द्वारा पारसन्स ने सामाजिक क्रिया को एक ऐसे व्यवहार के रूप में स्पष्ट किया जो साधन और साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध पर आधारित होता है तथा जिसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला परिवर्तन पहले की अपेक्षा अधिक तार्किक

अथवा विवेकपूर्ण होता है। इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि पारसन्स द्वारा प्रस्तुत क्रिया सिद्धान्त को उन विभिन्न विचारों के आधार पर समझा जाए जिनका उल्लेख पारसन्स ने अपनी पुस्तक 'द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन' में किया है।

पारसन्स के अनुसार प्रत्येक सामाजिक क्रिया होने के पीछे अनेक कारण या अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। एक कर्ता अथवा अनेक कर्ता किसी न किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सामाजिक क्रिया करते हैं। दूसरे शब्दों मे, यह कहा जा सकता है कि सामाजिक क्रिया लक्ष्य–निर्देशित होती है। क्रिया की अवधारणा में लक्ष्य के महत्व को स्पष्ट करते हुए पारसन्स ने बतलाया कि किसी एक सामाजिक क्रिया के एक या अनेक लक्ष्य हो सकते हैं। कर्ता इन अनेक लक्ष्यों में से अपने लिए उपयुक्त एक अथवा अधिक लक्ष्यों का चुनाव कर लेता है। कर्ता जब अपने लक्ष्य का चुनाव करता है तो उसे लिए यह भी आवश्यक होता है कि वह अपने लक्ष्य और उपलब्ध साधनों के बीच ताल–मेल स्थापित करे। इस दृष्टिकोण से सामाजिक क्रिया में साधन के महत्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसे स्पष्ट करते हुए पारसन्स ने कहा कि "किसी भी किया के लिए साधन और लक्ष्य परस्पर सम्बन्धित होते हैं तथा न्यूनतम साधनों से लक्ष्य की अधिक से अधिक प्राप्ति ही सफलतम सामाजिक क्रिया का आधार है।" कर्ता, लक्ष्य और साधन के साथ पारसन्स ने सामाजिक क्रिया में सांस्कृतिक परिवेश को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने बतलाया कि प्रत्येक सामाजिक क्रिया एक निश्चित सांस्कृतिक परिवेश में की जाती है। सांस्कृतिक परिवेश से पारसन्स का तात्पर्य कर्ता की अरनुवंशिक दशाओं, उसके द्वारा अर्जित मानसिक विशेषताओं एवं उन विशेष परिस्थितियों से हैं जिनमें रहकर व्यक्ति सामाजिक क्रिया करता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सामाजिक क्रिया की अपनी पूर्व अवधारणा में पारसन्स ने जिन चार तत्वों को अधिक महत्वपूर्ण माना, वे कर्ता, लक्ष्य , साधन तथा परिस्थिति हैं।

(1) **कर्ता (Actor)** किसी भी क्रिया के संचालन के लिए कर्ता सबसे आधारभूत तत्व है। एक सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं। प्रथम तो एक प्राणी के रूप में व्यक्ति अनेक क्रियाएँ करता है और दूसरे, समाज का सदस्य होने के नाते व्यक्ति अनेक सामाजिक क्रियाएँ करता है। मनुष्य द्वारा की जाने वाली यह दोनों प्रकार की क्रियाएँ उसके सामाजिक परिवेश से जुड़ी होती हैं। उदाहरण के लिए, प्रत्येक प्राणी भोजन की क्रिया करता है किन्तु पशुओं में जहां भोजन की क्रिया उनकी स्वभावगत विशेषता होती है, वहीं मनुष्य में भोजन की क्रिया उसकी सामाजिक–सांस्कृतिक विशेषता से प्रभावित होती है। इस तरह एक कर्ता के रूप में मनुष्य बहुत–से सामाजिक मूल्यों में बंधा होता है और उन्हीं मूल्यों के आधार पर वह अपनी क्रिया के लक्ष्य का चयन करता है।

(2) **लक्ष्य (Goal)** पारसन्स के मतानुसार किसी भी व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया में कर्ता के एक अथवा अनेक लक्ष्यों का समावेश अवश्य होता है। यह लक्ष्य चेतन भी हो सकते हैं और अचेतन भी। इसके बाद भी यह लक्ष्य मनमाने नहीं होते बल्कि इनका निर्धारण समाज की मूल्य–व्यवस्था के अन्तर्गत होता है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक मूल्य ही कर्ता के वांछित लक्ष्यों को प्रभावित करते हैं। यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि एक समय में ही व्यक्ति के सामने अनेक लक्ष्य हो सकते हैं तथ इन लक्ष्यों की प्रकृति एक–दूसरे के विपरीत भी हो सकती है। इसका कारण यह है कि समाज की मूल्य–व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न मूल्यों के बीच अन्तर्विरोध भी सम्भव हैं उदाहरण के लिए, अपनी मूल्य–व्यवस्था के अन्तर्गत किसी कर्ता के लक्ष्यों में राष्ट्रवादिता और अहिंसा की विशेषताएं हो सकती हैं लेकिन यदि कोई अन्य राष्ट्र, कर्ता के राष्ट्र पर आक्रमण कर दे तो इस विशेष परिस्थिति में कर्ता को अपने लक्ष्य का निर्धारण नये सिरे से करना होता है। इसी आधार पर पारसन्स यह मानते हैं कि लक्ष्यों के निर्धारण में परिस्थिति भी एक विशेष तत्व है।

(3) **परिस्थिति** (situation) – पारसन्स का कथन है कि प्रत्येक सामाजिक क्रियाएक विशेष परिस्थिति में होती है। दूसरे शब्दों में, जब कोई क्रिया करता है तब उसकी वह क्रिया एक विशेष परिस्थिति से प्रभावित होती है। विशेष परिस्थिति से पारसन्स का तात्पर्य मुख्यतः कर्ता के सांस्कृतिक परिवेश, उसकी आनुवंशिक विशेषताओं तथा कर्ता द्वारा अर्जित मानसिक स्थिति से है। इस सम्बन्ध में पारसन्स ने यह भी स्पष्ट किया कि कर्ता जिन विशेष परिस्थितियों में सामाजिक क्रिया करता है अथवा अन्य कर्ताओं से अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है, उसमें अनेक प्रकार के विश्वासों, मूल्यों, आदर्श–नियमों, कानूनों तथा ज्ञान का भी समावेश होता है। वास्तव में, यही वे परिस्थितियां हैं जिनमें कर्ता अपने लक्ष्यों तथा उन्हें प्राप्त करने के साधनों के बीच ताल–मेल स्थापित करता है।

(4) **साधन** (Means)– अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी भी कर्ता द्वारा की जाने वाली क्रिया के लिए एक अथवा अनेक साधनों का होना अनिवार्य है। पारसन्स का मत है कि परिस्थितियों की भिन्नता के कारण इन साधनों की प्रकृति भी अलग–अलग हो सकती है। इसके अतिरिक्त, स्वयं कर्ताओं की भिन्नता के आधार पर भी साधनों की प्रकृति में भिन्नता आ जाती है। तात्पर्य यह है कि कर्ता द्वारा जो साधन उपयोग में लाये जा सकते हैं, यह आवश्यक नहीं है कि अन्य कर्ताओं के द्वारा भी उन्हीं सधनों का उपयोग किया जाये। इस प्रकार सामाजिक क्रिया में प्रयुक्त होने वाले साधनों की भिन्नता के अनुसार क्रिया की प्रकृति में भी एक स्पष्ट अन्तर देखने को मिलता है।

क्रिया की संशोधित अवधारणा (Modified concept of Action)

'सामाजिक व्यवस्था' तथा ' क्रिया का सामान्य सिद्धान्त' को स्पष्ट करते हुए पारसन्स ने कहा कि सामाजिक क्रिया की अवधारणा को किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशिष्ट कर्ता के लिए लागू नहीं किया जा सकता । सामाजिक व्यवस्था को परिभाषित करते हुए पारसन्स ने लिखा "सामाजिक व्यवस्था सामाजिक क्रियाओं की एक संगठित प्रणाली है जिसमें अनेक कर्ताओं द्वारा की जाने वाली क्रियाओं का समावेश होता है।" इसे स्पष्ट करते हुए पारसन्स ने बतलाया की समाजिक व्यवस्था में जो व्यक्ति (कर्ता) सहभागी होते हैं, वे वास्तव में कुछ विशेष प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह करने वाले अथवा भूमिका धारक होते हैं। उनकी यह सभी भूमिकाएं सामाजिक मानदण्डों तथा सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा निर्धारित और संचालित होती है।।

क्रिया की संशोधित अवधारणा में पारसन्स ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक क्रिया मुख्यतः सामाजिक व्यवस्था की तीन उप–व्यवस्थाओं से प्रभावित होती है।

(1) **सामाजिक क्रिया एवं प्रतिमान** (Social Action and Pattern)

(2) **सामाजिक क्रिया तथा अन्य क्रिया–व्यवस्थाएं** (Social Action and Other Action System)

(3) **सामाजिक क्रिया तथा भूमिका–व्यवस्थाएं** (Social Action and Role-system)

अपने संशोधित रूप से पारसन्स ने सामाजिक क्रियां के अन्तर्गत पांच तत्वों का विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना है। यह तत्व है : (1) कर्ताओं की बहुलता, (2) लक्ष्यों की अनेकता, (3) साधनों की विविधता, (4) परिस्थितियां, तथा (5) प्रेरणा। अपनी पुस्तक **'द सोशल सिस्टम'** में पारसन्स ने पुनः यह स्पष्ट किया कि सामाजिक क्रिया को सामाजिक व्यवस्था की एक प्रमुख इकाई के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि , **"सामाजिक व्यवस्था मानवीय क्रिया–व्यवस्था की एक प्रमुख उप–व्यवस्था है"।** वास्तव में, सामाजिक क्रिया और सामाजिक व्यवस्था परस्पर–सम्बन्धित हैं। पारसन्स का कथन है कि प्रत्येक समाज व्यवस्था इसलिए बनी रहती है कि कर्ता समाज के मूल्यों और सामाजिक प्रतिमानों से प्रभावित होकर ही कोई क्रिया करता है।

हमने जाना

- सामाजिक क्रिया एक व्यक्तिगत, वर्ग अथवा सामुदायिक इकाई द्वारा किया गया प्रयास है जिसका मुख्य लक्ष्य सामाजिक नीतियों एवं विधानों में परिवर्तन लाकर कल्याणकारी सेवाओं को बेहतर बनाना है।
- सामाजिक क्रिया सामाजिक सुधार से अलग प्रक्रिया है।
- सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत सामूहिक क्रिया (ग्रुप एक्शन) का होना आवश्यक है।
- सामाजिक क्रिया का संचालन सामाजिक आन्दोलनों के विपरीत कानून की मर्यादा में रहकर किया जाता है।
- सामाजिक क्रिया के व्यवस्थित संचालन के लिए प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता का होना आवश्यक है।
- सत्याग्रह के रूप में गांधी जी द्वारा संचालित सामाजिक क्रिया एक अजेय अस्त्र के रूप में उभरकर आया है।
- भारत में स्वतंत्रता के पूर्व एवं पश्चात् अनेक सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित आन्दोलन संचालित किये गये हैं। जिनमें से गांधीजी का असहयोग, सत्याग्रह, महिला मुक्ति मोर्चा, नर्मदा बचाओं आन्दोलन इत्यादि।

कठिन शब्दों के अर्थ

- सामाजिक क्रिया – यह एक व्यक्तिगत, वर्ग अथवा सामुदायिक इकाई द्वारा किया गया प्रयास है जिसका मुख्य लक्ष्य सामाजिक नीतियों एवं विधानों में आमूल–चूल परिवर्तन अथवा उन्हें समाप्त कर कल्याणकारी सेवाओं को बेहतर बनाना है।
- सामाजिक सुधार – यह सामाजिक क्रिया का एक अंग है जिसमें युगानुकूल आवश्यकताओं के अनुरूप प्रचलित सामाजिक नीतियों एवं विधानों में परिवर्तन कर कल्याणकारी सेवाओं को बेहतर बनाना है।

अभ्यास के प्रश्न

1. सामाजिक क्रिया का तात्पर्य क्या है ?
2. सामाजिक क्रिया और सामाजिक सुधार के बीच क्या सम्बन्ध है।
3. सामाजिक क्रिया की प्रमुख विधियाँ एवं उपविधियाँ कौन सी हैं।
4. भारत में सामाजिक क्रिया के रूप में चलाये गये प्रमुख प्रयास क्या हैं?

आओ करके देखें

- अपने क्षेत्र में व्याप्त गंदगी, गरीबी, भूख, भ्रष्टाचार एवं जातिवाद जैसी कुरीतियों के उन्मूलन के लिए सामाजिक क्रिया के विभिन्न चरणों के अनुरूप एक योजना तैयार कीजिए।
- अपने क्षेत्र में सामाजिक सुधार के लिए किए गए सार्थक पहल का विश्लेषण कीजिए।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

- पान्थरी शैलेन्द्र, सिंह अमरेन्द्र प्रताप, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, वाराणसी, पृष्ठ 240।
- वही, पृष्ठ 290।
- वहीं, पृष्ठ 247।
- वहीं, पृष्ठ 280।
- दास अभिजित एवं सिंह सतीश कुमार, 2007, सम्भव है बदलाव, सहयोग प्रकाशन, लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ–4।
- कुमार अनुप, जुलाई सितम्बर, 2005 सहवाणी, सहभागी शिक्षण केन्द्र लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ 14–15।
- राव, ब्रिजेश के०पी० जुलाई सितम्बर, 2005 सहवाणी, सहभागी शिक्षण केन्द्र लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ 16–18।

■■■

15.4 समाज कल्याण प्रशासन (Social Welfare Administration)

उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे –

- समाज कल्याण प्रशासन की अवधारणा
- समाज कल्याण प्रशासन के क्षेत्र
- समाज कल्याण प्रशासन के सिद्धान्त
- समाज कल्याण प्रशासन के कार्य

15.4.1 समाज कल्याण प्रशासन की अवधारणा

सामाजिक तथा सरकारी या गैर सरकारी कल्याण–कार्यक्रमों से सम्बन्धित प्रशासन को समाज–कल्याण–प्रशासन कहते हैं। यद्यपि इसकी विधियाँ–प्रविधियाँ या तौर–तरीके इत्यादि भी लोक–प्रशासन या व्यापार–प्रशासन की ही भाँति होती हैं किन्तु इसमें उनसे एक बुनियादी भेद यह होता है कि इसमें सभी स्तरों पर मानवता और प्रजातांत्रिकता का अधिक–से–अधिक ध्यान रखकर ऐसे व्यक्तियों या वर्ग से संबंधित प्रशासन किया जाता है जो कि किसी न किसी समय में बाधित होते हैं। जैसे–जैसे समाज–कार्य या कल्याण–कार्यक्रमों का सरकारी अथवा गैर सरकारी स्तर पर विकास होता गया उसी के साथ–साथ समाज–कल्याण प्रशासन की आवश्यकता और व्यवहार को भी बल मिलता गया। आज दुनिया के अनेक विकसित व अर्धविकसित देशों में समाज–कल्याण से संबंधित प्रशासन को समाज–कल्याण–प्रशासन के नाम से जाता है। प्रशासन में मानवता और प्रजातन्त्रीकरण का अर्थ यह होता है कि प्रशासन के सभी अंग व कार्यप्रणाली मानवतापूर्ण, मानवता–अभिप्रेरित तथा मानवता–हेतु होगी।

परिभाषाएँ–

टी ए चतुर्वेदी; (T.A.Chaturvedi) ने इसकी संक्षिप्त परिभाषा केवल दो शब्दों में दी हैं । उन्होंनें इसें समस्या केन्द्रित' विषय एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु एक उपागम बतलाया हैं ।

बी एम कुलकर्णी (B.M.Kulkarni) ने इसे 'सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों के प्रशासन' के रूप में परिभाषित किया । उनके अनुसार समाज सेवाओं एवं समाज कल्याणकारी कार्यक्रमों का प्रशासन समाज कल्याण प्रशासन की परिधि में आना चाहिये ।

किंडने , (Kidneigh) ने समाज कल्याण प्रशासन को सामाजिक नीति को समाज सेवाओं में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया कहकर परिभाषित किया हैं ।

दुनहन (Dunhan) के अनुसार समाज कल्याण प्रशासन उन किया–कलापों को सुगम बनाने अथवा जीवन शक्ति प्रंदान करने की पकिया है जो किसी सामाजिक अभिकरण द्वारा प्रत्यक्ष सेवा प्रदान करने हेतु आवश्यक अथवा सहायक हैं। प्रशासकीय किया–कलापों में नीतियों एवं प्रकार्यों के निर्धारण तथा कार्यकारी नेतृत्व से लेकर नैत्यिक कियाओं यथा रिकार्ड एवं लेखा रखने तथा अनुरक्षक सेंवाएं करने तक सम्मिलित है।

आर्थर कूस (Arthur Kruse) का कथन है कि प्रशासकीय प्रकिया संबंधित अभिकरण के कुल स्त्रोतों को एक करनें का प्रयास करती है ताकि इसके उदेश्यों को प्रभावी सेवा में रूपान्तरित किया जा सकें ।

समाज कल्याण प्रशासन की विस्तृत परिभाषा अमेरिकन समाज कार्य शिक्षण परिषद (American Council of Social Work Education) के पाठ्यक्रम अध्ययन में इस प्रकार दी गयी है, प्रशासन उपकम में संलग्न व्यक्यितियों द्वारा सहमत लक्ष्यों, नीतियों एवं मानकों के अनुसार सामुदायिक सेवा कार्यकम में आकारित करने की प्रकिया है। यह कियात्मक है क्योंकि यह भूमिकाओं एवं संबंधों कों इस प्रकार संचरित करती है कि सर्म्पूण उत्पाद की वृद्धि हों। इसमें अध्ययन, उपचार एवं निदान, समाधान, किया एवं परिणामों के मूल्यांकन की समस्या समाधान प्रकियां निहित है ।

सरकारी या गैर सरकारी, राष्ट्रीय अथवा स्थानीय किसी भी प्रकार के सामाजिक अभिकरण के प्रशासन के अनेक घटक होते हैं। प्रशासन के इन अंगों या घटकों में पंजीकरण, नियमावली, संगठन, व्यक्ति, कार्य–विधि, आय–व्यय, वार्षिक–प्रतिवेदन, लेखा–जोखा, समन्वय, सहकार, मूल्यांकन इत्यादि खास तौर से उल्लेखनीय हैं।

पंजीकरण

यदि संस्था सरकार अथवा मान्यता प्राप्त संगठनों से पंजीकृत करा लिये जाते हैं तो एक तो उनका नियन्त्रित होना ज्यादा स्वाभाविक हो जाता है दूसरे ऐसे संस्थाए उन लाभों को भी प्राप्त कर सकती हैं जो कि सरकार ऐसी संस्थाओं को नियमानुसार देती है। जो संस्था पंजीकृत नहीं हैं वे इनसे वंचित रहते हैं। हर पंजीकरण हेतु कुछ नियम, शर्त और पद्धतियां होती हैं जिनके अनुसार ही काम करके पंजीकरण कराया जा सकता है। यद्यपि ये नियम एवं पद्धतियाँ अलग–अलग राज्यों में थोड़ी बहुत भिन्न होती हैं किन्तु मोटे तौर पर ये सब लगभग एक समान ही हुआ करती हैं। इनका ज्ञान और अध्ययन करके निश्चित प्रपत्र और शुल्क के साथ आवेदन करके संस्थाओं को पंजीकृत कराया जा सकता है। आमतौर पर इस हेतु जो प्रपत्र प्रयुक्त होते हैं उनमें लगभग पाँच, सात या नौ तदर्थ

समिति के सदस्यों के नाम, पता और कार्य इत्यादि का विवरण माँगने के साथ ही संस्था के अध्यक्ष, सचिव कोषाध्यक्ष इत्यादि का नाम, पता तथा हस्ताक्षर आदि माँगा जाता है। संक्षेप में संस्था का परिचय देना हो सकता है। संस्था अनेक नामों से अलग–अलग अधिनियमो में पंजीकृत होती है। जैसे सोसाइटी पंजीकृत अधिनियम 1860, रिलिजियस एवं पब्लिक चैरिटेबल न्यास अधिनियम 1920 इत्यादि। प्रपत्र के साथ जो शुल्क जमा करना होता है उसकी राशि अर्थात् 1000 से 5000 रूपया हुआ करती है। पंजीकरण के लिए भेजे जाने वाले प्रपत्र और शुल्क के साथ ही संस्था या संस्था से सम्बन्धित एक नियमावली भी भेजना आवश्यक होता है। इस नियमावली में अभिकरण का नाम, उद्देश्य, कार्यक्रम, उत्तरदायित्व, आधार और अधिकारी तथा कर्मचारी इत्यादि के अधिकार एवं कर्त्तव्य इत्यादि का पूरा–पूरा विवरण होता है। इन विवरणों में इस प्रकार नियम बनाए जाते है कि किसी का एकाधिपत्य न स्थापित हो सके और सबका सहकारी दायित्व प्रमुखता पा सके। सामान्यतः ऐसी संस्था पंजीकृत नहीं हो सकते जो कि उपर्युक्त शर्तों को पूरा नहीं करते तथा अपंजीकृत संस्था को कई प्रशासनिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। पंजीकरण, नियमावली निर्माण तथा स्पष्ट उद्देश्य निर्धारण से संस्था को एक तो अपनी सीमाएँ मालूम रहती हैं दूसरे अन्य व्यक्तियों या समाज में विद्यमान संस्था को भी उनके बारे में ठीक–ठीक ज्ञान हो पाता है। ऐसा होने से एक तो संस्था को स्वसंगठन और कार्यक्रम निर्धारण–संचालन में सुविधा होती है दूसरे अन्य संगठनों को भी उससे सहयोग की सम्भावनाओं का ठीक–ठीक पता चलता है। पंजीकरण से नियन्त्रण को बल मिलता है और नियन्त्रण के फलस्वरूप कार्य क्षमता में वृद्धि होती है।

संगठन

प्रशासन में संगठन और इसके स्वरूप का बहुत ही महत्व होता है। स्वाभाविक है कि जैसा संगठन का स्वरूप होगा तदनुरूप ही उसके कार्य–कलाप के तौर–तरीके होंगे। सामाजिक संस्थाओं का प्रशासन चूँकि मानवता और जनतांत्रिकतापूर्ण होना चाहिए इसलिए इन संस्थाओं के संगठन का स्वरूप भी ऐसा होना चाहिए जिसमें कि श्रेणी क्रमानुसार श्रेष्ठता तो हो किन्तु साथ ही सभी स्तरों पर इस बात की सम्भावना रहे कि कोई भी अपनी बात नियंत्रित तरीके से ही किन्तु पूर्ण रूप से हर व्यक्ति के सम्मुख प्रस्तुत कर सके। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कहीं एक जगह से ही आदेश–निर्देश दिए जायँ और सब नीचे के लोग उसको यथावत् मानने को मजबूर ही हों। इसका यह अर्थ नहीं कि आदेश–निर्देशों का नियंत्रण कोई एक व्यक्ति या निकाय हो ही नहीं वरन् यह है कि अधिनायकता से बचना चाहिए। किसी संस्था में कुछ सर्वोच्च अधिकार समितियाँ हो सकती हैं और समितियों की उप–समितियाँ भी हो सकती हैं। समितियों का एक अध्यक्ष होना चाहिए और कई सदस्य होने चाहिए। वित्त समितियों में आमतौर पर वित्त सम्बन्धी समिति, प्रबन्ध–समिति तथा कानूनी सलाहकार समिति इत्यादि हुआ करती है। प्रायः अध्यक्ष का काम होता है कि वह बैठकों की अध्यक्षता करे और उनका कार्य संचालन करे। बैठकों की विषयसूची की स्वीकृति भी वही देता है और बैठकों में सभी सदस्यों के सहयोग को प्रोत्साहन देना और उसका उपयोग करना भी उसका काम हुआ

करता है। विभिन्न प्रकार के सामाजिक संस्थाओं में विभिन्न प्रकार के सदस्यों का मनोनयन किया जाता है। बहुत से सदस्य दानदाता सदस्य होते हैं। बहुत से अपनी ख्याति के कारण मनोनीत किये जाते हैं, बहुत से पदेन होते हैं और अनेक चुनावों द्वारा या सदस्यता शुल्क जमा करके बने होते हैं। जो दान अथवा ख्याति के कारण सदस्य बनते हैं वे प्रायः सम्मानित सदस्य कहे जाते हैं और जो चुनाव या शुल्क आदि के आधार पर बनते हैं उन्हें साधारण सदस्य कहते हैं। कुछ दानदाता या ख्याति प्राप्त व्यक्ति अपनी विशेष स्थिति के कारण आजीवन सदस्य होते हैं और अन्य कुछ समय विशेष के लिए बनाये जाते हैं। बहुत–सी संस्थाओं में बहुत बड़ी राशि देने वाले दानदाता सदस्यों की सदस्यता उनके जीवन के उपरान्त उनके उत्तराधिकारियों को भी हासिल रहती है। आमतौर पर साधारण सदस्य साधारण सभा के सदस्य होते है और इन्हें ही यह अधिकार होता है कि वे समय विशेष पर अभिकरण या संस्था के पदाधिकारियों का चुनाव करें, कुछ सदस्यों का मनोनयन करें और नियमावली इत्यादि में संशोधन–परिवर्धन के अलावा सामान्य रूप से संस्था के वार्षिक क्रियाकलापों पर विचार–विमर्श करें। विशेष या सम्मानित सदस्य प्रायः साधारण सभा के भी सदस्य होते हैं और इसके अतिरिक्त हर प्रमुख समितियों में भी इनको महत्वपूर्ण स्थानों पर रखा जाता है।

समितियों और उपसमितियों की बैठकें

समितियों और उपसमितियों की बैठकें नियमित रूप से त्रैमासिकाया अर्द्धवार्षिक या वार्षिक आधारों पर हुआ करती हैं जबकि साधारण सभा की बैठकें प्रायः एक वर्ष पर या किसी विशेष स्थिति पर ही आपातकालीन बैठक के रूप में हुआ करती हैं। समितियों की बैठकों में दैनिक कार्य पर विचार–विमर्श और उनका सम्पादन किया जाता है तथा साधारण सभा में अनेक ऐसी उपलब्धियों या कार्यक्रमों की चर्चा होती है जो कि संस्था के सामान्य उद्देश्यों, संकल्प से संबंधित हुआ करते हैं। संस्था में उपाध्यक्ष अथवा उपसचिव का काम क्रमशः अध्यक्ष और सचिव की अनुपस्थिति में उनके कर्त्तव्यों का पालन या निर्वाह करना हुआ करता है। ऐसी स्थिति में प्रायः यह ध्यान रखा जाता है कि यदि अध्यक्ष अथवा सचिव छोटी अवधि में ही कार्यभार संभाल सकने वालें हों तो ये कार्याधिकारी अध्यक्ष या सचिव कोई नीति–विषयक या नीति–निर्धारण संबंधी कार्य नहीं करते, वे मात्र दैनिक कार्यो का ही सम्पादन करते हैं।

सामाजिक संस्था के प्रशासन में संगठन का कोई अधिकारी जो भी कार्य करता है, वह उन व्यक्तियों से अच्छी प्रकार विचार–विमर्श करके और उन्हें विश्वास में लेकर करता है जो कि उससे सम्बन्धित हुआ करते हैं। ऐसा नहीं कि उन पर कुछ थोप दिया जाय। समितियों की बैठकों में हर व्यक्ति की भावनाओं और इच्छाओं का समुचित आदर किया जाता है और बिना किसी दलबन्दी के इस बात की चेष्टा होती है कि हर अच्छे परामर्श को उचित रूप में व्यवहार में लाया जा सके। दैनिक कार्यों में कोई अधिकारी ऐसे आदेश–निर्देश नहीं देता जिसका कि भाव या

भाषा ऐसी हो कि उससे सम्बन्धित व्यक्ति को मानसिक आघात पहुँचे या उसके व्यक्तित्व में कोई विघटनकारी प्रवृत्ति प्रबल हो। किसी भी व्यक्ति के किसी विषय से सम्बन्धित मसले पर वह उससे सम्बन्ध या साक्षात्कार कर सारी स्थितियों को समझ या समझाकर ऐसी सम्भावना को बढ़ावा देने की चेष्टा करता है जो कि संस्था और व्यक्ति दोनों के विकास में सहायक हो। सामाजिक संस्था में कोई भी व्यक्ति पदाधिकारी से जाकर मिल सकता है, अपनी बात कह सकता है और दैनिक व्यवहार में ऊपर के अधिकारी नीचे के व्यक्तियों से कोई स्तरीकरण नहीं करते बल्कि उनका सारा आचार–विचार समानता और सद्‌भावना के मानवीय गुणों से ओत–प्रोत हुआ करता है।

कार्यकर्ताओं का चयन एवं प्रशिक्षण

सामाजिक संस्था में कार्य करने वाले कार्यकर्त्ताओं या व्यक्तियों का अपना विशेष महत्त्व होता है। व्यक्ति या कार्यकर्त्ता ही संस्था के प्राण होते हैं और इनकी स्थिति पर ही संस्था की स्थिति निर्भर देती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति रखे जायँ उनके सम्बन्ध में ठीक–ठीक नीति निर्धारित कर ली जाय, भर्ती की प्रणाली का स्वरूप निर्धारित कर लिया जाय और इनके अतिरिक्त उनकी सेवाओं की शर्तों और शिक्षण प्रशिक्षण के संबंध में सोच–समझ लिया जाय। सामाजिक संस्थओं की प्रबन्ध समितियां कार्यकर्ताओं के चुनाव के संबंध में नीतियां निर्धारित कर लेती हैं। कुछ कार्यकर्ता अधिकारी स्तर के हो सकते हैं। सबके सम्बन्ध में नियुक्ति संबंधी अलग–अग नीतियां हो सकती हैं किन्तु सबमें ऐसा ध्यान रखा जाता है कि वे कार्य के आधार पर तो स्तरीकरण करती हों किन्तु अन्य किसी भी आधार पर उनमें भेदभाव की सम्भावना न हो। सामाजिक संस्थाओं में युक्त होने वाले ब्यक्तियों से संबंधित नीति को जनतांत्रिक मूल्यों से युक्त होना चाहिए अर्थात उनमें जाति, धर्म, वर्णन या लिंग इत्यादि के आधार पर भेदभाव की स्थिति नही होनी चाहिए। कहीं–कहीं आवश्यकतानुसार और नियमानुसार चयन समितियां एक ही पद के लिए प्राथमिकता क्रम से दो या तीन नाम की संस्तुति करती हैं जिनमें से किसी को किसी के पद ग्रहण से इनकार करने पर नियुक्त किया जा सकता है। नियुक्तियों में यह ध्यान रखा जाता है कि नियुक्त व्यक्ति न सिर्फ बौद्धिक रूप से पद के उपयुक्त हो वरन उसके बोलचाल का ढंग, उसका शारीरिक गठन तथा मानसिक स्थिति भी ऐसी हो कि वह अन्य लोगों में आकर्षण पैदा करने के साथ–साथ विषम परिस्थितियों में भी अपने को समंजित रख सके। बहुत बार ऐसा होता है कि जब व्यक्ति की नियुक्ति की गयी होती है तब उससे लिया जाने वाला कार्य ऐसा नहीं होता कि उसमें किसी विशेष कौशल की आवश्यकता हो और इसलिए साधारण किस्म के ही व्यक्ति को नियुक्त कर लिया गया रहता है। ऐसे साधारण व्यक्ति को कार्य के स्वरूप के परिवर्तन के साथ–साथ उपयोगी बने रहने के हेतु यह जरूरी होता है कि उसे प्रशिक्षित किया जाता रहे। बहुत बार ऐसा भी होता है कि बहुत से विशेष प्रकार के कार्यों के लिए पहले से ही पूर्व प्रशिक्षित व्यक्ति उपलब्ध ही नहीं होते और इस अवस्था में यह जरूरी हो जाता है कि कार्य विशेष के अनुसार नियुक्ति उपरान्त व्यक्तियों को प्रशिक्षित किया जाय। प्रशिक्षण के लिए व्यक्तियों की समस्त क्षमताओं और साधनों की भरपूर जांच पड़ताल कर ली जानी चाहिए।

अच्छे उपकरण और प्रशिक्षक के द्वारा कार्य के दौरान और उसी के माध्यम से दिया गया प्रशिक्षण संस्था विशेष के कार्य विशेष के लिए बहुत ही उपयोगी होता है। कभी–कभी समूह में भी पाठ्यक्रम चलाये जाते हैं जिसमें कि अनेक संस्थाओं के कार्यकर्ता प्रशिक्षित होते हैं। ऐसा भी होता है कि अनेक प्रशिक्षण–केन्द्र चलते रहते हैं और उनमें संस्था विशेष अपने कार्यकर्ता विशेष को भेज कर प्रशिक्षित होने का अवसर सुलभ कराते हैं। बहुत–से प्रशिक्षण शुल्क लेकर दिये जाते हैं और कुछ निःशुल्क होते है।

संस्थाओं में कार्यकर्ताओं का मनोबल

सामाजिक संस्थाओं को चाहिये कि वे अपने कर्मचारियों को बीच–बीच में प्रोत्साहन हेतु नियमित पदोन्नति के अतिरिक्त विशेष पदोन्नतियां भी दिया करें। ठीक ढंग से काम न करने वालों को मानवीय आधारों पर पदावनत करते रहने से भी वैयक्तिक नियंत्रण व संगठन में मदद मिलती है तथा इससे अन्ततोगत्वा संस्था और कार्यकर्ता दोनो को लाभ पहुंचता है। पदोन्नति अथवा पदावनति के जो भी आधार निर्धारित किये जायं वे ऐसे होने चाहिए जिनमें कि समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों की रक्षा और विकास की सम्भावना हो। यदि इनसे संबंधित नियमों और आधारों को पहले सही स्पष्ट कर दिया जाता है तो पारस्परिक सद्भावना और सौहार्दता में बढ़ोत्तरी की सम्भावना रहती है अन्यथा कटुता की। जहां मतभेद हो उन पर सतर्कतापूर्वक ध्यान देकर उन्हें दूर करना चाहिए। हर कार्यकर्ता से संबंधित एक विशेष अभिलेख रखा जाना चाहिए और बीच–बीच में उसका मूल्यांकन कर यथोचित कार्यवाही करनी चाहिए। इन सारे कार्यों में यह बराबर ध्यान रखना चाहिए कि अधिकारी और कार्यकर्ता के बीच किसी आशंका, मनमुटाव या विचार बन्धन की स्थिति न आने पाये।

नीति नियोजन

सामाजिक संस्थाओं के प्रशासन तभी अच्छे हो सकते हैं जब उनकी क्रिया–कलापों की नीतियां पूर्व निर्धारित हों। नीतियों के अतिरिक्त समस्त क्रिया–कलापों का विभिन्न स्तरों पर नियोजन भी आवश्यक है। नीतियों के अन्तर्गत संस्था अथवा कार्यक्रम के ध्येय और उनके कार्यान्वयन के तौर–तरीकों का वर्णन होता है। सामाजिक संस्थाओं की नीतियां और कार्यक्रमों के दार्शनिक एवं सैद्धांतिक आधार मानवीय और प्रजातांन्त्रिक होते हैं और नीतियों के अन्तर्गत लाभार्थी और कार्यक्रम इत्यादि का आधारभूत वर्णन होता है। ऐसा नही होना चाहिए कि एक बार जो नियोजन कर दिया जाय वही अन्तिम माना जाय। मानवीय सन्दर्भों में अनुमानों की स्थिति प्रायः परिवर्तनशील हुआ करती है, इसलिए ऐसा करना उपयोगी होता है।

कार्यक्रमों का सफल संचालन

सामाजिक संस्थाओं के कार्यक्रमों के संचालक अथवा नियन्त्रण–निरीक्षक, जो भी व्यक्ति होते हैं, उनकी बहुत बडी जिम्मेदारियां होती हैं। बड़ी–बड़ी संस्थाओं में अनेक कार्यक्रम चलते हैं और इन सबके अलग–अलग संचालक या

अधिकारी बनाये जाते हैं जबकि छोटी संस्थाओं में एक ही ऐसे अधिकारी से काम चलाया जाता है, यही व्यक्ति या अधिकारी प्राधिकारी या उच्च समितियों वं कार्यकर्ता के बीच की कड़ी होते हैं। किसी भी संस्था में आय–व्यय का निर्धारण एक अत्यन्त प्रमुख काम होता है। आय–व्यय में आय के समस्त स्रोत एक ओर और व्यय की समस्त मदें एक ओर दिखाई गयी रहती हैं और अन्त में बचत अथवा घटे की रकम एवं अन्त में सन्तुलन स्पष्ट किया गया रहता है। इसी के आधार पर यह जाना जा सकता है कि संस्था को क्या स्थिति है और उसके कौन से कार्यक्रम कितने व्यापक और प्रभावकारी हो सकते हें। आय–व्यय के ज्ञान के आधार पर हीं अधिकारी, कार्यकर्ता अपने प्रयत्नों को तदनुरूप नियोजित करके कार्यक्रम को सफलता की ओर बढ़ा सकते हें। आज कल टैली साफ्टवेयर द्वारा इस कार्य को सरलता से कर लिया जाता है। कम्प्यूटर के प्रयोग में इसे बहुत सरल बना दिया है। प्रयास यह होनी चाहिए कि आय–व्यय सन्तुलित हो। यदि आय बहुत अधिक है और व्यय बहुत कम तो आम धारणा यह बन सकती है कि संस्था के लोग समाज–कल्याण कार्य में कम रूचि रखते हैं और हो सकता है कि भविष्य में आय कम हो जाय। आमतौर पर आय–व्यय की मदों में आय में प्रायः सरकारी अनुदान, सामग्री, विक्रय, दान और शुल्क तथा व्यय में वेतन, क्रय, रख–रखाव तथा अनुदान इत्यादि प्रमुख होते हैं। आय और व्यय के बहुत से मद आवर्तक अर्थात स्थायी रूप से चलने वाले होते हैं तथा बहुत से अनार्वक अर्थात कार्य विशेष के लिए ही होते हैं। सरकारी अनुदानों से प्रायः जो राशि मिलती है, वह संस्था की स्वयं की राशि के अनुपात में आंशिक रूप से हुआ करती है और इसके पीछे सिद्धांत यह होता है कि एक तो संस्था को कुछ बराबर अपनी आर्थिक सक्षमता रखनी चाहिए, दूसरे कालान्तर में जब कि सरकारी अनुदान बन्द हो जाय तब भी वह अपनी आर्थिक क्षमता के बलबूते पर जीवित रह सके।

सहकार एवं समन्वय

संस्था के कार्यों एवं कार्यक्रमों का आन्तरिक और वाह्य रूप से समन्वय होना बहुत ही जरूरी है। ऐसा होने से ही यह सम्भव होता है कि एक तो हमें संस्था से ज्यादा–से–ज्यादा लाभ मिल सकता है दूसरे वे एक दूसरे के लिए अधिक–से–अधिक लाभदायी हो सकते हें। सहकार और समन्वय होने के लिए ह्यर जरूरी है कि संस्थाओं और कार्यक्रमों के मामलों में लोगों की समान सद्‌भावना हो और वे एक दूसरे के बारे में अच्छी चेष्टायें और अभिलाषायें रखते हों और हर पक्ष किन्हीं न किन्हीं कर्त्तव्यों के लिए अपने को जिम्मेदार समझे। समुदचित समन्वय के लिए एक दूसरे के मध्य समुदचित संचार होना चाहिए ओर सभी को एक दूसरे के क्रिया–कलाप की विधि, समय और शक्ति का भरपूर अन्दाजा होना चाहिए। सहकार और समन्वय प्रशासन का वह तत्व हैं जिनसे कि समानता और भागीदारी के जनतांत्रिक मूल्य शक्ति पाते हैं और इन्हीं के द्वारा सामाजिक संस्थाओं से लाभ प्राप्त करने वाले किन्हीं रूपों में वाधित सेवार्थी अपने को अधिक सन्तुष्टि दे सकने में समर्थ हो पाते हैं। मूल्यांकन एवं शोध के द्वारा सहकार और समन्वय की स्थिति का अनुमान लगाना चाहिए और इनके ऐसे तरीके विकसित करने चाहिए जो कि मानवीय होने

के साथ–साथ संस्था के मूल अभीष्ट की ओर इन्हें अग्रसर करते हों। आजकल सहकार और समन्वय का कार्य स्थानीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक होने लगा है।

मूल्यांकन

प्रशासन में में मूल्यांकन का बहुत महत्व होता है। मूल्यांकन द्वारा ही हम यह समझ सकते हैं कि संस्था के प्रशासन की क्या कमियां हैं, उनको किस तरह से दूर किया जा सकता है और इसी के आधार पर इससे संबंधित नियोजन किया जा सकता है। संस्था में अनेक कार्यक्रम चला करते हैं और उनमें अनेक साधन और सामाजिक कार्यकर्ता संलग्न रहते हैं। इन सबकी उपलब्धियों और आवश्यकताओं की हर स्तर पर जानना आवश्यक होता है और यह ज्ञान बीच–बीच में उनके मूल्यांकन से ही सम्भव है। मूल्यांकन एक तो संस्था के अधिकारी या सामाजिक कार्यकार्त स्वयं की करते हैं, दूसरे कभी–कभी बाहर के अधिकारी या विशेषज्ञों द्वारा भी मूल्यांकन का कार्य सम्पादित हो जाता है। मूल्यांकन के दरम्यान हर स्तर के सम्बंन्धित व्यक्तियों का सहयोग लेना चाहिए और ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि किसी को ऐसा न लगे कि वे अपनी स्थिति को ठीक–ठीक प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हें। प्रयास यह होना चाहिए कि आर्थिक मूल्यांकन बनाए रखना चाहिए कि सामाजिक और मानवीय दृष्टि से उपलब्धियों का मूल्यांकन हो। एक बात यह अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिए कि जहां तक सम्भव हो मूल्यांकन की प्रणाली या विधि बहुत खर्चीली नहीं होनी चाहिए लेकिन यह जरूर ध्यान रखना चाहिए कि धन की बचत के चक्कर में समुचित मूल्यांकन में कमी न पायी जाय।

आंकड़ों एवं तथ्यों का संकलन

प्रशासन को अधिक से अधिक संगठित और प्रभावशाली बनाने के लिए संस्था संबंधी अनेक प्रकार के आंकड़ों एवं तथ्यों का संकलन करना और विभिन्न दशाओं या आवश्यकताओं संबंधी सर्वेक्षण और शोध करना बड़ा उपयोगी होता है। हर संस्था को चाहिए कि वह बीच–बीच में ऐसे कार्य किया करे। ध्यान यह रखना चाहिए कि एक तो इनमें खर्च कम हो, दूसरे ये स्पष्ट, सरल, सुलभ और निष्पक्ष हों। सामाजिक संस्थाओं को ऐसी साज–सज्जा, उपकरणों, भवनों एवं जगह–जमीन से युक्त होना चाहिए जिनसे कि मानसिक संतुष्टि मिलती हो ओर प्रशासनिक कार्य संचालन एवं संस्था की सामग्रियों का ठीक से रख–रखाव हो सके। प्रत्येक सामाजिक संस्था को अपना एक वार्षिक प्रतिवेदन अवश्य ही तैयार करना चाहिए।

समाजकार्य विषय एवं व्यवसाय में समाज–कल्याण–प्रशासन एक सहायक विधि के रूप में स्वीकृत है। इसे सहायक विधि के रूप में इस लिए मान्यता है, क्योंकि सारे समाज–कार्य में प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने वाली वैयक्ति कार्यविधि, सामूहिक कार्यविधि एवं सामुदायिक संगठन में इसका सहायक के रूप में उपयोग होता है। कोई भी

अभिकरण मात्र प्रशासन हेतु नहीं होता वरन वह कथित कार्य हेतु होता है, लेकिन उसके ये कार्य बिना प्रशासित हुए हो नहीं सकते और वे उतने ही अधिक उपादेय होते हैं जितना कि अच्छा उनका प्रशासन होता है।

15.4.2 समाज–कल्याण–प्रशासन के सिद्धान्त

1, जो लोग कार्यक्रमों की प्रशासकीय व्यवस्था करते है उन्हें मानव– व्यवहार की अच्छी जानकारी होनी चाहिए और साथ ही साथ उन्हें सामाजिक समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त दक्षता तथा प्रविधियों का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए।

2, प्रक्रिया सुविचारित तथा सुनिश्चित होनी चाहिए और अमल में एक रूपता होनी चाहिए।

3, जो लोग कार्यक्रमों का प्रशासन करते है वे प्रशिक्षित तथा कुशल होने चाहिए और जिन समस्याओं को उनकी एजेंसी हाथ में चाहती है उनकी उन्हें अच्छी जानकारी होनी चाहिए।

4, उत्तम प्रशासन में जिम्मेदारी लेने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है और कार्यक्रमों के प्रशासन में समूह–प्रक्रम के ठोस सिद्धान्तों के आधार पर कर्मचारी वर्ग का सहयोग प्राप्त किया जाता है। प्रशासन–प्रक्रम सामूहिक दायित्व के लोकतान्त्रिक प्रक्रम पर आधारित होना चाहिए।

5, ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि कर्मचारी वर्ग का प्रत्येक सदस्य यह महसूस करे कि जो काम उसके सुपुर्द है वह उसकी एजेंसी की ध्येयपूर्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

6, प्रशासकीय कारोबार उदेद्श्यपूर्ति का साधन है, अतः आवश्यकता के अनुरूप प्रक्रिया तथा कार्यप्रणालियों में परिवर्तन किया जाना चाहिए।

7, प्रक्रिया, कार्यप्रणाली और उपलब्धियों का मूल्यांकन समय–समय पर करते रहना चाहिए।

15.4.3 समाज कल्याण प्रशासन के कार्य (Taska of Social Welfare Administration)

समाज कल्याण प्रशासन के कार्यो अथवा प्रक्रियात्मक स्वरूपों, जैसा POSDCORB की अवधारणा में निहित है, को भी समाज कल्याण प्रशासन की मूलभूत अपेक्षाओं में सम्मलित किया जाता है जिनका वर्णन निम्नलिखित है।–

(1) नियोजन (Planing)नियोजन का अर्थ है भावी लक्षित कार्य की रचना। इसमें वर्तमान दशाओं का मूल्यांकन, समाज की समस्याओं एवं आवश्यकताओं की पहचान, लघु अथवा दीर्घ अवधि के आधार पर प्राप्त किये जाने वाले

उदेद्श्य एवं लक्ष्य तथा वांछित साध्यों की प्राप्ति के लिये क्रियान्वित किये जाने वाले कार्यक्रमों का चित्रण निहित है।

(2) संगठन (Organisation)–संगठन से तात्पर्य किसी निश्चित उदेद्श्य हेतु मानवीय प्रयासों का सचेतन समेकन है। इसमें अन्तनिर्भर अगों को क्रमबद्ध तौर पर इकट्ठा करके एक एकीकृत रूप दिया जाता है जिसके माध्यम से सत्ता, समन्वय एवं नियन्त्रण का प्रयोग उदेद्श्य की प्राप्ति हेतु किया जाता है।

संगठन औपचारिक एवं अनौपचारिक हो सकता है। औपचारिक संगठन सहकारी प्रयासों की नियोजित प्रणाली है जिसमें प्रत्येक भागीदार की निश्चित भूमिका, कर्तव्य एवं कार्य होते है परन्तु कार्यरत व्यक्तियों में सद्भावना एवं पारस्पारिक विश्वास की भावनाएँ विकसित करने हेतु अनौपचारिक सम्बन्ध समाज कल्याण कार्यक्रमों के सुचारू संचालन के लिए आवश्यक है।

संगठन के अन्तर्गत इसकी प्रभावी क्रियाशीलता के लिए कुछेक सिद्धान्तों पर बल दिया जाता है। यह अपने सदस्यो के मध्य कार्य विभाजन करता है । यह विस्तृत प्रक्रियाओं द्वारा मानक प्रयोगों की संस्थापना करता है, यह संचार प्रणाली की व्यवस्था करता है। इसकी पादसोपनीय प्रक्रिया होती है जिसमें सत्ता एवं दायित्व की रेखाएँ विभिन्न स्तरों के मध्य से शीर्ष तथा नीचे की ओर आती–जाती है तथा आधार चौड़ा एवं शीर्ष पर एक अकेला अध्यक्ष होता है। इसमें आदेश की एकता होती है जिसका अर्थ है कि कोई भी व्यक्ति कर्मचारी एक से अधिक तात्कालिक वरिष्ठ से आदेश प्राप्त नही करेगा, ताकि दायित्व स्पष्ट रहे और भ्राँति उत्पन्न न हो। इसमें 'लाइन'(Line) एवं 'स्टाफ' (Stsff) के मध्य कार्यकारी सिद्धान्त के रूप में अन्तर होता है।

(3) स्टाफिंग(Staffing)– अच्छे संगठन की स्थापना के बाद, प्रशासन की दक्षता एवं गुणवत्ता प्रशासन में स्थापित कार्मिकों की उपयुक्तता से प्रभावित होती है। दुर्बल तौर पर संगठित प्रशासन को भी चलाया जा सकता है यदि इसका स्टाफ प्रशिक्षित, बुद्धिमान, कल्पनाशील एवं लगनशील हो। दूसरी ओर, एक सुनयोजित संगठन का कार्य असंतोषजनक हो सकता है यदि इसको चलाने वाले असंतुष्ट एवं साधारण व्यक्ति है। इस प्रकार, स्टाफ शासकीय एवं अशाकीयं दोनों प्रकार के संगठनों का अनिवार्य अगंभूत भाग है। भर्ती, चयन, नियुक्ति, वर्गीकरण, प्रशिक्षण, वेतनमान एवं अन्य सेवा शर्तों का निर्धारण, उत्प्रेरणा एवं मनोबल, पदोन्नोति, आचार एवं अनुशासन, सेवानिवृत्ति, संघ एवं समितियाँ बनाने का अधिकार– इन सब समस्याओं की उचित देखभाल आवश्यक है ताकि कर्मचारी अपने कार्यो का सच्ची लगन से निष्पादन एवं संगठन का अच्छा चित्र प्रस्तुत कर सकें।

(4) निर्देशन (Direction)– संगठन के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु आवश्यक निर्देश एवं दिशा निर्देश जारी करना तथा बाधाओं कों दूर करननिर्देशन है । कार्यक्रम के क्रियान्वयन से सम्बद्ध निर्देशों में क्रियाविधि नियमों का

उल्लेख होता है ताकि निर्धारित उदेद्श्य की उपलब्धि सक्षम एवं सुगम ढंग से हो सके। क्रियाविधि की कठोरता से अनुपालन लालफीताशाही' को जन्म दे सकता है जिससे जरूरतमन्द व्यक्तियों को वांछित लाभ प्रदान करने में अनावश्यक देरी तथा परेशानी उत्पन्न हो जाती है। समाज कल्याण प्रशासन के कार्मिकों द्वारा अपने दायित्व पर कोई निर्णय लेने से बचना तथा दायित्व दूसरे पर थोपना व्यक्तियों एवं समुदायों की प्रभावी सेवा को बाधित करने वाला दोष है जिसके विरूद्ध सुरक्षा की जानी आवश्यक है।

(5) समन्वय(Coordination)– प्रत्येक संगठन में कार्य विभाजन एवं विशिष्टीकरण होता है। इससे कार्मिको के विभिन्न कर्तव्य नियत कर दिये जाते है तथा उनसे प्रत्याशा की जाती है कि वे अपने सहकर्मियों के कार्य में कोई हस्तक्षेप न करें। इस प्रकार प्रत्येक संगठन में इसके उदेद्श्यों की प्राप्ति के लिए संगठन के कर्मिको के मध्य टीम भावना से कार्य करने तथा कार्यो के टकराव एवं दोहरेपन को दूर करने का प्रयास किया जाता है। कर्मचारियों में सहयोग एवं टीम वर्क को विश्वस्त करने के इस प्रबन्ध को समन्वय कहते है। इसका उदेद्श्य समांजस्य, कार्य की एकता एवं संघर्ष से बचाव को प्राप्त करना है। इसके महत्व को दृष्टि में रखते हुए, मूने एवे रेले **(Mooney and Reiley)** समन्वय को संगठन का प्रथम सिद्धान्त तथा अन्य सब सिद्धान्तों को इसके अधीन समझते है । न्यूमैन **(Newman)** के अनुसार, समन्वय का अर्थ है प्रयासों को व्यवसिति ढंग से मिलाना ताकि निर्धारित उदेद्श्य की प्राप्ति के लिए निष्पादन कार्य की मात्रा तथा समय को ठीक ढंग से निर्देशित किया जा सके।

समाज कल्याण में समन्वय का केन्द्रीय महत्व है क्योंकि समाज कल्याण कार्यक्रमों में अनेक मंत्रालय, विभाग एवं अभिकरण कार्यरत है जिनमें कार्य के टकराव एवं दोहराने के दोष पाये जाते है जिसमें मानव प्रयास एवं संसाधनों का अपव्यय होता है। स्वयंसेवी संगठंन भी कल्याणकारी सेवाओं में कार्यरत है। उनके मध्य तथा उनके एवं सरकारी विभागों के मध्य समन्वय की समस्याएँ जटिल से जटिलतर होती जा रही है, जैसे–जैसे सहायता अनुदान में उदारता आने के कारण उनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

1953 में स्थापित केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड जिसमें सरकारी अर्धसरकारी तथा गैर सरकारी सामाजिक कार्यकर्ता सम्मलित है, को समाज कल्याण कार्यक्रमों में कार्यरत सरकारी संगठनों एवं स्वयंसेवी संगठनों के मध्य उचित समन्वय प्राप्त करने का एक माध्यम बनाया गया। राज्यीय समाज कल्याण परामर्शदात्री बोर्डो को भी राज्य सरकार एवं केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के कार्यकलापों के मध्य अन्य कार्यों सहित समन्वय लाने तथा दोहरेपन को दूर करने का कार्य सुपुर्द किया गया। परन्तु समन्वय हेतु इन संस्थागत प्रबन्धों के बावजूद भी सरकारी एवं स्वयंसेवी संगठनों के क्षेत्राधिकारों में कल्याण कार्यक्रमों टकराव एवं दोहराव के दोष पाये जाते है। सरकारी एवं स्वयंसेवी संगठनों के कार्यकलापों के क्षेत्रों का सुस्पष्ट सीमांकन, कल्याण सेवाओं की समेकित विकास नीति एवं प्रेरक नेतृत्व कल्याण सम्बन्धी उदेद्श्यों की अधिकतम प्राप्ति हेतु उचित समन्वय कायम करने में काफी सहायक होगें।

(6) रिपोर्टिंग (Reportring) रिपोर्टिंग का अर्थ है, वरिष्ठ एवं अधीनस्त अधिकारियों को गतिविधियों से सूचित रखना तथा निरीक्षण, अनुसंधान एवं अभिलेख के माध्यम से तत्सम्बन्धी सूचना एकत्रित करना। प्रत्येक समाज कल्याण कार्यक्रमों के कुछ लक्ष्य एवं उदेद्श्य होते है। संगठन की सोपानात्मक प्रणाली में मुख्य कार्यकारी निचले स्तरों पर कार्य कर रहे कर्मचारियों को नीति, अधीनस्त कर्मचारी उच्च अधिकारियों को समय–समय पर मासिक, त्रैमासिक अथवा वार्षिक, लक्ष्यों के सापेक्ष में प्राप्त उपलब्धि, व्यय की गयी राशि एवं सामने आयी समास्याओं , यदि कोई है, तथा इन समास्याओं के समाधान हेतु अभिकरण एवं अनियमितताओं को पकड़ने तथा इनको भविष्य में दूर करने के हेतु सुझाव देने के लिए समय–समय पर करते है। कभी–कभी किसी शिकायत की प्राप्ति पर समाज कल्याण संस्थाओं की गतिविधियों की जाँच–पडताल करनी होती है जिसके निष्कर्षों से सम्बन्धित अधिकारियों को सूचित किया जाता है। कुछ कल्याण संगठन शोधकार्य भी करते है जिसके निष्कषों एवं सुझावों को नीतियों एवं कार्यक्रमों में संशोधन अथवा कार्यक्रमों के निर्माण में प्रयोग हेतु रिपोर्ट कर दिया जाता है। सभी समा कल्याण एजेंसियाँ बिना किसी अपवाद के सम्बन्धित मंत्रालय विभाग को अपनी वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करती हैं जो राज्य के अध्यक्ष को विधान मंडल की सूचना हेतु अन्ततः भेज दी जाती है। विभिन्न प्रकार की रिपोर्टो द्वारा जनता को कल्याण एजेंसियों के क्रियाकलापों की सूचना मिल जाती है। इस प्रकार, रिपोर्टिंग किसी भी समाज कल्याण प्रशासन का एक महत्वपूर्ण घटक है।

(7) बजटिंग (Budgeting)– बजट से अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं की वित्तीय नीति का निर्माण, विधिकरण एवं क्रियान्वयन किया जाता है। व्यक्तिवाद के युग में, बजट अनुमानित आय एवं व्यय का साधारण विवरण मात्र था परन्तु आधुनिक कल्याणकारी राज्य में सरकार के क्रियाकलापों में तेजी से वृद्धि हो रही है जो सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को आबंटित करती है। सरकार अब सकारात्मक कार्यो द्वारा नागरिकों के सामान्य कल्याण कों उन्नत करने का अभिकरण है। अतएव बजट को अब एक प्रमुख प्रक्रिया समझा जाता है जिसके द्वारा जनसंसाधनों के प्रयोग को नियोजित एवं नियंत्रित किया जाता है। बजट निर्माण वित्तीय प्रबन्ध का एक प्रमुख घटक है जिसमें विनयोग अधिनियम, व्यय का कार्यकारिणी द्वारा निरीक्षण, लेखा एवं रिपोर्टिंग का नियंत्रण, कोष प्रबन्ध एवं लेखा परीक्षण सम्मिलित है।

केन्द्रीय सरकार के बजट में कल्याण मंत्रालय एवं मानव संसाधन विकास के महिला एवं बाल विकास विभाग तथा अन्य मंत्रालयों यथा स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, गृह मंत्रालय आदि द्वारा किये जाने वाले सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों से सम्मान्धित उपबन्धों तथा केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के माध्यम से स्वयंसेवी संगठनों को दी जानक वाली सहायता अनुदानों का उल्लेख होता है। स्वयंसेवी एजेंसियाँ सरकारी अनुदानों, दान, चन्दों एवं विदेशी सहायता के माध्यम से अपने वित्त की व्यवस्था करती है। भारत सरकार, राज्य सरकारों एवं केन्द्र प्रदेश अनुवर्ती पंचवर्षीय योजनाओं में कल्याणकारी कार्यक्रमों के लिए वित्तीय प्रावधानों को निरन्तर बढा रहे है, परन्तु ये

जरूरतमन्दों की बढ़ती हुई संख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए काफी अपर्याप्त है। अतएव, कल्याणकारी कार्यक्रमों के लिए राशि की मात्रा बढ़ाने के लिए वित्त के अतिरिक्त साधनों को जुटाने की आवश्यकता है। स्वयंसेवी संगठनों के पास धन की अपार कमी है, उन्हें भी निभिन्न क्षेत्रों में कल्याण सेवाएं प्रदान करने की आवश्यकताओं कि लिए पर्याप्त धनराशि जुटाने हेतु विविध स्रोतों को खोजना होगा।

वित्तीय प्रबन्ध में उन विधियों एवं तंत्र की भी व्यवस्था होती है जिनके द्वारा यह सुनिश्चित हो सके कि कल्याण कार्यक्रमों हेतु प्रदत्त निधियों का प्रयोग निष्ठा, बुद्धिमत्ता एवं मितव्ययिता से हो रहा है, लेखों को ठीक प्रकार से रखा जा रहा है तथा लेखा परीक्षण फंडों के दुरूपयोग, गबन एवं अपयोजन को रोकने के लिए किया जा रहा है। यह देख गया है कि विनियोग का अधिकांश भाग बिचौलियों द्वारा जेब में रख लिया जाता है तथा बहुत कम अंश ही लाभ भोक्ताओं तक पहुचँ पाता है। स्वयंसेवी संगठनों में भी भ्रष्टाचार एवं अपव्यय की रिपोर्ट आती है। अतएव वित्तीय प्रशासन को सुधारने की आवश्यकता है ताकि विभिन्न कार्यक्रमों के लिए निर्धारित निधियों का ठीक प्रकार और ईमानदारी से उपयोग हो सके।

छात्रों के अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से यहाँ पर एक न्यास के पंजीकरण का प्रारुप दिया जा रहा है । **समाजिक शैक्षणिक एवं आध्यात्मिक न्यास/ट्रस्ट स्थापित करने की घोषणाः**

ट्रस्ट डीड/न्यास विलेख

1. इस न्यास की स्थापना की घोशणा आज दिनांक......................को श्री................................ द्वारा की जाती है (उपरोक्त सभी सदस्य बाद में अधिवासी (SETTLER) के नाम से जाने जायेंगें)।

दोनो अधिवासी (SETTLER) समाजिक भौक्षणिक एवं आध्यात्मिक योजनाओं के लिए योजनाओं को कार्य रूप में परणित करने के लिए ट्रस्ट को रुपया25,000 (पच्चीस हजार) समर्पित करते है। यह राशि न्यास विलेख के सम्पादन के पूर्व ही न्यासियों को हस्तगत करा चुके है, जो न्यास निधि के रूप में मान्य होगी।इसके अलावा जो भी चल–अचल सम्पत्ति न्यास के नाम सहयोग, दान, भेंट, अनुदान इत्यादि के रूप में समुदाय, दानदाताओं सामान्य नागरिक/नागरिकगण, भासन–प्रशासन इत्यादि से प्राप्त होगी अथवा न्यास के द्वारा स्वयं अर्जित की जायेगी वे सभी न्यास में समाहित होंगे।

2. **नाम**– न्यास का नाम हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनो में इस प्रकार होगा।

हिन्दी–

अंग्रेजी–

न्यास का नाम भविश्य में किसी भी परिस्थिति में परिवर्तनीय नही होगा।

3. **कार्यालय का पता**– न्यास का कार्यालय .... में होगा। वर्तमान में न्यास के कार्यालय का पता .... है। न्यासी मण्डल के सदस्यों के द्वारा सर्वसम्मति से न्यास के पंजीकृत कार्यालय का पता परिर्वतित किया जा सकता है।

4. **न्यास के प्रारम्भ की तिथि**– दिनांक ....है।

5. **न्यास का स्वरूप**– यह न्यास एक पब्लिक चैरिटेबल न्यास है जो धर्म, जाति, सम्प्रदाय से ऊपर उठकर कलात्मक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विरासतों का संरक्षण, लोक कल्याण, मानव विकास, पर्यावरण संरक्षण(वाटर भोड, वन एवं वन्य जीव) भौक्षणिक, चिकित्सकीय सहायता, सामाजिक एवं अध्यात्मिक विकास के लिए कार्य करेगा ।

6. **लाभार्थी**– न्यास की सेवाएं सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से बिना किसी भेदभाव से उपलब्ध रहेगी। न्यास द्वारा अपनी सेवाओं में बिना किसी धर्म, जाति, रंग वर्ण, लैगिक इत्यादि के आधार पर कोई भेद नही किया जायेगा। न्यास पूर्ण रूप से मानवतावादी दृश्ट्रिकोण को ध्यान मे रखकर कार्य करेगा।

7. **कार्यक्षेत्र**– न्यास का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारत में होगा।

8. **न्यास के उद्देश्य**– न्यास निम्न उद्दे यों की पूर्ति के लिए कार्य करेगा।

1. मानव विकास के लिए भौक्षणिक संस्थानों की स्थापना एवं व्यवसायिक पाठ्यक्रमों, गुणवक्ता विकास के कार्यक्रम नवीन एवं तकनीकि कौशलों का विकास करने वाले पाठ्यक्र जिससे कि कमजोर एवं निर्बल वर्ग के लोगों का जीवन जीने योग्य बनाया जा सके।
2. समाज के कमजोर गरीब, असहाय, पीडित, उपेक्षित आदि वर्गो के कल्याण हेतु कार्य करना एवं चिकित्सकीय सहायता प्रदान करना......
3. पर्यावरण संरक्षण (वाटर सेट वन एवं वन्य जीव) इत्यादि के संरक्षण के लिए कार्य करना।

4. संस्कृतिक विरासतों ऐतिहासिक धरोहरों कला, साहित्य का संरक्षण।

5. महिला भासक्तीकरण एवं उन्हें अर्थिक रूप से समृद्ध बनाने हेतु कार्य ।

6. ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में निवास करने वाले समाज के पीडित व उपेक्षित वर्ग के कल्याण के लिए कार्य करना।

7. प्राकृतिक अपदा के समय लोगों के साथ मिलकर कार्य करना।

8. प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्धन द्वारा अजिविका के अवसर उपलब्ध कराना एवं कृशि में नवीन तकनीकों का बढावा देकर जैविक कृषि को बढावा देना।

9. नागरिक समाज हेतु पुस्तकालय, वाचनायलय, अध्ययन केन्द्र, खेल घर, योग केन्द्र, इत्यदि स्थापित करना।

10. नैतिक शिक्षा, सहकारिता का प्रचार प्रसार राष्ट्रीय कार्यक्रमों का अंयोजन अध्यात्मिक विचारों का प्रचार प्रसार इत्यादि का आयोजन करना।

11. बृद्धों के लिए बृद्ध आश्रय गृहों की स्थापना करना।एवं असाहायों को चिकित्सकीय सहायता उपलब्ध कराना ।

12. समाज के पीडित उपेक्षित सभी वर्गो के कल्याण के लिए सभी प्रकार के धर्माथ कार्यो को संपादित करना।

13. न्यास के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए समाज के सभी वर्गो से दान, सहायता, चन्दा, नगद, चल एवं अचल सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करनाा।

14. युवाओं एवं समुदाय के सामाजिक, आर्थिक् शैक्षणिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन हेतु विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रमों का आयोजन करना।

15. समाज के पीडित उपेक्षित एवं कमजोर वर्ग के कल्याण हेतु विभिन्न प्रकार के परियोजनाओं का संचालन करना।

16. अन्य वे सभी कार्य करना जो समाज के लिए उपयोगी हों ।

9. **कार्यालय पदाधिकारी–** न्यास के सुचारू रूप से संचालन के लिए न्यासी मण्डल को यह अधिकार होगा कि न्यासियों में से निम्न पदधिकारियों का चयन करेगें

1. अध्यक्ष
2. उपाध्यक्ष
3. सचिव।

4. उपसचिव

5. कोषाध्यक्ष

10. कार्यालय पदाधिकारियों का कार्यकाल–

उपरोक्त सभी पदाधिकारियों का कार्यकाल तीन वर्श होगा एवं प्रत्येक तीसरे वर्ष जून माह में सेवा निवृत्त हो रहे पदाधिकारियों के स्थान पर नये पदाधिकारियों का चयन होगा लेकिन सेवा निवृत्त हो रहे पदाधिकारियो को पदाधिकारी के रूप में न्यासी मण्डल द्वारा पुनः निर्वाचित किया जा सकता है।

11. कार्यालय पदाधिकरियों का अधिकार दायित्व एवं भाक्तियाँ–

11.1 **अध्यक्ष** न्यास का सर्वोच्च अधिकारी अध्ययक्ष होगा एवं न्यास की संचालित सभी बैठको की अध्यक्षता करेगा।

11.2 **उपाध्यक्ष** अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उसके सारे दायित्वों का निर्वाहन उपाध्यक्ष करेगा। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में सभी बैठको की अध्यक्षता करेगा। उपध्यक्ष की अनुपस्थिति में न्यासी मण्डल को यह अधिकार होगा की न्यासी मण्डल में से ही किसी व्यक्ति को बैठक की अध्यक्षता के लिए निवाचित करें।

11.3 **सचिव/मुख्य कार्यकारी–** न्यास के कार्यो के सम्पादन के लिए न्यसी मण्डल को यह अधिकार होगा की न्यासी मण्डल से ही प्रबन्धक न्यासी का चुनाव करे।

1. **सचिव/मुख्य कार्यकारी** संस्था का मुख्यकारी होगा।
2. **सचिव/मुख्य कार्यकारी** पजीकृत कार्यालय पर सभी प्रकार के रिकार्डो को रखेगा एवं उनका संरक्षण करेगा।
3. **सचिव/मुख्य कार्यकारी** अध्यक्ष से विचार विर्मश करके बैठकों का आयोजन करेगा, कार्यावाहियों का कार्यबृत रिर्काड के रूप में रखेगा और निर्णयों को क्रियान्वित करेगा।
4. **सचिव/मुख्य कार्यकारी** को किसी भी न्यायालय या किसी अधिकारी के समक्ष न्यास के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करेगा। न्याास मण्डल के प्रतिनिधि के रूप में **सचिव/मुख्य कार्यकारी** की चल या अचल सम्पत्तीयों का मरम्मत करना क्रय विक्रय करना चन्दा एवं दान प्राप्त करना, वेकार पडी सम्पत्तियों का निलाम करने का अधिकार होगा।

5. उपरोक्त से प्राप्त सभी आय को वह न्यास फन्ड में निवेश जमा करेगा। (न्यास के खाते में) एवं न्यास के कार्यो को सम्पादन हेतु नियमानुसार व्यय करेगा।

6. **सचिव/मुख्य कार्यकारी** न्यास की प्रगति से अध्यक्ष एवं न्यासी मण्डल के सदस्यों को समय–समय पर अवगत करता रहेगा।

11.4 **कोशाध्यक्ष–** न्यास के कार्यो को सम्पादन के लिए न्यासी मण्डल अपने समूह से कोशाध्यक्ष का चुनाव करेगा। उसका कार्यकाल तीन वर्श का होगा। कोशाध्यक्ष का दायित्व होगा की वह सभी प्रकार के देयको प्राप्तियों के रिकार्ड का रखरखाव करे साथ ही न्यास के लिय वार्शिक बजट तैयार करेगा एवं उसके अनुमोदन के लिए विशेष बैठक में प्रस्तुत करेगा। न्यासी मण्डल द्वारा चयनित किये गये आडीटर से लेखा परिक्षण करायेगा एवं आडिट रिर्पोट को न्यासी मण्डल की इस विशेष बैठक में प्रस्तुत करेगा।

11.5 **उपसचिव–सचिव/मुख्य कार्यकारी** के सलाह पर उप सचिव उन सभी कार्यो का सम्पादन करेगा जो न्यास के लिए जो आव यक हैं व **सचिव/मुख्य कार्यकारी** को विधिक एवं प्रसासनिक सहायता प्रदान करेगा। उपसचिव भासन व दानदाताओं के साथ अच्छे सम्बन्धों की स्थापान कायम करने में **सचिव/मुख्य कार्यकारी** का सलाहकार का काम करेगा। **सचिव/मुख्य कार्यकारी** की अनुपस्थिति में उप सचिव **सचिव/मुख्य कार्यकारी** की सलाह से **सचिव/मुख्य कार्यकारी** के दायित्तो का निर्वहन करेगा लेकिन उप सचिव द्वारा लिए गये सभी निर्णयों को न्यसी मण्डल की होने वाली अगामी बैठक में अनुमोदित करना आव यक होगा।

12. **न्यासी मण्डल के अधिकार एवं दायित्व–** न्यास के उद्‌देश्यों की प्राप्ति एवं न्यास के समुचित संचालन के लिए न्यास मण्डल के निम्न अधिकार दायित्व होगे।

12.1 न्यासी मण्डल न्यास के कार्यो के संचालन के लिए जैसा उचित समझे विभिन्न प्रकार के दान अंशदान सहायता अनुदान नगद या भावात्मक रूप से चन्दा प्राप्त करना व किसी कम्पनी, कार्पोरेशन, फाउन्डेशन, न्यास इत्यादि से धर्मार्थ एवं दानार्थ चल या अचल सम्पत्ति के रूप मे दान प्राप्त करना।

12.2 न्यासी मण्डल को यह अधिकार होगा की न्यास के उद्‌दे यों की प्राप्ति के लिए प्राप्त सभी आयों को या किसी हिस्से को ट्रस्ट फन्ड के रूप में बैंक में कार्पस के रुप में जमा करें व न्यास के उद्‌देशों को प्राप्त करने में व्याय करें।

12.3 न्यास के उद्देश्यों के प्राप्ति के लिए ऋण प्राप्त करना या न्यास की सम्पत्ति को गिरवी रखकर धन उधार प्राप्त करना।

12.4 न्यासी मण्डल को यह अधिकार होगा की वह न्यास की उदेश्यों की प्राप्ति के लिए न्यास की चल अचल सम्पत्ति सेल करना मरम्मत करना, नीलाम करना देना एवं प्राप्त आयों को न्यास के उद्देश्यों के पूर्ति में लगाना।

12.5 किसी राश्ट्रीकृत बैंक, अनुसूचित बैंक में न्यास का खाता न्यास के नाम से खोलना व उसके संचालन हेतु बैंक को निर्दे ात करना।

12.6 न्यास के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्राप्त या सभी प्राप्तियों का युगानुकूल प्रबन्धन करना।

12.7 न्यास के उद्देश्यों के प्राप्ति के लिए सभी देयकों के भुगतान की व्यवस्था करना। न्यास के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्यकर्ताओं का कार्य के अनुरूप पदास्थापना करना स्थानान्तरण करना अनुशासनहीनता पर सेवा समाप्ति करना।

12.8 समान्य उद्देश्यों की प्राप्ति में लगी अन्य संस्थाओं/न्यास/फाउन्डेशन को सहायता देना जिनकी आय आयकर अधिनियम 1961 के अन्तर्गत टैक्स आयकर से छूट प्राप्त हो।

12.9 न्यास के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संचालित विभिन्न प्रकार की गतिविधियों परियोजनाओं के लिए समितियों उपसमितियों का गठन अथवा समय–समय पर यो व्यक्तियों का चुनाव करना इत्यादि।

12.10 न्यास के उद्देशों की पूर्ति के लिए सभी प्रकार की कार्यो एवं गतिविधियों का आयोजन करना।

12.11 पैरा 8 में लिखित उद्देशों की पूर्ति के लिए सभी प्रकार की कार्यो एवं गतिविधियों का आयोजन करना।

13. न्यास का प्रबन्धन–

1. न्यास का प्रबन्धन न्यासी मण्डल द्वारा किया जायेगा।
2. न्यास के सभी संस्थापको ने न्यास के हित के लिए स्वीकृति प्रदान किया है कि वे न्यासी मण्डल के सदस्य के रूप में कार्य करेंगें।
3. न्यासी मण्डल के सभी सदस्यों की अधिकतम संख्या 9 होगी लेकिन किसी भी समय 5 से कम नहीं होगी।

4. न्यासी मण्डल की बैठकर वर्श में न्यूनतम दो बार अनिवार्य रूप से होगी लेकिन दोनों बैठकों के बीच का अन्तराल अधिकतम सात माह से अधिक नहीं होगा। बैठक की कोरम के लिए न्यूनतम तीन न्यासीयों का प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होना आव यक होगा।
5. कोई भी न्यासी त्याग पत्र देने के लिए स्वत्रं होगा और न्यासी मण्डल को यह अधिकार होगा कि वह इस प्रकार के त्याग पत्र को स्वीकार करेगा।
6. न्यासी मण्डल को यह अधिकार होगा की न्यासी के रिक्त पदों पर नये न्यासी का चुनाव कर पूर्ति करे।
7. कोई भी व्यक्ति जिसकी उम्र 18 वर्ष पूरी हों गयी हो और वह सामाजिक शैक्षिक एवं स्वैच्छिक गतिविधियों में रूचि रखता हो ऐसे व्यक्ति का चुनाव न्यासी मण्डल द्वारा किया जा सकता है।
8. कोई भी न्यासी यदि जानबूझ कर वह पूर्वाग्रह ग्रसित होकर न्यास के हितों के विपरीत कार्य करता है तब ऐसे व्यक्ति को न्यासी मण्डल की बैठक में दो तिहाई बहुमत के आधार पर निश्काशित किया जा सकता है लेकिन इसके पहले ऐसे न्यासी को निकलने से पहेल अपना पक्ष रखने के लिए नोटिस देना अव यक होगा।
9. कोई भी व्यक्ति लगातार तीन बैठकों में उपस्थित नहीं होता है या विदेश चला जाता है या मानसिक रूप से पागल घोषित कर दिया जाता है या दिवालीया घोषित कर दिया जाता है, ऐसे व्यक्ति की सदस्यता न्यासी मण्डल से समाप्त कर दी जायेगी।
10. न्यासी मण्डल को यह भाक्तियां प्राप्त होगी कि न्यास के लिए किये गये कार्यो के लिए यदि कोई व्यय आता है या गतिविधि आयोजित की जाती है तब ऐसे व्यय को न्यास फन्ड से कर सकती है।
11. **सचिव/मुख्य कार्यकारी** की अनुपस्थिति में उप सचिव को न्यास की गतिविधियों की देख रेख का दायित्व होगा।

14. विशिष्ट बैठक– न्यास प्रति वर्श, वर्ष में एक बार तीस जून से पूर्व विशेष बैठक आयोजित करेगा। जिसमें लेखा परिक्षा रिपोर्ट का अनुमोदन न्यासी मण्डल द्वारा किया जायेगा।

15. सदस्यता की समाप्ति–

निम्न परिस्थितियों में किसी भी न्यासी की सदस्यता समाप्त हो सकती है।

1. यदि वह अपने पद से त्याग पत्र देता है।
2. यदि वह किसी बिना सूचना के लगातार तीन बैठकों में अनुपस्थित रहता है।
3. यदि वह किसी सक्षम न्यालय द्वारा पागल घोषित कर दिया जाता है।

4. यदि किसी न्यालय द्वारा अपराधी घोषित कर दिया जाता है। या मताधिकार से वचिंत कर दिया जाता है या वह अवांछित गतिविधियों निरन्तर लिप्त पाया जाता है।

16. फन्ड –

1. दोनों संस्थापक फन्ड ट्रस्ट के रूप में पच्चीस हजार रू0 कार्पस के रूप में जमा कर रहे है और न्यासी मण्डल को भी यह शक्ति होगी की वह दान चन्दा सरांकारी, गैर सरकारी, राष्ट्रीय एवं अर्न्तराष्ट्रीय संगठनों से सहायता व चन्दा प्राप्त करें।
2. कारपस फन्ड के लिए अभी तत्काल अव यकता नहीं होगी। यह तत्काल बैंक में जमा करना अव यक नहीं होगा। न्यासी मण्डल को यह शक्तियां होगी की न्यास के खाते का संधारण करें और दो व्यक्ति को खाते संचालन के लिए नामित करें।
3. न्यास फन्ड का उपयोग संस्थापकों द्वारा या न्यासी मण्डल द्वारा व्यक्तिगत उपयोग के लिए नहीं किया जयेगा या न्यास फन्ड को ऋण के रूप में किसी को भी व्याज दर पंर नही दे सकते।

17.निवेष–

न्यास के लिए दान, चन्दा या अन्य श्रोतो से एकत्रित धन को न्यास के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए या न्यास के लिए भवन निर्माण इत्यादि में किया जा कसता है। यदि न्यास के पास धन अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है तो उसको बैंक में फिक्स डिपोजिट किया जा सकता है। किसी हालत में न्यास फन्ड को सेयर मारकेट में नहीं लगाया जायेगा न किसी को ऋण के रूप में दिया जायेगा। यदि ऋण के रूप में छात्रवृत्ति प्रदान की जानी है तो उसके लिए न्यासी मण्डल द्वारा अलग से नियम बनाया जाना अव यक होगा तकि न्यास फन्ड की वापसी नियमानुसार हो सके।

18.बैंक खाता–

न्यासी मण्डल न्यास के खाता संचालन के लिए न्यासी मण्डल के द्वारा न्यास का खाता किसी राष्ट्रीयकृत बैंक में अध्यक्ष, **सचिव/मुख्य कार्यकारी,** कोषाध्यक्ष के नाम से खोला जायेगा और किसी दो पदाधिकारियों के हस्ताक्षर से धन का आहरण किया जा सकता है। खाते से धन या चेक पेमेंन्ट भुगतान के लिए **सचिव/मुख्य कार्यकारी** का हस्ताक्षर अनिवार्य होगा।

19. नियम , अधिनियम का निर्माण–

1. न्यास के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, बैठको के आयोजन के लिए पदाधिकारियो की नियुक्ति व सेवा समाप्ति, कार्यालय पदाधिकारियों के चुनाव/निर्वाचन के संम्बध में नियम अधिनियम का निर्माण न्यासी मण्डल करेगा।

2. न्यासी मण्डल विभिन्न कार्यालय पदाधिकारियों को विभिन्न शक्तियों को प्रदान करने अथवा उन्हे कम करने का अधिकार रखता है एवं न्याय के समुचित संचालन के लिए न्यास हित में विभिन्न समितियों उप समतियों का गठन कर सकता है एवं उन्हें भंग भी कर सकता है।

20 लेखा एवं लेखा परीक्षण –

न्यास का यह दायित्व होगा कि लेखा का संधारण नियमित रूप से ठीक रखे उसके साथ ही साथ सभी प्राप्ति रसीद भुगतान बाउचर सभी देनदारियों का विवरण एवं सम्पत्तियों (चल एवं अचल सम्पत्ति) का विवरण ठीक से रखे। ये सभी रिकार्ड न्यास के मुख्यालय में कोशाध्यक्ष के संरक्षण में रहेंगें।

21. न्यास का वित्तीय वर्श–

1. 1 अप्रैल से प्रारम्भ होकर 31 मार्च तक होगा। न्यासी मण्डल द्वारा निर्धारित चार्टर एकाउन्टेन्ट से लेखा का लेखा परीक्षण कराया जायेगा। लेखा एवं लेखा परीक्षित रिर्पोट प्रत्येक वर्ष जून मे न्यासी मण्डल की होने वाली बैठक मे रखी जायेगी।
2. न्यास के उद्‌देश्यों की पूर्ति के अतिरिक्त न्यासी मण्डल के किसी भी सदस्य से व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिए न्यास फण्ड का हस्तान्तरण किसी हालत मे नही किया जाएगा।

22 न्यास विलेख मे संसोधन–

न्यासी मण्डल के दो तिहाई बहुमत के द्वारा न्यास विलेख मे संसोधन किया जा सकता है। इसके लिए न्यासी मण्डल द्वारा विशेष बैठक आयोजन किया जायेगा इस बैठक के लिए सभी सदस्यो को 15 दिन पूर्व सूचना देना आव यक होगा। सूचना लिखित एवं इलेक्टानिक दोनो माध्यम से दी जा सकती है ।

23 संस्था का भंग होना–

1. यदि न्यास अपने उद्‌देश्यों को पूरा करने में असफल होता है, या न्यासी मण्डल ऐसा महसूस करे कि न्यास कि गतिविधियों को चलाना सम्भव नही हो सकेगा ऐसी स्थिति में न्यास को बन्द किया जा सकता हैं लेकिन न्यास की सम्पत्ति एवं न्यास फण्ड (चल एवं अचल सम्पत्ति) न्यासी मण्डल के किसी भी सदस्य को वापस नही लौटाया जायेगा।
2. यदि न्यासी मण्डल, न्यास को बंद करने का निर्णय लेता है तो ऐसी परिस्थियों में न्यास फण्ड की सभी संम्पत्तियां एवं सभी देनदारियां इत्यादि न्यास के समान उद्‌देश्यों को पूरा करने वाली किसी अन्य न्यास/सोसायटी को हस्तान्तरित किया जा सकता है। न्यास भंग/बंद करने के लिए सचिव/मुख्य कार्यकारी द्वारा न्यासी मण्डल की विशेष बैठक आयोजित कर न्यास को भंग /बंद

करने के लिए 21 दिन पहले सभी न्यासी मण्डल को डाक /ईमेल द्वारा सूचना भेजना आवश्यक होगा।

3. न्यास को बंद करने के लिए दो तिहाई सदस्यों की व्यक्तिगत शारीरिक उपस्थिति आवश्यक होगी एवं दो तिहाई सदस्यों के द्वारा लिए गये निर्णय के आधार पर ही न्यास भंग होगा।

4. उपरोक्त सभी संस्थापक एवं न्यासी जो न्यासी के रुप में कार्य करने के लिए अपनी सहमति प्रदान किए वे आज दिनांक................ को निम्न गवाहों के समक्ष अपने हस्ताक्षर किए ।

उपरोक्त विलेख श्री ....द्वारा तैयार किए गए हैं ।

दो गवाहों के नाम व हस्ताक्षर....

दिनांक –

हमने जाना

- सामाजिक तथा सरकारी या गैर सरकारी कल्याण कार्यक्रमों को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए शासकीय अथवा गैर शासकीय प्रशासनिक व्यवस्था को समाज कल्याण प्रशासन कहा जाता है।
- समाज कल्याण प्रशासन के अन्तर्गत अनेक घटक होते हैं जिनके मध्य भारत सरकार का समाज कल्याण परिषद समन्वय स्थापित करती है।
- समाज कल्याण प्रशासन के कार्यों को समझने के लिए लूथर गुलिक के POSDCORB का सिद्धान्त उपयोगी है।
- पोस्डकार्ब में – P for Planning, O for Organizing, S for staffing, CO for Coordinating, R for Reporting & B for Budgeting होता है।
- समाज कल्याण प्रशासन के अन्तर्गत समाज कल्याण के लिए स्थापित विभिन्न संस्थाओं जैसे समिति, ट्रस्ट, कार्पोरेशन इत्यादि को सहायता प्रदान की जाती है।

कठिन शब्दों के अर्थ

- पोस्डकार्ब – प्रशासन के कार्यों को स्पष्ट करने के लिए प्रशासन के विभिन्न कार्यों के पहले अक्षर को लेकर बनाया गया है जिसमें नियोजन, संगठन, कर्मचारियों की नियुक्ति, समन्वयन, प्रतिवेदन प्रस्तुति एवं आय–व्यय के लिए बजट का निर्माण समाहित है।

- ट्रस्ट डीड – सामुदायिक अथवा सामाजिक हित के लिए किसी निश्चित सम्पत्ति को प्रदान करके उसकी व्यवस्था के लिए बनाई गई नियमावली जिसके आधार पर निर्मित ट्रस्ट का संचालन किया जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

1. समाज कल्याण प्रशासन की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. समाज कल्याण प्रशासन के क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
3. समाज कल्याण प्रशासन के प्रमुख सिद्धान्तों को स्पष्ट कीजिए।
4. समाज कल्याण प्रशासन के विविध कार्यों का संक्षिप्त विवरण कीजिए।

आओ करके देखें

- अपने क्षेत्र के विकास के लिए कार्य करने हेतु एक ट्रस्ट की ट्रस्ट डीड का निर्माण कीजिए।
- समाज कल्याण विभाग द्वारा अपने जिले में संचालित की जाने वाली योजनाओं की सूची तैयार करें।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

- पान्थरी शैलेन्द्र, सिंह अमरेन्द्र प्रताप, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, वाराणसी, पृष्ठ 240।
- वही, पृष्ठ 290।
- वहीं, पृष्ठ 247।
- वहीं, पृष्ठ 280।
- दास अभिजित एवं सिंह सतीश कुमार, 2007, सम्भव है बदलाव, सहयोग प्रकाशन, लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ–4।
- कुमार अनुप, जुलाई सितम्बर, 2005 सहवाणी, सहभागी शिक्षण केन्द्र लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ 14–15।
- राव, ब्रिजेश के०पी० जुलाई सितम्बर, 2005 सहवाणी, सहभागी शिक्षण केन्द्र लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ 16–18।

■■■

15.5 मानव व्यवहार (Human Behaviour)

उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे –

- मानव व्यवहार का स्वरूप
- मनोविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र
- मनोविज्ञान के विविध आयाम
- मानसिक स्वास्थ्य से तात्पर्य
- असामान्य व्यवहार का स्वरूप
- व्यक्तित्व एवं व्यक्तित्व विकास के विविध स्वरूप

15.5.1 मनोविज्ञान का अर्थ परिभाषा एव क्षेत्र (Meaning, Definition and Scope of Psychology)

गोर्डन चाइल्ड (1951) ने अपनी पुस्तक **"मैन मेक्स हिमसेल्फ"** में लिखा है–

"ऐसा लगता है कि अपने जीवन के आरम्भ से ही मनुष्य ने अपनी विशिष्ट मानवीय क्षमताओं का उपयोग यथार्थ विश्व में प्रयोग करने के लिए आवश्यक औजार बनाने के लिए तो किया ही, साथ ही काल्पनिक प्राकृतिक शक्तियों की कल्पना करने के लिए भी किया जिनका उपयोग वह यथार्थ विश्व पर करता। तात्पर्य यह है कि वह एक तरफ तो प्राकृतिक प्रक्रिया को समझने और उसका उपयोग करने की कोशिश कर रहा था और साथ ही दूसरी तरफ इस प्राकृतिक विश्व में काल्पनिक सत्ताओं को भी आबाद कर रहा था जिनको उसने अपनी रूपरेखा के अनुरूप गढ़े थे और जिनको वह बल प्रयोग या प्रलोभन के लिए उपयोग कर सकता था। इस तरह वह विज्ञान और अंधविश्वास की संरचना साथ–साथ कर रहा था। विज्ञान के द्वारा संभव हुई शहरी क्रान्ति का दुरूपयोग अंधविश्वास ने किया। किसानों और कामगारों की उपलब्धि का असली लाभ पुरोहितों और राजाओं ने उठाया। अतः विज्ञान की जगह जादू को गद्दीनशीन किया गया और उसे ही सत्ता सौंपी गई। मनुष्य ने अंधविश्वासों का और शोषण की संस्थाओं का वैसे ही निर्माण किया जैसे कि उसने विज्ञान का और उत्पादन के औजारों का निर्माण किया। दोनों के द्वारा वह स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा था, स्वयं को खोज रहा था, स्वयं को रच रहा था।"

फ्रेजर ने भी अपनी पुस्तक 'गोल्डेन बाउ' में लिखा है कि उच्चतर औजारों की प्रगति जादू–टोना से प्रारम्भ हुई। तत्पश्चात धार्मिक विश्वासों से इनका कठिन उलझाव हुआ और इन्हें नष्ट करने के बाद ही आधुनिक विज्ञान अपनी स्थापना के तरफ उन्मुख हो सके।

उपरोक्त विचारों को यदि ठीक ढंग से देखें तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि मानव ही वह कलाकार था जो विज्ञान को भी स्थापित करने में लगा था, भय को भी रच रहा था, आस्थावान बनने को उकसा रहा था तो शोषण के नये–नये तरीके ईजाद कर रहा था और मानव ही शोषण का चारागाह बन रहा था। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव के अन्दर वह तत्व मौजूद था जो अपने उन्नति का साधन खोज सकता था पर सभी मानवों में वह क्षमता नहीं थी। इस तरह मानव प्रजाति क्षमतावान एवं कम क्षमतावान के बीच बॅटी थी। व्यक्तिगत विभेद था। मानवीय क्षमता को समझने के लिए ही वैज्ञानिकों ने पहल की और वही पहल ही मनोविज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु था, माध्यम चाहे जो भी हो।

15.5.2 मनोविज्ञान की परिभाषा और उद्‌देश्य (Definition and Scope of Psychology)

Psychology शब्द की रचना दो शब्दों के योग से हुई है–

Psyche + Logos, Psyche का हिन्दी अर्थ चित्त है। इसे आत्मा (Soul) भी कहा गया है और Logos का अर्थ है व्याख्या। इस तरह psychology का अर्थ हुआ -- आत्मा की या चित्त की व्याख्या। इस तरह प्रारम्भिक स्तर पर मनोविज्ञान को आत्मा का विज्ञान मान लिया गया और यह सम्प्रत्ययन, दर्शनशास्त्रियों का था। इसी को आधार मानकर मनोविज्ञान को आगे बढ़ाया गया पर आत्मा जैसे अमूर्त विषय पर कार्य करना, अत्यधिक कठिन था क्योंकि आत्मा शब्द आध्यात्मिक व्याख्या के काफी नजदीक था। इसलिए विज्ञान बनने में मनोविज्ञान को कठिनाई आने लगी। परिणाम यह हुआ कि दर्शनशास्त्रियों ने मनोविज्ञान को आत्मा से हटाकर मन से जोड़ने का कार्य प्रारम्भ किया और माना कि –

"Psychology is the Science of Mind."

इस शब्द की उत्पत्ति कुछ यूं हुई कि **Psyche** को आत्मा **(Soul)** माना गया। पुनः आत्मा को अमूर्त (Abstract) कहकर **Psyche** को Mind (मन) कह दिया गया। अतः अवस्था विशेष के क्रमशः विकास के कारण Psychology को मनोविज्ञान मान लिया गया। वस्तुतः इसका शाब्दिक अर्थ मनोविज्ञान नहीं होता।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मन और आत्मा को लगभग समान अर्थों में प्रयुक्त किया जाता रहा। शनैः शनैः नवाचार के कारण शरीर क्रिया शास्त्र में नये–नये प्रयोगों ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। इस समय बेवर, मूलर, हेल्महोज एवं फेकनर ऐसे वैज्ञानिकों के रूप में उभरे जिन्होंने मनोविज्ञान को धार्मिक ढाँचें से बाहर निकालकर वैज्ञानिक श्रेणी की तरफ अग्रसर कर दिया। फेकनर की पुस्तक 'मनोभौतिकी के तत्व (Elements of psychophysics) एवं विल्हेम वुण्ट की पुस्तक 'बीट्रेज' ने मनोविज्ञान जगत में एक ऐसी कामयाबी हासिल की कि मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र से अलग हो प्रयोगात्मक विज्ञान का स्वरूप धारण कर लिया। अब मनोविज्ञान मन के विज्ञान से बाहर आकर चेतन अनुभवों का विज्ञान हो गया।

Psychology is the study of conscious experience.

वुण्ट के ही शिष्य टिचनर ने मनोविज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि–Psychology studies the conscious experience of generalised normal adult human beings."

सामान्य वयस्क मानव के चेतन अनुभवों का अध्ययन ही मनोविज्ञान है।

पुनः कुछ वर्षों बाद वुण्ट के विचारों की आलोचना शुरू हुई। आलोचना का मुख्य बिन्दु यह रहा कि विज्ञान के लिए जिन आवश्यक शर्तों का होना अनिवार्य होता है उससे वुण्ट काफी दूर हैं। चेतन अनुभव या चेतन भी एक अदृश्य या आन्तरिक प्रकरण है और आत्मा तथा मन की तरह यह भी एक गूढ़ विषय है। इसे छोड़ना होगा।

संरचनावादियों के प्रयास को उस समय गहरा धक्का लगा जब मनोविज्ञान जगत में वाटसन का पदार्पण हुआ। सन् 1913 में वाटसन ने व्यवहारवाद की घोषणा कर डाली। व्यवहारवादियों का मुख्य केन्द्र बिन्दु व्यवहार था। इनका मानना था कि किसी भी अध्ययन की मूल और विश्वसनीय बात यह है जिसे कोई भी देख सके, सुन सके, चख सके, सूँघ सके तथा स्पर्श कर सके। इन्हीं को आधार मानकर मनोविज्ञान की परिभाषा ही बदल दी गई तथा मैक्ड्गल ने कहा कि –

Psychology is the science of human conducts."

हालॉकि बाद में मैक्ड्गल ने इसमें थोड़ा परिवर्तन कर psychology is the positive epirical science of the behaiour of living any creatures."

विद्वानों का आपसी मतभेद, मनोविज्ञान की समृद्धता को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ। अब वह पूर्ण आन्तरिक अनुभूतियों से बाहर आकर विज्ञान की श्रेणी में आ खड़ा हुआ। इन्हीं सब व्याख्याओं, विचारों एवं कोशिशों के फलस्वरूप मनोविज्ञान की आधुनिक परिभाषा सामने आयी जो काफी हद तक ग्राह्य है।

"psychology is the science that systematically studies and attempts to explain observable behavious and its relationship to the unseen mental processes that go on inside the organism and to external events in the environment." (Kagan and havemann; 1974)

मनोविज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जो प्राणी के प्रेक्षणीय व्यवहार और प्राणी के अन्दर होने वाली अप्रेक्षणीय मानसिक क्रियाओं तथा वाह्य जगत की घटनाओं के बीच के सम्बन्धों का विधिवत अध्ययन करता है एवं उनकी व्याख्या का प्रयास करता है।

उद्देश्य (Goals) -

मनोवैज्ञानिकों का बहुतायत शोध कार्य, व्यवहार वर्णन, व्यवहार की व्याख्या करना, उसकी भविष्यवाणी करना तथा व्यवहार को नियंत्रित करने से सम्बन्धित है पर व्यावहारिक मनोवैज्ञानिकों ने एक अन्य लक्ष्य को भी उद्धृत किया है वह है – मानव जीवन की गुणवत्ता में सुधार। उपरोक्त लक्ष्य वास्तव में आधुनिक मनोविज्ञान की विषयवस्तु है। पर विचार यह होना चाहिये कि क्या मनोविज्ञान वाह्य घटनाओं के आन्तरिक एवं वाह्य विश्लेषण मात्र की विषय–वस्तु होनी चाहिए या आन्तरिक घटकों एवं उनके परिवर्तनों पर भी मनोवैज्ञानिकों का ध्यान होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं तो मनोविज्ञान को सीधे–सीधे व्यवहार विज्ञान (Behaviour Science) कहने में क्या नुकसान है। पर मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यवहार विज्ञान नाम की स्वीकार्यता का संकोच मन–मस्तिष्क पर मनोविज्ञान के लिए एक प्रश्न पैदा करता है। बावजूद इसके मनोविज्ञान के कुछ निश्चित लक्ष्य है जिसका वर्णन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(1) घटित का वर्णन –

मनोविज्ञान का प्रथम संकृत्य, व्यवहार को सावधानीपूर्वक देखना है और वस्तुनिष्ठता से उसका वर्णन करना है। निरीक्षित व्यवहार की आख्या के रूप में हमें प्रदत्त होते हैं। उन्हीं प्रदत्तों की मदद से विश्लेषण के द्वारा परिणाम प्राप्त होते हैं। मनोवैज्ञानिक, सुसंगत और उद्दीपक एवं अनुक्रिया के बीच विश्वसनीय सम्बन्धों को देखते हैं। किसी भी देखी गई घटना का वर्णन करना भी एक चुनौती भरा कार्य होता है। हर तरह से पक्षपातरहित होकर

वास्तविकता के साथ घटना का वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। हमारे पूर्व के अनुभव चाहें वे व्यक्तिगत स्तर के हों या विशिष्ट संस्कृति विशेष के हों, हम जो देखना चाहते हैं वैसा ही परिणाम प्राप्त होने की प्रत्याशा करते हैं।

रूबिन (1974) ने एक अध्ययन में पाया कि अमेरिकन माँ–बाप (जो 24 घंटें से भी कम समय के शिशुओं के माँ–बाप थे) किस तरह अपने बच्चों के बारे में वर्णन करते हैं तो पाया गया कि उनका उत्तर विविधताओं वाला था जो उनके लिंग पर आधारित था। बेटों की तुलना में लोगों ने लड़कियों को अत्यधिक कोमल, छोटा, कमजोर, संवेदनशील एवं भद्दा बताया। जब इसी अध्ययन में वस्तुनिष्ठ मापन का सहारा लिया गया तो प्राप्त उत्तरों में अन्तर देखने को मिला।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि घटित या घटित होने वाली घटना को यदि वस्तुनिष्ठ नजरियें से प्रस्तुत किया जाय तो हम उत्तर या परिणाम अच्छे ढ़ंग से प्राप्त कर सकते हैं।

घटना की व्याख्या–

मनोविज्ञान का दूसरा लक्ष्य घटना की व्याख्या करना है या घटित होने वाले व्यवहार के कारणों की व्याख्या करना है। मनोविज्ञान के बहुत क्षेत्रों में मुख्य केन्द्रीय लक्ष्य व्यवहार के नियमित प्रारूपों को खोजना होता है। मनोवैज्ञानिक यह जानने की कोशिश करते हैं कि ***"व्यवहार किस तरह कार्य करता हैं।"*** किस तरह कोई उद्दीपक निरीक्षित अनुक्रिया के लिए कारण बनता है। उदाहरणार्थ मजदूरों, कर्मचारियों के व्यवहार को समझने के लिए एक प्रबन्धक को यह आवश्यक रूप से जानने की जरूरत होती है कि पुरस्कार और दण्ड किस सीमा तक उत्पादकता को प्रभावित कर सकते हैं। किसी भी स्थिति के लिए परिशुद्ध व्याख्या शोध से प्राप्त हो सकती है। सफल अनुसंधानकर्ता अपने अनुभवों से सीखकर अपने अन्दर सृजनशीलता एवं अन्तर्सूझ को विकसित कर सकते है। कभी–कभी प्रत्यक्ष रूप से देखी गई घटना पर अचानक दिया गया निर्णय सही नहीं होता क्योंकि घटना की जड़े कहीं और होती है। ऐसी स्थिति में जड़ों की तरफ जाने की भी आवश्यकता होती हैं। इस प्रकार की आन्तरिक दशाओं, जिन पर मनोवैज्ञानिक अनुमान लगाते हैं उन्हें प्रायः मध्यवर्ती चर के रूप में जाना जाता है। ये प्रत्यक्षतः दिखते तो नहीं पर मूल कारण के रूप में भी ये सामने आ जाते है। अतः घटना की व्याख्या में सतर्कता बहुत जरूरी होती है। एक व्यक्ति जो व्याख्या करता है वह परिप्रेक्ष्य और एकत्र किये गये प्रमाणों पर निर्भर करता है।

पूर्वकथन करना–

मनोविज्ञान का तीसरा लक्ष्य व्यवहार के घटने का पूर्व कथन करना है। कब, किस स्थिति में, किस व्यक्ति या समूह के द्वारा कौन सा व्यवहार किया जायेगा, इसका पूर्वकथन करना इसमें सम्मिलित है। एक सामान्य पूर्वकथन का आधार यह होता है कि व्यक्तियों द्वारा पूर्व में किया गया आचरण या व्यवहार प्रायः किस तरह का

रहा है। लगभग उसी तरह के व्यवहार की आशा भविष्य में उससे की जाती है तथा इसे एक अच्छा संकेत माना जाता है। यदि आप किसी व्यक्ति के पूर्व रिकार्ड से परिचित नहीं हैं तो आप उससे मिलते जुलते व्यक्ति के उन्हीं परिस्थितियों के आधार पर पूर्व व्यवहार के बारे में विचार बना सकते है। जब पूर्व कथन किया जाता है तो मनोवैज्ञानिक इन तथ्यों पर अत्यधिक ध्यान देते है कि व्यक्ति के अधिकतर व्यवहार किन–किन कारकों के समुच्चय के कारण अधिक प्रभावित होते है। कुछ ऐसे कारकों के समुच्चय अधिकतर व्यक्तियों में एक जैसे ही कार्य करते हैं। पर कहीं–कहीं स्थिति विशेष के कारण उसकी तस्वीर बदल जाती है। कारणात्मक पूर्व कथन करने में मनोवैज्ञानिकों को इसमें दक्ष होना चाहिए कि प्रस्तुत उद्दीपक एक निश्चित प्रकार की अनुक्रिया ही उत्पन्न करेगा। इस क्षमता का होना आवश्यक होता है।

क्या घटित होगा? इस तरह के पूर्वकथन में मनोवैज्ञानिक इसे पहचानने की कोशिश करते हैं कि किस क्रम में घटना ाटित हो रही है? कौन सा उद्दीपक, अनुक्रिया उत्पन्न करने में अधिक सहायक हो रहा है।

घटना पर नियंत्रण–

व्यवहार को नियंत्रित करना कि अमुक व्यवहार होगा अथवा नहीं। या अमुक व्यवहार को उत्पन्न करना है या उसे रोक देना है और उसकी गुणात्मकता को बढ़ाना है अथवा नहीं? यह मनोवैज्ञानिकों का चौथा प्रमुख लक्ष्य है। इस क्षमता का नियंत्रण, व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए महत्वपूर्ण है। यह क्षमता मानव के जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाने में भी मददगार होगा।

जीवन की गुणवत्ता में सुधार–

बहुत सारे मनोवैज्ञानिक आविष्कार मानवीय समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त होते हैं। मनोविज्ञान ठोस ढ़ंग से जीवन को एक सही दिशा एवं आकार प्रदान करता है। अच्छी तरह से मनोविज्ञान को समझने वाले व्यक्तियों के लिए यह एक वरदान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविज्ञान का अध्ययन अनेक तरह से मानव को सहायता प्रदान करता है। दिन–प्रतिदिन इस क्षेत्र में हो रहे अनुसंधानों से मनोविज्ञान का लक्ष्य समृद्ध हो रहा है तथा यह एक नये रूप में सामने आ रहा है।

15.5.3 मनोविज्ञान के विविध उपागम (Various Approaches to Psychology)

मानव किस तरह व्यवहार करता है, किस तरह सोचता है, क्या अनुभव करता है इत्यादि विषयों पर मनोविज्ञान के पास एक विशाल विकल्प है। मानव जन्म से लेकर उसके मरण, यहाँ तक की गर्भ में आये भ्रूण का

अध्ययन भी मनोविज्ञान की विषय–वस्तु है। इन सभी का अध्ययन एक निश्चित लीक से या ढाँचे से सम्भव नहीं है और मनोविज्ञान जगत में सम्प्रदायों का जन्म भी विविध पक्षों को लेकर हुआ है पर उनकी परस्पर संकीर्णता, हठधर्मिता, एवं श्रेष्ठता के कारण अब उनका महत्व लगभग समाप्त सा होता जा रहा है। मनोविज्ञान अब लचीले विधियों की मदद से विशिष्टता (Speciality) की तरफ अग्रसर है। इन्हीं विशेषताओं के कारण इस विज्ञान में विभिन्न उपागमों में से मनोवैज्ञानिक कभी एक तो कभी एक से अधिक उपागमों की मदद से प्राणी के व्यवहार की व्याख्या का प्रयास करता है। ये उपागम, मनोवैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप को विभिन्न वैकल्पिक परिप्रेक्ष्यों में देखते हैं। ये उन व्यवहारों जो पूर्व, वर्तमान या भविष्य से सीखे जाते हैं जिससे व्यवहार प्रभावित होता है, के अभिग्रहों पर भी भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में सात प्रकार के सम्प्रत्ययात्मक परिप्रेक्ष्य उभरकर सामने आये हैं। ये निम्नलिखित हैं –

- जैविक उपागम
- मनोगत्यात्मक उपागम
- व्यवहारवादी उपागम
- संज्ञानवादी उपागम
- मानवतावादी उपागम
- विकासात्मक उपागम
- सामाजिक – सांस्कृतिक उपागम।

जैविक उपागम (Biological Approach) -

मानव का व्यवहार हवा में नहीं होता। चेतन अवस्था में व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह उद्देश्यात्मक होता है और जिस कारण वह एक निश्चित व्यवहार करता है उसमें उसकी जैविक प्रवृत्तियॉ काफी हद तक जिम्मेदार होती हैं। जैविक प्रवृत्तियों को प्रमुख आधार बनाकर किया जाने वाला अध्ययन जैविक उपागम कहलाता है। जिम्बार्डो एवं बेवर (1997) ने बताया है कि –

"Biological approach in Psychology searches for the causes of behaviour in the functioning of genes, the brain and nervous system, and the endocrine (Internal gland)."

यह उपागम व्यवहार के कारणों के लिए जीन्स, मस्तिष्क, तंत्रिका – तंत्र और आन्तरिक ग्रंथियों के प्रकार्य में खोज करता है अर्थात् उनको प्रमुख मानता है।

यह उपागम चार तरह के अभिग्रहों का निर्माण करता है–

1. मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक गोचर को जैवरासायनिक प्रकियाआं के रूप में समझा जा सकता है।
2. जटिल व्यवहारों को भी विश्लेषितकर छोटे–छोटे एवं विशिष्ट इकाईयों में समझा जा सकता है।
3. सभी व्यवहार अथवा व्यवहार क्षमता शारीरिक संरचना एवं आनुवांशिक प्रक्रियाओं से निर्धारित होते हैं।
4. अनुभव, व्यवहार की जैविक संरचना एवं प्रक्रियाओं में मामूली हेर–फेर कर संशोधन कर सकता है।

कार्लसन (1999) ने बताया है कि आज मनोविज्ञान यह बताने में सक्षम है कि मानसिक रोग जैसे मनोबिदलता (Schizophrenia) एवं विषाद या अवसाद (Depression) मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार के न्यूरोट्रान्समीटर की कमी या अधिकता के कारण होते हैं। यदि जैव रासायनिक दवाओं का प्रयोग करके इसे नियंत्रित किया जाय तो ये रोग ठीक हो सकते हैं। इस उपागम में केन्द्रीय नाड़ी संस्थान का भी गहनता से अध्ययन किया जाता है।

मनोगत्यात्मक उपागम (psychodynamic Approach)

मनोगत्यात्मक उपागम, जैविक उपागम की भॉति व्यवहार को न सिर्फ जीन्स एवं मस्तिष्क के कार्य के रूप में देखता है वरन अप्रत्यक्षः उन मनोवैज्ञानिक दशाओं पर भी विचार करता है जो मध्यवर्ती चरों के रूप में व्यवहार पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। इसका मुख्य अभिग्रह यह हैकि मन अथवा चित्त अथवा मस्तिष्क व्यवहारिक शक्तियों का स्रोत है जो गतिशील होता है। व्यवहार, शक्तिशाली मानसिक प्रचण्डता एवं अन्तर्द्वन्दों द्वारा निर्धारित होता है। इस विचारधारा के अनुसार मानव कियायें मूल–प्रवृत्तियों, जैविक अन्तर्नोदों, और अन्तर्द्वन्द्वों के समाधान की कोशिशोंजो वैयक्तिक जरूरतों और समाज की मॉगों के बीच चलता है से अभिसिंचित होती है। इस मॉडल का प्रमुख तत्व अभिप्रेरणा है। वंचना, शारीरिक उद्दोलन, अन्तर्द्वन्द्व और कुण्ठा व्यवहार के लिए शक्ति प्रदान करते हैं। प्राणी उसी दशा में प्रतिक्रिया करना बंद कर सकता है जब उसकी आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं और उसकी ललक कमजोर पड़ जाती है।

इस मॉडल के जन्मदाता सिगमण्ड फ्रायड हैं जो बाल्यकालीन संघर्षों को ही व्यवहार के लिए जिम्मेदार मानते हैं। इनका मानना है कि परिस्थितियों से जूझकर समस्या का समाधान मानव को एक नई ऊर्जा प्रदान करता है जिससे उसका समायोजन भली प्रकार से भविष्य में होता है। एक तरफ फ्रायड व्यवहार के लिए जैविक कारकों को महत्वपूर्ण मानते हैं वहीं दूसरी तरफ नवफ्रायडवादी (एडलर, युंग, हार्नी, सुलिवान एवं फ्रॉम) मानव व्यवहार की व्याख्या के लिए सामाजिक कारकों को विशेष महत्व देते हैं। साथ ही पर्यावरणीय छवि को उभारने का

प्रयास करते हैं जबकि फ्रायड निराशावादी छवि पर अधिक बल देते हैं तथा ऋणात्मक ताकतों से प्रेरणा आधिक्य की कल्पना करते हैं।

व्यवहारवादी उपागम (Behaviouristic Approach) -

इस उपागम का प्रारम्भ अमेरिकी मनोवैज्ञानिक वाटसन (1912) ने किया। वाटसन का मत था कि अन्तर्दर्शन विधि मनोविज्ञान के अध्ययन की सर्वांगपूर्ण विधि नहीं हो सकती इसके स्थान पर आत्म निरीक्षणविधि **(Self observation method)** का उपयोग होना चाहिए।

जिम्बार्डो एवं बेवर (1987) ने लिखा है कि –

'The behaviouristic approach in Psychology focuses on overt behaviors that can be objectively recorded and manipulated."

मनोविज्ञान में व्यवहारवादी उपागम प्रकट व्यवहारों पर बल देता है जो वस्तुनिष्ठतापूर्वक अंकित किया जा सके एवं उसमें परिवर्तन किया जा सके।

व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक, मनोविज्ञान की समझ को संक्षिप्त ABC फार्मूला में बाँधने का प्रयास करते हैं। ।ठब् का अर्थ है –

A . Antecedent पूर्ववर्ती

B . Behaviour व्यवहार

C . Changes परिवर्तन

प्रथमतः प्रारम्भिक उद्दीपक जो व्यवहार को उत्पन्न करते हैं। दूसरा व्यवहार में परिवर्तन के मापन से हैं और तीसरा इसके परिणाम से व्यवहार में बदलाव भी लाया जा सकता है।

प्रसिद्ध व्यवहारवादियों स्किनर, मिलर एवं डोलार्ड के अध्ययनों के पश्चात् यह बात प्रमुखता से उभरकर सामने आयी कि अधिगम, अनुभव तथा वातावरण से जुड़े कारकों के द्वारा प्राणी के व्यवहार को निर्धारित किया जा सकता है। इसके बाद मनोविज्ञान जगत में व्यवहार परिमार्जन पर बल दिया जाने लगा। व्यवहार परिमार्जन के लिए एक ढॉचा का निर्माण हुआ जिसे S.O.R. (Stimulus - Organism - Response) का नाम दिया गया।

टालमैन, हल एवं स्पेन्स ने बताया हैकि उद्दीपक चर और अनुक्रिया चर जो प्द्चनज और व्नजचनज के रूप में भी जाने जाते हैं के बीच प्राणी एक ऐसा मध्यवर्ती चर (Intervening Variable) है जो व्यवहार को महत्वपूर्ण तरीके से प्रभावित करता है। बिना प्राणी चर के उद्दीपक चर और अनुक्रिया चर अपनी प्रभावी भूमिका नहीं निभा पाते।

संज्ञानवादी उपागम (The Cognitive Approach)

संज्ञानवादी उपागम का प्रादुर्भाव गेस्टाल्टवादी विचारधारा से हुआ है। बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने व्यवहारवाद के अनावश्यक बन्धनों की आलोचना की है और इस बात पर बल दिया है कि मनोविज्ञान में उन सभी तथ्यों का अध्ययन होना चाहिए जो मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं। सूक्ष्म, मानव की अप्रत्यक्ष कियाओं, ध्यान केन्द्रण, चिन्तन, स्मरण, समस्या–समाधान, कल्पनाशीलता और चेतन अनुभव जैसे सम्प्रत्ययों के अध्ययन के लिए उचित विधि का आविष्कार होना चाहिए। इसी चिन्तन के परिणाम से मनोविज्ञान में संज्ञानवादी उपागम का जन्म हुआ। यह उपागम, मनोविज्ञान के केन्द्रीय विषय–वस्तु के रूप में मानवीय चिन्तन और जानने की सभी प्रक्रियाओं को प्रमुख मानता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार लोग इसलिए कार्य करते हैं क्योंकि वे सोचते हैं और वे सोचते इसलिए है क्योंकि मानव मस्तिष्क का रूप और उसका कार्य इसी प्रक्रिया से सुसज्जित रहता है तथा व्यस्त रहता है।

इस उपागम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह उपागम व्यवहार के लिए अधिगम को महत्वपूर्ण नहीं मानता बल्कि संज्ञान को आवश्यक मानता है। वह उद्दीपक–अनुक्रिया के साहचर्य को अधिगम के लिए आवश्यक नहीं मानता अपितु इस उपागम का मानना है कि अधिगम के लिए जीव "संज्ञानात्मक मैप" (Cognitive map) को सीखता है। संज्ञानवादी मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि उद्दीपक में ही वह विशेषता पाई जाती है जिसके कारण मानव या जीव का व्यवहार निश्चित हो जाता है। मानव मात्र साधारणतया अनुक्रियाशील प्राणी नहीं होता वह कियाशील होकर चयन करता है और वैयक्तिक उद्दीपक वातावरण का निर्माण करता है। चूँकि व्यवहार लक्ष्योन्मुख होता है वह अर्थहीन नहीं होता अतः वह वातवरण को संज्ञानवादी तरीके से देखता है और तद्नुरूप अपने को समायोजित करता है।

मानवतावादी उपागम (The humanistic Approach)

जिस तरह संज्ञानात्मक उपागम, व्यवहारवाद के हठीले रवैये के कारण सामने आया उसी तरह मनोगत्यात्मक उपागम की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मानवतावादी उपागम सामने आया। मनोगत्यात्मक उपागम, कभी–कभी इस आधार पर आलोचना का शिकार होता रहा कि यह मानव स्वभाव को निराशावादी दृष्टिकोण से

देखता है। पुरातन एवं अचेतन अन्तर्द्वन्द्वों के द्वारा व्यवहार को विशेषीकृत करता है। ठीक इसके विपरीत मानवतावादी उपागम इस बात पर जोर देता है कि मानव क्रियाशील होता है तथा जन्म से ही वह अच्छा होता है। ऐसे मनोवैज्ञानिकों में मैस्लो, विलियम जेम्स, कार्ल राजर्स, आलपोर्ट इत्यादि का नाम प्रमुख है। इस उपागम को मानने वाले मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि प्रेम, आशा, आत्म, मूल्य, सहानुभूति, परोपकार जैसे विषय आज उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितना कि होने चाहिए। मानव विकास और उसकी आवश्यकतायें तो महत्वपूर्ण हैं ही पर विकास मूल्यपरक होना चाहिए। इसी को प्रमुख आधार मानकर मैस्लो ने मानवीय आवश्यकताओं को एक सोपानिक क्रम दिया है तथा वृहद् से सूक्ष्म, भौतिक से आध्यात्मिक क्रम को चिन्हित किया है।

विकासवादी उपागम (Evolutionary Approach)

मानव की उत्पत्ति कहाँ से हुई? हम जैसे हैं वैसे क्यों हैं? हम जैसा व्यवहार करते हैं ऐसा क्यों करते हैं? इन प्रश्नों का सरल जवाब हमारे पास नहीं है। विज्ञानेतर उपागम इन प्रश्नों का उत्तर धार्मिक एवं रहस्य की पृष्ठभूमि में देते हैं। 1859 में ब्रिटिश विद्वान चार्ल्स डार्विन की एक पुस्तक "On the origin of Species" आयी जो इस बात पर बल देती है कि पर्यावरणीय ताकतें स्वाभाविक रूप से चयनात्मक होती हैं तथा वे उन जीवों का चयन कर लेती है जो जिन्दा रहते हैं तथा अपनी सन्तति को आगे बढ़ाते हैं। डार्विन ने अपने सिद्धांत में बताया है कि जो प्राणी अपने अन्दर वंशागत विशेषता धारण करते हैं तथा वहन करते हैं, अपने उन विशेषताओं को अपने संन्तति में स्थानान्तरित करने की क्षमता रखते हैं। अन्ततोंगत्वा प्रजाति विकसित होती है क्योंकि उनकी वंशागत अनुकूलित विशेषतायें उन्हें विशिष्ट पर्यावरण में प्रतिस्पर्धा करने के लिए भली प्रकार रखती हैं।

व्यवहारगत एवं मानसिक अनुकूलनशीलता का सम्प्रत्यय ही मनोविज्ञान में विकासात्मक उपागम का आधार है। यह उपागम मानता है कि –

"human mental abilities, like physical abilities, evolved over millions of years to surve particular adaptive purposes."

अनुकूलनशीलता का आशय उन गुणों से हैं जो हम अपने माँ–बाप तथा रिश्तेदारों से प्राप्त करते है तथा जिन्हें हम अपनी सन्तति में स्थानान्तरित कर सकते हैं।

सामाजिक – सांस्कृतिक उपागम (Sociocultural Approach)

मानव व्यवहार पर सामाजिक – सांस्कृतिक कारकों के प्रभाव को समझना ही इस उपागम की मुख्य विशेषता है। कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन इस बात को इंगित करते हैं कि सामाजिक सांस्कृतिक मानक, मानव को प्रभावित करते हैं तथा इनके नियम भी ऐसी धार्मिक मान्यताओं से जुड़े रहते हैं जो मानव को स्वतंत्र रूप से सोचने तथा जाने की इजाजत नहीं देते जिसके कारण अनावश्यक तनाव होता है तथा व्यक्ति अनेक मानसिक व्याधियों का शिकार हो जाता है।

मनोविज्ञान में व्यवहारवाद को प्रमुखता मिली तथा वातावरणीय कारकों को भी अपरिहार्य माना गया फिर क्या सामाजिक–सांस्कृतिक कारक अछूते रह सकते हैं? नहीं। क्योंकि मानवीय वातावरण इतना सरल नहीं है जितना देखने से लगता है। मानव जगत में स्तरीकरण है जो आदिकाल से चला आ रहा है। ऊँच–नीच, अमीर–गरीब, गोरा–काला, मजदूर–मालिक, शोषक–शोषित, पूरब–पश्चिम, हिन्दू–मुस्लिम, ईसाई, सिख वर्ण जाति इत्यादि ऐसे कारक हैं जिनकी अपनी अपनी एक अलग संस्कृति तथा नियम हैं। इन नियमों से अलग जाने वाला व्यक्ति जीवनभर परेशान रहता है। समाज से लड़ता है अन्ततः समाज से समझौता कर लेता है।

सामाजिक–सांस्कृतिक उपागम इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति विशेष के व्यवहार के पूर्वकथन के लिए यह आवश्यक है कि उसके वातावरण, सामाजिक संगठन समुदाय, सांस्कृतिक मूल्यों तथा परिवार को समझा जाय तभी कोई भविष्यवाणी की जानी चाहिए। ट्रियान्डिस (1994) ने बताया है कि इसके लिए व्यक्ति की पारिस्थितिकी, संस्कृति, सामाजीकरण, व्यक्तित्व को जानना जरूरी है तभी हम व्यक्ति के व्यवहार के बारे में कुछ कह सकने की स्थिति में होते हैं।

मनोविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र (SCOPE OF PSYCHOLOGY)

मनोविज्ञान के भारत में आगमन के पश्चात् इस क्षेत्र में विशेष ध्यान दिया गया और इसका अध्ययन–अध्यापन शुरू हुआ। इसका उल्लेख इसलिए किया जा रहा है कि मनोविज्ञान के छात्र एक नजर में यह आसानी से समझ सकें कि भारत में मनोविज्ञान की किन–किन शाखाओं का अध्ययन हो रहा है तथा उसकी विषयवस्तु क्या है? यह सभी विषय मिलकर मनोविज्ञान को मजबूत करते हैं। समय, परिस्थिति और देश की आवश्यकताओं तथा समस्याओं में इसका योगदान कितना महत्वपूर्ण है तथा और कितना इसे अनुकूल बनाने की जरूरत है जिससे यह विषय प्रभावी रूप से अपनी सार्थकता सिद्ध कर सके। नई शिक्षा–नीति के अनुसार शिक्षा का व्यावसायीकरण तीव्र गति से हो रहा है। इसलिए भारतीय मनोवैज्ञानिकों के सामने दो महत्वपूर्ण लक्ष्य, वर्तमान समय में उपस्थित हैं – प्रथम मनोविज्ञान को अधिकाधिक व्यावसायिक बनाना तथा दूसरा विषय के अस्तित्व को सिद्ध

करना। आने वाले समय में इस प्रकार की पृष्ठभूमि निर्मित हो रही है कि विषय के अस्तित्व की चिन्ता की कोई जरूरत नहीं है। स्वयंमेव लोग इसकी आवश्यकता महसूस करेंगे क्योंकि सूचना प्रौद्योगिकी विश्व की विभिन्न संस्कृतियों को प्रमाणित करते हुये एक ***''विश्व संस्कृति''*** अथवा ***''सार्वभौमिक संस्कृति''*** की स्थापना कर डालेगी और उस संस्कृति में यही तत्व प्रभावी रहेंगे जिसको सूचना प्रौद्योगिकी स्थापित करना चाहेगी। इस प्रभाव से भारत भी अछूतां नहीं रहेगा क्योंकि आर्थिक–उदारीकरण, भूमंडलीकरण और मुक्त बाजार व्यवस्था से हम दिन–प्रतिदिन प्रभावित हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में उपभोगवाद (जिसकी आधारशिला भौतिकवादी प्रवृत्ति है) भोग–लिप्सा, नई–नई आकांक्षाओं, आवश्यकताओं को उद्भूत करेगा और व्यक्ति बेहोश होकर उसे प्राप्त करने के लिए भागेगा।

वर्तमान समय में मनोविज्ञान जिस दिशा में मुड़ चुका है और जो सामग्री उसके विषय के दायरे में आ चुकी है, उसको संक्षेप में क्रमशः प्रस्तुत किया जायेगा। विस्तार से वर्णन अन्य पुस्तकों में भरपूर उपलब्ध है। इस पुस्तक को इस आशय से लिखा गया है कि सामान्य लोग मनोविज्ञान को समझ सकें कि यह क्या है? भारत में मनोविज्ञान का कौन सा स्वरूप ग्रहण किया गया है, जिसको इसमें सम्मिलित किया जाय तथा राष्ट्रीय समस्याओं को पहचानने तथा उसके समाधान में कौन से तत्व प्रभावी भूमिका निभा सकते हैं।

प्रायोगिक मनोविज्ञान (Experiemental Psychology)

मनोविज्ञान को विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने में प्रायोगिक मनोविज्ञान की भूमिका महत्वपूर्ण रहीं है। वुण्ट और उनके सहयोगियों ने इसके लिए अथक श्रम किया और मनोविज्ञान को अदृश्य, अमूर्त और अनानुभाषिक तत्वों की तह से खींचकर इसे दृश्य, मूर्त और अनुभवगम्य बनाया। इसकी तीन विशेषतायें हैं जिसके आधार पर प्रायोगिक मनोविज्ञान को सिद्ध किया जाता है। प्रथम यह कि इसमें व्यवहार का अध्ययन प्रायोगिक रीति से किया जाता है। दूसरी कि इसमें उन्हीं मूलभूत व्यवहारों का अध्ययन होता है जिसको अधिकतर प्राणी करते हैं तथा तीसरी विशेषता यह है कि इसमें वैयक्तिक भिन्नता को महत्व नहीं दिया जाता।

आज, मनोविज्ञान के सभी क्षेत्रों में प्रयोग को महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इससे प्रामाणिक परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस मनोविज्ञान के अन्तर्गत जिन व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है उनमें निम्नलिखित व्यवहार सम्मिलित हैं –

- प्रत्यक्षीकरण (Perception)
- अधिगम् अथवा सीखना (Learning)
- स्मृति (memory)

- विस्मरण (Forgetting)
- अभिप्रेरण (Motivation)
- संवेग (Emotion)
- चिन्तन (Thinking)
- सम्प्रत्यय संप्राप्ति (Concept Formation)
- समस्या समाधान (Problem Solving)
- **भाषा** (Language)

इन अध्ययनों को इसमें इसलिए सम्मिलित किया गया है क्योंकि ये आधारीय व्यवहार हैं। प्रत्यक्षीकरण के अध्ययन द्वारा यह पता लगाया जाता है कि प्राणी जिस तरह वाह्य परिवेश से सूचनाएँ प्राप्त करते हैं। इस कार्य में ज्ञानेन्द्रियों की क्या भूमिका है तथा वाह्य परिवेश या परिवर्तन किस तरह हमारे मानसिक और शारीरिक परिवर्तन से जुड़ जाता है।

अधिगम और स्मृति, प्रायोगिक मनोविज्ञान की धुरी है। इसलिए इसका व्यापक क्षेत्र है। नये–नये अनुभव और अभ्यास किस तरह हमारे सीखने में मदद करते हैं। दण्ड एवं पुरस्कार की अधिगम में क्या भूमिका है। किस तरह पुरस्कार किसी सीखे जाने वाले व्यवहार को मजबूत करते हैं तथा दण्ड किस तरह से कार्य करता है, जिससे व्यवहार संशोधित होता है। सीखी हुई चीज किस तरह अन्तरित होती है। यह अधिगम के क्षेत्र में आता है। इसी से जुड़ा हुआ स्मरण प्रक्रम है। यदि अधिगमित व्यवहार, विशेष परिस्थिति में याद न आये अथवा भूल जाय तो ऐसी प्रक्रिया किस काम की होगी। इसलिए प्रायोगिक मनोवैज्ञानिकों ने स्मरण–विस्मरण प्रक्रम को प्रायोगिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत समाहित किया है। स्मरण–विस्मरण की क्या प्रक्रियायें हैं तथा कौन–कौन से ऐसे तत्व हैं जो इस प्रसंग में अपनी छाप छोड़ते हैं। किस अवस्था में स्मरण अधिक होता है तथा किन परिस्थितियों में सीखी तथा स्मरण की गई सामग्री भूल जाती है।

भाषा एवं चिन्तन भी संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि भाषा एक ऐसा विषय है जिसके आधार पर मानव एक दूसरे को जानता है तथा समझता है। अपनी बात को दूसरे तक पहुँचाता है। यह व्यवहार का सशक्त माध्यम है।

सम्प्रत्यय का अध्ययन भी प्रायोगिक मनोविज्ञान की विषय वस्तु है। जब मानव किसी के बारे में चिंतन करता है या सोचता है तो सोचने वाले के मस्तिष्क में एक चित्र उपस्थित होता है, जो प्रत्ययों एवं सम्प्रत्ययों के सहयोग से बनता है। सम्प्रत्यय अपने मूल रूप में प्रतीकात्मक होते हैं जो सिर्फ मूर्त चीजों में ही नहीं अमूर्त से भी

होते हैं। कुछ सामान्य लक्षणों, विशेषताओं, गुणों को गुच्छित कर उन्हें एक ही वर्ग में रखना और उसे एक सम्प्रत्यय का नाम देना, सम्प्रत्यय संप्राप्ति की प्रक्रिया में आता है।

मानव जीवन में अनेकों बार समस्यायें आती हैं तथा उनका स्वरूप भी अलग–अलग प्रकार का होता है। कुछ का प्रभावी तरीके से मानव समाधान कर देता है, तो कुछ के साथ समझौतापरक व्यवहार सम्पादित करता है तो

कुछ के आगे घुटने टेक देता है। इस कारक या तत्व को मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन में समाहित किया है तथा समस्या का कृत्रिम एवं उपस्थित कर समाधान की प्रकियाओं का अध्ययन किया है।

मानव, व्यवहार क्यों करता है? क्यों, बहुत तन्मयता से किसी कार्य, को करता है तथा कुछ व्यवहार के प्रति उदासीन रहता है। कहीं ना कहीं कोई ऐसी चीज होती है जो उसे सक्रिय करती है। इसी को अभिप्रेरण कहा जाता है। यह ऐसा कारक है जो संपूर्ण मनोवैज्ञानिक अध्ययनों को प्रभावित करता है। इसलिए अभिप्रेरण का प्रायोगिक अध्ययन आवश्यक जान मनोवैज्ञानिकों ने इसे इस शाखा में महत्व प्रदान किया है।

इस प्रकार, इस शाखा में सिर्फ उन्हीं अध्ययनों का चुनाव किया जाता है, जिनका प्रमुख लक्ष्य मूलभूत व्यवहारों का वर्णन, विश्लेषण, और व्याख्या करना होता है। यह विषय, मनोविज्ञान के लिए महत्वपूर्ण है। उपरोक्त वर्णित व्यवहारों का विस्तारपूर्वक वर्ग्रन प्राायोगिक मनोविज्ञान की पुस्तकों में उपलब्ध है, जिसका लाभ इसमें रूचि रखने वाले लोग ले सकते हैं।

असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology)

असामान्य मनोविज्ञान, मनोविज्ञान के अध्ययन–अध्यापन की आवश्यकता को अत्यधिक बल प्रदान करता है। यों तो इसका इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव स्वयं। मानसिक एवं व्यावहारिक विकृतियां मानव के साथ–साथ शुरू हो गयी होंगी। प्रारम्भ में इसको समझने में काफी परेशानियां रही होंगी क्योंकि शिक्षा का प्रचार–प्रसार कम था। कुछ का यह भी मानना था कि यह जादू–टोने के कारण है जो कुछ पूर्वजन्म में किये गये पाप–कर्मों का परिणाम हैं। कुछ इसे भूतप्रेत के कारण मानते हैं। आज भी कुछ समाजों में इसकी यही मान्यता है। इसलिए झाड़–फूँक, पूजा–अर्चना के माध्यम से इन भूत–प्रेत, जादू–टोना जैसे तत्वों को हटाने का प्रयास किया जाता था। कुछ, ऐसे व्यक्तियों को इतना पीटा जाता था कि वह बेहोश हो जाते थे तथा पीटने वालों का विश्वास था कि ऐसा करने से भूतप्रेत डर जायेगा और डरकर भाग जायेगा। लेकिन काफी समय पश्चात भी इससे कुछ लाभ नहीं मिला और ऐसे विकृत व्यक्तियों की संख्या में अनवरत वृद्धि होती रही। धीरे–धीरे कुछ विद्वान लोगों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ और यह विचार दिया गया कि मानसिक व्याधियां भूत–प्रेत के कारण नहीं अपितु सामान्य

रोगों की तरह ये भी एक प्रकार के रोग है और इनका भी उपचार होना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तकों में पीनेल प्रमुख हैं जिन्होंने इस दिशा में कठिन श्रम किया। उनके इस श्रम से रोगियों को काफी लाभ मिला तथा इस प्रवृत्ति के तरफ वैज्ञानिकों का ध्यान गया। इसके फलस्वरूप वैज्ञानिकों ने दो प्रकार के कारण बताये और अपने–अपने कारणों की प्रमुखता के कारण ये दो भागों में विभक्त हो गये। प्रथम भाग यह मानता था कि मानसिक विकृतियां शरीर में असंतुलन के कारण होती हैं अर्थात् यह शरीरजन्य है तथा दूसरा वर्ग, इसका कारण मन को ही मानता था अर्थात् ये विकृतियाँ मनोजन्य है। आज बहुत से मनोवैज्ञानिक इसके ही पक्ष में हैं कि मानसिक व्याधियां तभी उत्पन्न होती हैं जब मानसिक क्रियाओं का आपसी संगठन बिगड़ जाता है। इस पक्ष को मानने वालों में ...., जैनेट और फ्रायड प्रमुख हैं।

असामान्य मनोविज्ञान की प्रमुख समस्या यह है कि सामान्य क्या है? किसको सामान्य माना जांय तथा किये असामान्य माना जाय। कोई भी वह व्यवहार, जो सामान्य मापदण्डों के अनुकूल न हो तो उसे असामान्य मान लिया जाता है। ऐसी कोई विशेषता जो बहुमत में न हो, कुछ में हो तो वह भी असामान्य है। एक संस्कृति विशेष के लिए जो व्यवहार सामान्य है, वह दूसरी संस्कृति में पसन्द न किया जाता हो तो क्या वह व्यवहार असामान्य है? ऐसा व्यवहार जो मानव कल्याण के लिए है परन्तु उससे सामाजिक मानव क़े टूटने का गम है तो क्या यह असामान्य है इत्यादि प्रश्न असामान्य मनोविज्ञान के लिए एक समस्या पैदा करते हैं। फिर भी इतना तो तय है कि समाज विशेष के लिए जो सामाजिक नियम बने हैं और उससे समाज–कल्याण वास्तव में हो रहा है तो उसके विरूद्ध किया गया कार्य असामान्य है। व्यक्तिगत स्वार्थ या हित के लिए समूह की कुर्बानी नहीं दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त जो व्यवहार समाज के लिए घातक है और यदि यह स्वयं के लिए भी घातक हो जाता हो, वह व्यवहार असामान्य है।

फ्रायड ने बताया कि व्यक्तित्व के तीन पक्ष होते हैं – ईड, इगो और सुपरइगो। ये तीनों, तीन तरह की शक्तियों से संबद्ध है। ईदम् या ईड, का लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना होता है वह आनन्द किसी भी प्रकार से मिले, मिलना चाहिए। अहम् या इगों वास्तविकता की तरफ खींचने वाली शक्ति है और पराअहम् या सुपरइगो आदर्शवादी रास्ता चुनता है। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में वास्तविकता तथा आदर्शवादिता दोनों संघर्ष उत्पन्न करते हैं। इन तीनों प्रकार के शक्तियों में संतुलन के बजाय यदि असंतुलन अधिक होता है तो मानसिक विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं एवं चारित्रिक दोष भी देखने को मिलते हैं। यदि व्यक्ति में इदम् प्रधान हो गया तो मनोविक्षिप्तता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं तथा यदि सुपरइगों की प्रधानता उत्पन्न हो गई हो तो मनस्तापीय लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं तथा व्यक्ति में मानसिक विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं।

इस प्रकार यह भाग मानव के एक प्रमुख पक्ष का अध्ययन करता है। ऐसे अध्ययनों को असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत रखा गया है। इसके अन्तर्गत संविदा प्रत्यक्षीकरण की असामान्यता, मनःकायिक क्रियाओं,

ज्ञानात्मक, प्रेरणात्मक कियाओं की असामानता का अध्ययन किया जाता है। प्रमुख व्यावहारिक विक्रतियों में, मनोविक्षिप्तता (Psychosis) तंत्रिका–रोग (Neurosis) मनःकायिक व्याधि (Psychosomatic) चरित्र–व्याधि (Character desease) मानसिक अक्षमता (Mental deficiency) तथा सामाजिक विकृतियों में अपराध (Crime) मद्य–व्यसन (Alchoholism) प्रमुख हैं। इन विकृतियों तथा इससे जुड़े अन्य दोषों का अध्ययन भी इस शाखा के अन्तर्गत होता है। इनके स्वरूपों, लक्षणों, कारणों तथा उपचार पर व्यापक कार्य किया जाता है। इस प्रकार यह मनोविज्ञान बहुत ही उपयोगी है तथा वस्तुनिष्ठ विज्ञान कें रूप में विविध पक्षों जैविक (Biological) दैहिक (Physical) व्यावहारिक (Behavioural) मनोगत्यात्मक (psychodynamic) तथा सामाजिक–सांस्कृतिक (Socio, cultural) का उपयोग करता है।

संक्षिप्त रूप में कहा जाये तो यह क्षेत्र मानव के लिए बहुत उपयोगी है और सभी पढ़ने–लिखने वाले लोगों को इसका अध्ययन करना चाहिए। ऐसा करके वे भविष्य की कई कठिनाइयों से बच सकते हैं तथा अपने परिवार को भी इनसे मुक्त रख सकते हैं। यह मनोविज्ञान भारत में काफी लोकप्रिय हो रहा है तथा व्यावसायिक दृष्टि से भी इसका महत्व बढ़ता जा रहा है।

बाल–मनोविज्ञान (Child Psychology)

यों तो यह विज्ञान इतना व्यापक है कि इसके अन्तर्गत सभी मनोविज्ञान की शाखाएं समाहित हैं फिर भी सुविधा की दृष्टिकोण से उन शाखाओं का अलग विशिष्टीकरण किया गया है। इसकी व्यापकता का अंदाज आप इसी से लगा सकते हैं कि गर्भ स्थापित होने के साथ ही इसका अध्ययन शुरू हो जाता है तथा मृत्यु तक चलता रहता है अर्थात् मानव के जीवन काल के विकास–विनाश, उत्थान, पतन सभी का वैज्ञानिक अध्ययन इसमें सम्मिलित हैं। इसी दौरान वह बैठना सीखता हैं तथा अपनी छाप बनाता है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत प्राणी के जीवनकाल में होने वाले संपूर्ण शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के विकास का अध्ययन विकासात्मक दृष्टिकोण से किया जाता है।

मानव विकास के संदर्भ में कई प्रकार के विचार मनोवैज्ञानिकों के बीच मौजूद हैं और उन्हीं विचारों के परिप्रेक्ष्य में इनका अध्ययन किया जाता है। जेम्स का विचार है कि "नवजात शिशु के लिए संसार एक गरजती, भिनभिनाती अस्तव्यस्तता का ढ़ेर है जबकि गेस्टाल्टवादी मानते है कि ऐसा नहीं है वह अपने पास की सभी चीजों का अर्थ समझता है। धार्मिक विचारों के अनुसार बच्चा, भगवान का रूप होता है इसलिए वह निर्दोष और निष्पाप होता है। फ्रायड, इनमें भी काम भावना देखते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि बच्चे अपने विकास की पूर्ण रूप – रेखा आनुवांशिकता के द्वारा ही प्राप्त कर लेते हैं इसके विपरीत व्यवहारवादी बच्चे के विकास के लिए वातावरण का महत्व स्वीकार करते हैं। इस दिशा में मनोवैज्ञानिक कार्य कर रहे हैं। किस प्रकार बच्चों में सांवेदिक

विकास, गतिक विकास, क्रियात्मक विकास, व्यावहारिक विकास, बौद्धिक विकास होता है तथा कैसे बच्चे समाज में अपना समायोजन करते हैं। इस प्रकार बच्चों में विकृतियां उत्पन्न हो जाती है? इन सभी क्षेत्रों में गूढ़ शोध होते रहे हैं तथा हो रहे हैं। किस प्रकार एक बालक जीवन में सफल होता है? कैसे बच्चों में बुरी लत पड़ती है? किस प्रकार आप अपने बच्चे को उचित दिशा दे सकते हैं? आपके बच्चें में क्या क्षमता है? वह क्या–क्या कर सकता है? उसमें कितनी संभावना है? किस प्रकार वह टूट जाता है कैसे उसका व्यक्तित्व असंतुलित होता है इत्यादि प्रश्नों का उत्तर मनोवैज्ञानिक सफल तरीके से दे रहे हैं। इसकी व्यापकता के कारण ही इसे अब विकासात्मक मनोविज्ञान भी कहा जाने लगा है। इन सभी प्रकार के अध्ययनों में एक प्रमुख समस्या यह भी आती है कि बच्चे के व्यक्तित्व का विकास क्या वास्तव में आनुवांसिकता की ही देन होती है अथवा वातावरण का योगदान सर्वाधिक है क्योंकि बहुत से मनोवैज्ञानिक आनुवांशिकता के महत्व को अधिक मानते है। जबकि अन्य मनोवैज्ञानिक विशेषकर व्यवहारवादी व्यक्तित्व के विकास में वातावरण की अधिक भूमिका स्वीकार करते हैं तथा लक्ष्य प्रस्तुत करते हैं लेकिन अब एक बात स्पष्ट होने लगी है कि आनुवांशिकता और वातावरण अलग–अलग कुछ भी नहीं कर सकते।

जीवन के इस प्रसार में कई अवस्थाएँ गुजरती हैं जिसमें शिशुवस्था, बचपनावस्था (Babyhood) बाल्यावस्था (Childhood) वयःसंधि (Puberty) किशोरावस्था (Adolescence) युवावस्था (Adulthood) और बृद्धावस्था (Oldage) आती है। बच्चा धीरे–धीरे इन्हीं अवस्थाओं से गुजरते हुए दूसरी अवस्था में प्रविष्ट करता है। इस प्रकार का भी अब अध्ययन इसमें सम्मिलित हो गया है कि किस स्थिति में पुत्री का जन्म होता है। डेनमार्क में 12 वर्षों के गहन अध्ययन के पश्चात् यह निर्णय आया कि जब गर्भवती महिला गर्भावस्था में अत्यधिक तनावग्रसित रहती हो तो वह पुत्री को जन्म देती है, (विज्ञान एवं विकास कार्यक्रम बी.बी.सी. लन्दन सितम्बर 1999) अत्यधिक तनाव का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा शारीरिक रस किस प्रकार प्रभावित होते है। इस पर अभी अध्ययन चल रहा है।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण अवस्था किशोरावस्था की होती है जिसमें तेजी से शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन होते हैं यदि माँ–बाप इस स्थिति में बच्चों पर ध्यान नहीं देते तो किशोर/किशारियों को वैयक्तिक समस्यायें घेर लेती हैं और उसका समायोजन असंतुलित होने लगता है।इसी अवस्था में कैरियर का चुनाव भी आता है जिसमें तनिक भी लापरवाही संपूर्ण जीवन को अस्त–व्यस्त कर देती है। वैवाहिक जीवन भी उत्तर–किशोरावस्था या पूर्व युवावस्था से शुरू होने लगता है। इसलिए यह अवस्था बेहद महत्वपूर्ण होती है और अभिभावकों को अधिक से अधिक समय अपने बच्चों को देना चाहिए। इस प्रकार के अध्ययन मनोवैज्ञानिक कर रहे हैं और मनोविज्ञान ऐसे कार्यों में समृद्ध हो रहा है।

मध्यावस्था और वृद्धावस्था का अध्ययन भी इस विषय में किया जाता है। वृद्धावस्था में मानव की क्षमताओं का धीरे–धीरे ह्रास होने लगता है तथा उसके सामाजिक संबंधों तथा समायोजन की अनेकों समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं। लोग वृद्धों की बात को महत्व नहीं देते, नहीं उनकी आवश्यकता महसूस करते हैं। इससे उनके अन्दर

उदासीनता बढ़ती जाती है और सामाजिक कार्यों से ये कटते चले जाते हैं। घर में ही उनका तिरस्कार शुरू हो जाता है। उनको अपना समय काटना मुश्किल पड़ता है। ऐसे प्रकरणों को भी मनोवैज्ञानिक अपने अध्ययन की विषय–सामग्री बनाये हुये हैं तथा इस पर अध्ययन कर रहे हैं। उनका किस प्रकार से समाज में उपयोग किया जाय ताकि उनकी उपयोगी भूमिका सामने आ सके? ये अध्ययन का केन्द्र बिन्दु है।

समाज – मनोविज्ञान (Social Psychology)

मनोविज्ञान की प्रमुख शाखा के रूप में समाज मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाता है। प्रो. एल.बी. त्रिपाठी, 1993 ने बताया कि "सामाजिक मनोविज्ञान वह इन्द्रियानुभविक विज्ञान है जिसमें किसी व्यक्ति, समूह, समुदाय अथवा समाज के उन संज्ञानों और व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है जो प्रछन्न या प्रकट सामाजिक उद्देश्यों से उत्पन्न होते हैं, ताकि मानव व्यवहारों की जानकारी प्राप्त कर उन पर नियंत्रण और उनमें हस्तक्षेप कर परिवर्तन किया जा सके।"

इस भाग का अध्ययन भी सामाजिक उद्दीपन–मानव–सामाजिक अनुक्रिया के रूप में किया जाता है। पूरे सामाजिक तंत्र को कई दृष्टिकोणों से विभाजितकर उसका अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान के अंतर्गत किया जाता है। चूंकि व्यक्ति और अन्य कई लोग मिलकर एक समाज या समूह बनाते हैं, इसलिए इस परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति और समूह दोनों महत्वपूर्ण होते हैं। जब सिर्फ व्यक्ति का अध्ययन किया जाता है तो उसे व्यक्ति प्रक्रम (Individual Process) कहा जाता है और इसी शीर्षक के अंतर्गत व्यक्ति का अध्ययन होता है। इस प्रक्रम में प्रत्यक्षीकरण (Perception) गुणारोपण (Attribution) सामाजिक अभिप्रेरणा (SocialMotives) इत्यादित समाहित किया जाता है। जब व्यक्ति से आगे जाते हैं तो देखते हैं कि वहीं व्यक्ति, किसी दूसरे व्यक्ति से प्रभावित होता है तथा दूसरे को भी वह स्वतः प्रभावित करता है अर्थात् दोनों में अन्तरक्रिया होती है। इन अन्तरक्रिया वाले व्यवहार को भी इस शाखा में रखा जाता है।

जब व्यक्ति का सामाजिक संदर्भों में अध्ययन किया जाता है तो स्वाभाविक रूप से उन कारकों को भी अपने अध्ययन की सामग्री बनायी जाती है, जो उस व्यक्ति को प्रभावित करते हैं तथा व्यक्ति अपने व्यवहार का खुराक उससे प्राप्त करता है। ऐसे कारकों में समाज में प्रचलित रीति–रिवाज, मानक, सामाजिक मूल्य इत्यादि आते है। व्यक्ति अध्ययन के संदर्भ में व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण, आत्म–प्रत्यक्षीकरण, सामाजिक संज्ञान एवं सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का अध्ययन किया जाता है। यह एक सामान्य प्रक्रिया है। जब कोई भी सुखद या दुखद घटनायें घटती हैं तो मानव उसको देखकर उसके कारणों का पता लगाता है कि ऐसा क्यों हुआ? ऐसा क्यों हो रहा है। वे कारण कितने सही हैं तथा उन कारणों का आधार क्या है? इत्यादि प्रक्रिया का अध्ययन गुणारोपण ;।जजतपइनजपवदद्ध के अन्तर्गत किया जाता है। व्यक्तिगत प्रक्रमों में ही अभिवृत्तियों को भी सम्मिलित किया जाता है जो सामाजीकरण के कारण बनती हैं। इन्हीं अभिवृत्तियों के साथ वह समान उद्दीपकों के संदर्भ में व्यवहार करता है। कभी–कभी ये

अभिवृत्तियाँ, मानव को गलत परिणाम देती हैं जिससे उसे परेशानी का सामना करना पड़ता है। अतः अभिवृत्तियों में थोड़ा–बहुत परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। इसलिए यह विषय भी इसमें सम्मिलित है।

दूसरा, जब व्यक्ति किसी से प्रभावित होता है या किसी को प्रभावित करता है अर्थात् अन्तरक्रियात्मक स्वरूप विकसित होता है तो इसके परिणामस्वरूप अन्तवैयक्तिक प्रकियायें शुरू होती हैं जिसमें आकर्षक, आकामकता, परोपकार, हिंसा, पूर्वाग्रह, विभेदन तथा सहयोगात्मक एवं प्रतिस्पर्धात्मक व्यवहार प्रमुख हैं। इनका व्यापक अध्ययन समाज मनोवैज्ञानिकों ने किया है तथा कर रहे हैं।

इन व्यक्तिगत प्रकमों के अतिरिक्त समूह का अध्ययन भी इसका क्षेत्र हैं। यह सभी को मालूम है कि कुछ ऐसे व्यवहार भी होते हैं जो व्यक्ति, व्यक्तिगत स्तर पर तो नहीं करता है परन्तु वहीं व्यक्ति, समूह में कर डालता है। इसके अलावा, समान उद्देश्यों की प्राप्ति, या समान विचारधारा वाले लोगों का ध्रुवीकरण अपने आप या जानबूझकर किया जाता है। समूह, दूसरे समूहों से अन्तकिया करते हैं। इससे वे प्रभावित होते हैं तथा प्रभावित करते हैं। इस प्रकार सामूहिक प्रकिया का अध्ययन भी एक प्रमुख अंग के रूप में सामाजिक मनोविज्ञान में सम्मिलित किया गया है। इस सामूहिक प्रकिया के अंतर्गत जिन शीर्षकों का अध्ययन किया जाता है उनमें समूह का स्वरूप, समूह के प्रकार, समूह के मानक, समरूपता, आज्ञाकारिता, नेतृत्व, सामाजिक विनिमय, समूह द्वन्द्व, जनमत, लोकसंचार, समूह निष्पादन एवं समूह प्रभाव प्रमुख हैं।

सामाजिकीकरण, इस शाखा का एक अभिन्न अंग है। इसी से व्यक्तित्व विकसित होता है। सामाजिकीकरण की प्रक्रिया एक संस्कृति विशेष में चलती रहती है, इसलिए सांस्कृतिक विविधता तथ उसके विधि प्रभावों का भी अध्ययन किया जाता है।

समाज मनोविज्ञान की अध्ययन सामग्री ऐसी है कि उसका उपयोग समाजशास्त्री भी करते हैं तथा इसे अपनी शाखा मानते हैं। नृ–विज्ञानी भी इसका उपयोग करते हैं तथा नृ–विज्ञान से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध देखते हैं। समाज–शास्त्रियों और समाज मनोवैज्ञानिकों के बीच इसी बात को लेकर काफी विरोध चलता रहा कि यह उनके विषय की अध्ययन सामग्री है। जबकि ध्यानसे यदि समझा जाय तो दोनों के अध्ययन उपागमों में काफी भिन्नता है। जहॉ समाजशास्त्री, समाज के तानों–बानों पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित करता है वहॉ मनोवैज्ञानिक उन तानों–बानों के स्त्रोत तथा उनके द्वारा उत्पन्न अन्तः क्रियात्मक प्रभाव पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित करता है। इसके लिए वह जैविक, अधिगम, संज्ञानात्मक, मनोविश्लेषणात्मक, जैसे उपागमों का प्रयोग करता है। उसका ध्यान सामाजिक किया के वैज्ञानिक अध्ययन की तरफ ज्यादे था बाद में वह उसके व्यावहारिक पक्ष पर अधिक ध्यान देने लगा। एक फ्रांसीसी विद्वान (मौस, 1924) ने मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में अकाट्य संबंध और उभयनिष्ठ क्षेत्र सिद्ध किया। इसके परिणामस्वरूप दोनों विज्ञान अपने–अपने उपागम का प्रयोग इसके अध्ययन के लिए करने लगे।

आज समाज मनोविज्ञान, सिर्फ सैद्धान्तिक पक्ष तक सीमित न रहकर समाज में उत्पन्न होने वाली अनेकों प्रकार की समस्याओं की खोज करता है तथा उसके समाधान की योजना को भी प्रस्तावित करता है। इसलिए अब समाज मनोविज्ञान के अंतर्गत या इससे स्वतंत्र होकर एक नये मनोविज्ञान का सृजन इसी संदर्भ में हुआ है जिसे व्यावहारिक समाज मनोविज्ञान या अनुप्रयोगात्मक सामाजिक मनोविज्ञान (Applied Social psychology) कहा जाता है। इस क्षेत्रमें देश के विकास तथा उसमें निहित सामाजिक प्रक्रमों तथा विकास के कारण उत्पन्न सामाजिक समस्याएं, सम्मिलित की जाती हैं। जातिवाद, आतंकवाद, हिंसा की बढ़ती प्रवृत्ति, दहेज की विभीषिका, साम्प्रदायिक दगें, ऊर्जा का दुरूपयोग, संरक्षण, युवा आक्रोश, सामाजिक मूल्यों का ह्रास, वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी प्रभाव से उत्पन्न समस्यायें इसके दायरे में आती हैं। ग्रामीण समस्या तथा ग्रामीण परिवर्तन संबंधी प्रक्रियायें भी अब इसकी सीमा में आ रही हैं किन्तु उम्मीद की जानी चाहिए कि निकट भविष्य में "भारतीय ग्रामीण मनोविज्ञान" अपना अलग स्थान बना सकेगा क्योंकि बहुत से मनोवैज्ञानिक अब ग्रामीण समस्याओं की तरफ झुक रहे हैं।

निःसन्देह यह क्षेत्र व्यापक है इसकी व्यापकता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। तीव्र परिवर्तन तथा सिकुड़ती दुनिया के कारण एक क्षेत्र दूसरे को प्रभावित कर रहा है। आपसी दूरियां कम हो रही हैं। 'सात समुद्र' का सम्प्रत्य पुराना पड़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में इस क्षेत्र की महत्ता स्वयं सिद्ध होती है। धीरे–धीरे इसका दायरा इतना बढ़ जायगा कि यह एक स्वतंत्र विषय का रूप ग्रहण कर लेगा।

शिक्षा – मनोविज्ञान (Education Psychology)

इस शाखा के अंतर्गत, बालकों (शिक्षार्थी) की क्षमता तथा शिक्षण का भार, रूचि एवं शैक्षणिक क्षेत्र, पाठशाला का स्वरूप, पाठशाला का अनुशासन, पाठशाला का वातावरण, शिक्षक क्षमता एवं शिक्षकों की रूचि, शिक्षक कृत्य संतोष, अभिभावक स्तर, सहयोग एवं रूचि, परीक्षा पद्धति, एवं पाठ्यक्रम निर्धारण इत्यादि को सम्मिलित कर अध्ययन किया जाता है। शिक्षा का क्या उद्देश्य हो? किस प्रकार शिक्षार्थी अच्छी तरह से उसे ग्रहण कर सकें? सीखने की प्रक्रिया को कैसे आसान बनाया जाय तथा शिक्षार्थी उसे किस तरह अधिकाधिक स्मरण करें? इस पर विशेष बल दिया जाता है।

शिक्षा–मनोविज्ञानी, बच्चों की क्षमताओं का परीक्षणकर उसे अधिकतम योग्य बनाने की कोशिश करता है। इस प्रकार इस क्षेत्र में अधिगम प्रक्रियाओं के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष का अन्वेषण प्रमुख होता है।

औद्योगिक मनोविज्ञान (Industrial Psychology)

यह मनोविज्ञान का व्यावहारिक पक्ष है जो उद्योग जगत में कुशलता लाने के लिए श्रमिक तथा श्रम–क़ार्य का वातावरण इत्यादि के बीच उचित समायोजन स्थापित कराने का कार्य करता है। आज उद्योग जगत की विशालता इतनी बढ़ती जा रही है कि इसका एक अलग किन्तु आवश्यक क्षेत्र बन गया है। यह आर्थिक विकास की रीढ़ है। उद्योग जगत में उद्योगपति पूॅजी लगाता है तथा अधिकांश पूॅजीपतियों की मानसिकता यह होती है कि लागत की तुलना में आय अधिक हो। उद्योग का आशय यह है कि व्यक्ति उससे स्वतः आर्थिक लाभ प्राप्त कर उसके, यश प्राप्त करे, कुछ लोगों को जीविका दे सके, तथा देश की समृद्धता में वृद्धिं कर सके। लेकिन कुछ उद्योगपतियों की मानसिकता इससे भिन्न होती है। वे कम लागत में अधिकाधिक लाभ की आशा करते हैं भले ही श्रमिक का शोषण हो या उत्पादन व सामग्री की गुणवत्ता में गिरावट आये। इस मानसिकता के चलते, कारखानों में अशान्ति ।र असंतुष्टि की स्थिति देखी जा सकती है। आये दिन वहॉ हड़ताल होती रहती है। इस परिस्थिति का उद्योग–मनोविज्ञान गहराई से अध्ययन करता है तथा वहॉ मानवीय कारकों को महत्व देता है। किस प्रकार मानवीय तत्व वहॉ स्थापित हों, श्रमिकों को शोषण की कम से कम अनुभूति हो, उनके परिवार को अच्छा वातावरण मिले, श्रमिक कल्याण की बातें अधिक हों, उत्पादकता में वृद्धि किस प्रकार की जाय, उसकी गुणवत्ता कैसे बनी रहे? उद्योग मनोविज्ञान की यही विषयवस्तु है। प्रबन्धन की कुशलता पर ही ये सभी बातें निर्भर होती हैं। इसलिए आजकल व्यावसायिक प्रबन्धन का मनोविज्ञान भी इसी क्षेत्र में आ गया है। उद्योग जगत की सफलता विशेषकर तीन तत्वों पर निर्भर करती है, कर्मचारी, उद्योगपति और उपभोक्ता। यदि यह जानना हो कि कौन सा उद्योग अत्यधिक सफलता की ओर अग्रसर है तो तीन प्रश्न उपस्थित कीजिए –

कर्मचारी वहॉ संतुष्ट है या नहीं?

उपभोक्ता, सामान खरीदकर संतुष्ट है या नहीं?

उद्योगपति, उद्योग लगाकर संतुष्ट है या नहीं?

यदि किसी भी प्रश्न का उत्तर 'ना' में आता है तो समझ लीजिए कि उद्योग, असफलता की तरफ बढ़ रहा है। इसलिए इन तीनों कारकों का सम्मिलित सकारात्मक प्रभाव उद्योग की सफलता–असफलता को प्रभावित करता है। इनका अध्ययन उद्योग मनोवैज्ञानिक करते हैं। इसके अलावा औद्योगिक–संगठन में प्रशिक्षण, अधिगम, अभिप्रेरण, मनोबल, का निष्पादन के संदर्भ में अध्ययन किया जाता है। इस क्षेत्र में इस बात पर भी ध्यान दिया जाता है कि कारखाने के वातावरण को किस प्रकार रखा जाय जिससे उत्पादकता में वृद्धि हों अनावश्यक थकावट का अनुभव न हो, मशीन की संरचना तथा उसकी प्रौद्योगिकी क्या हो जिससे कम से कम दुर्घटना हो तथा दुर्घटना की सम्भावना न्यूनतम हो। किस तरह उत्पादन को आकर्षक बनाया जाय जिससे मॉग में वृद्धि हो।

परामर्श मनोविज्ञान–(Counselling Psychology)

परामर्श मनोविज्ञान, यो तो मनोविज्ञान का वास्तविक व्यावहारिक स्वरूप है फिर भी इसके क्षेत्र में इसे अलग से स्थान दिया गया है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति की साधारण समस्याओं के संबंध में सलाह दी जाती है। मनोवैज्ञानिक, परामर्शदाता के रूप में कार्य करता है तथा इस प्रकार सलाह देता है कि परामर्श लेने वाला अपनी शिक्षा, व्यवसाय, पारिवारिक संबंध आदि से संबंधित समस्याओं को समझ सके तथा उनका सामना कर सके।

आजकल परामर्श का क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है कारण कि अधिकतर व्यक्ति समस्याओं में उलझ जाता है तथा काफी परेशान हो जाता है। जब से भारत में शिक्षा का स्वरूप बदला है, छात्रअधिक ही परेशान होने लगे हैं। उन्हें अपने कैरियर की चिन्ता सताने लगती है। रोजगार के सीमित अवसर एवं जनसंख्या में अनवरत वृद्धि, शिक्षित बेरोजगारों में बेतहाशा वृद्धि छात्रों में चिन्ता उत्पन्न कर रही है। बढ़ती भौतिकता एवं आधुनिकता के चलते पारिवारिक संबंधों में तनाव, बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में इस मनोविज्ञान की भूमिका अधिक बढ़ जाती है। अत्यधिक खुलापन के चलते सेक्स शिक्षा की जरूरत है तथा विवाहपूर्ण एवं विवाह पश्चात् परामर्श की जरूरत बढ़ती जा रही है।

इसकी आवश्यकता के चलते परामर्श मनोविज्ञान भारत में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करने की दिशा में अग्रसर है।

नैदानिक – मनोविज्ञान (Clinical Psychology)

नैदानिक मनोविज्ञान के अंतर्गत मानवीय समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। किसी चिकित्सालय में जब मानसिक समस्याओं का रोग–निरूपण तथा उपचार किया जाता है तो यह कार्य नैदानिक मनोविज्ञान का कार्य कहा जा सकता है। बोलमैन ने बताया कि मनोविज्ञान के विभिन्न स्रोतों से प्राप्त प्रदत्त एवं निष्कर्षों का उपयोग करके मानव की व्यवहार समस्याओं एवं मानसिक रोगों के निदान करने वाला विज्ञान ही नैदानिक मनोविज्ञान कहलाता है।

यह क्षेत्र अब व्यावसायिक रूप भी ग्रहण कर चुका है। इसमें व्यक्ति के सामान्य जीवन की समस्याओं का, उनके समायोजन हेतु गहन प्रेक्षण, विश्लेषण, निदान तथा समुचित उपचार किया जाता है। नैदानिक मनोवैज्ञानिक इस क्षेत्र में जो कार्य करता है उसका वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

- निदान गृहों, चिकित्सालयों, बन्दी गृहों में मानसिक तथा संवेगात्मक विकारों का निदान करना।
- रोगियों के व्यवहार पर हर दृष्टिकोण से निरीक्षण एवं अध्ययन करना।

इस प्रकार यह शाखा, मनोविज्ञान का वास्तविक उपयोग करती है तथा ऐसे रोगियों का सफलतापूर्वक उपचार करता है जो किसी भी कारण से मानसिक रूप से उद्विग्न रहते हैं। मानव में यह कमजोरी पाई जाती है कि वह छोटी से छोटी समस्या से परेशान हो जाता है तथा व्यवहार संबंधी दोष उसमें उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कभी यह भी देखने में आता है कि मानव अकारण परेशान हो जाता है। ऐसी स्थिति में नैदानिक मनोविज्ञान की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। आज के युग में जहॉ भौतिकता अपने चरम सीमा पर पहुॅच चुकी है संस्कृति विशेष के लोग भौतिकता का आनन्द तो लेना चाहते हैं परन्तु उनकी संस्कृति उन्हें स्वतंत्र रूप से इसकी अनुमति नहीं देती है। ऐसे में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है। मानव परेशान हो उठता है। नैदानिक मनोविज्ञान न ऐसे लोगों की सहायता करता है तथा वरण वास्तविकता से उनका साक्षात्कार कराता है।

मनोमिती (Psychometry)

यह मनोविज्ञान की वह शाखा है जिसमें मनोवैज्ञानिक समस्याओं और विशेषतया मानसिक परीक्षण में मापन एवं गणित का उपयोग होता है। परीक्षण के उपरान्त जो प्रदत्त प्राप्त होते हैं, उनका विश्लेषण कर समस्याओं का निदान किया जाता है। समाज–विज्ञान और विशेषकर मनोविज्ञान जो मानव तथा समाज का अध्ययन करता है उसमें विचलन अधिक पाया जाता है क्योंकि मानव स्वभाव का स्वरूप ही ऐसा होता है। मनोमिती, इस विचलन को समझने का प्रयास करता है तथा वस्तुनिष्ठता बढ़ाने में सहयोग करता है। मनोविज्ञान की इस शाखा ने मनोविज्ञान को एक शुद्ध विज्ञान बनाने में काफी सहायता की है। इसके अन्तर्गत मानसिक योग्यताओं तथा विशेषताओं का मापन कियाजाता है जिससे व्यक्ति की क्षमता का पता चलता है तथा इस क्षमता का मापनकर व्यक्ति के समायोजन का मार्ग प्रशस्त करता है। वास्तव में इस शाखा ने एक क्रान्तिकारी कार्य किया। व्यवहार जैसे लचीले कारक की माप करना, मनोविज्ञान की निश्चित ही उपलब्धि कही जा सकती है। इसी से सम्बन्धित शोध–प्रविधि भी है। मापन के क्षेत्र की उपलब्धि ने मनोवैज्ञानिकों को उत्साहित किया तथा बाद में इन्होंने मनोविज्ञान के अध्ययन में प्रयुक्त होने वाली तकनीकी को विकसित किया। आज मनोविज्ञान में जो शोध–अभिकल्प तथा प्रदत्तों का विश्लेषण मनोविज्ञान को शुद्ध विज्ञान बना दिया है जहॉ संदेह की गुंजाइश नहीं रहती। हालॉकि व्यवहार की प्रसरणशीलता अधिक होती है फिर भी मापन ने काफी हद तक इसका समाधान किया है।

आज मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यक्तित्व, योग्यता, अभिक्षमता, अभिरूचि, अभिप्रेरणा, मनोवृत्ति, भाषा, समायोजन एवं ऐसे ही अन्य मानवीय कारकों को कुशलतापूर्वक मापने के लिए विश्वसनीय (Reliable) एवं वैध (Valid) परीक्षणों का प्रयोग एवं निर्माण हो रहा है। मनोवैज्ञानिक अब इस स्थिति में आ गये हैं कि वे मानव के व्यवहार से संबंधित मानसिक तत्वों को मापने के लिए किसी भी समय परीक्षण या मापन का निर्माण कर सकते हैं, व्यवहार का मापन कर सकते हैं, विश्लेषण कर सकते हैं तथा भविष्यवाणी कर सकते हैं।

शरीरकिया – मनोविज्ञान (Physiological Psychology)

प्लेटिग ने शरीर क्रिया–मनोविज्ञान को ऐसा मनोविज्ञान कहा जो शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन करता है तथा सिद्धान्त की रचना करना है। इसे दैहिक–मनोविज्ञान भी कहा जाता है। दैहिक मनोविज्ञान यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि मानव मस्तिष्क के लगभग पॉच अरब कोशों और पूरे शरीर में फैले हुए उनके असंख्य संबंधों के द्वारा किस प्रकार विविध प्रकारों के व्यवहार घटित होते हैं। यह ऐसा क्षेत्र है जो व्यवहार के घटित होने के शारीरिक आधार को खोजता है। ग्राहक कोश (Receptors) तंत्रिका–तंत्र (Nervous system) मांसपेशी (Muscles)] ग्रंथि (gland) इत्यादि की क्रियाओं एवं व्यवहार प्राकट्य में इनकी भूमिका का वर्णन दैहिक मनोविज्ञान करता है। शरीर की रचना के साथ आन्तरिक अंगों की क्रिया का वर्णन कर मनोविज्ञान ने मानव के वैज्ञानिक अध्ययन का पूरा प्रयास किया है। किसी भी व्यवहार के घटित होने में शरीर आधार का कार्य करती है जिसमें आनुवंशिकता का योगदान होता है।

वास्तव में दैहिक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान और शरीरकिया विज्ञान के बीच एक सेतु का कार्य करता है। शरीरकिया मनोविज्ञान से ही आधुनिक प्रायोगिक मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है।

इस प्रकार यह शाखा, मनोविज्ञान के लिए काफी उपयोगी है और बिना दैहिक मनोविज्ञान के अध्ययन के मनोविज्ञान का संपूर्ण तथा प्रभावी अध्ययन संभव नहीं है। कुछ समय पूर्व तथा कहीं–कहीं आज भी शरीर को आध्यात्मिक पुट देकर इसके अध्ययन में बाधाएं डाली जाती है। जिससे मानव को कभी–कभी गंभीर संकट का सामना करना पड़ता है।

अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान (Applied Psychology)

सामान्य मनोविज्ञान जहॉ मूलभूत सिद्धांतों और नियमों के निरूपण में विशेष ध्यान देता है, वहॉ व्यावहारिक मनोविज्ञान, सामान्य मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों और नियमों का जीवन के विविधि क्षेत्रों में अनुप्रयोग करता है। यह क्षेत्र इतना लोकप्रिय हो रहा है कि इसकी लोकप्रियता को देखते हुए अमरीकी मनोविज्ञान संघ के अधिकतर सदस्य विधि उद्योगों, चिकित्सालयों, स्कूलों सुधार संस्थाओं, पुनर्स्थापन केन्द्रों अथवा सरकारी प्रतिष्ठानों के तरफ उन्मुख हुयें हैं तथा इसी दिशा में कार्य कर रहे हैं। वैसे तो यह कोई नया क्षेत्र नहीं है क्योंकि मनोविज्ञान का आशय शुरू से ही गूढ़ तथ्यों की खोज से था। किन्तु धीरे–धीरे मनोविज्ञान की परिपक्वता के साथ यह अनुभव किया जाने लगा कि अब इसका व्यावहारिक स्वरूप उभारा जाय और इसी अनुभव के कारण सामान्य मनोविज्ञान की विषयवस्तु को ही व्यावहारिक स्वरूप देकर उसका प्रयोग जीवन के विविध क्षेत्रों में होने लगा। वास्तव में विषय की उपयोगिता तभी सार्थक होती है जब वह व्यावहारिक स्वरूप का हो।

अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान, उद्योग एवं व्यवसाय, नैदानिक क्षेत्र, शिक्षा, अपराध तथा बाल अपराध एवं सामाजिक क्षेत्र की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में काफी महत्वपूर्ण साबित हुआ है। आज समाज की समस्याओं का अधिकतर प्रतिशत मनादैहिक है और मनोवैज्ञानिक तरीके से ही उनका समाधान संभव है। विशेष कर उस समाज के लिए यह और प्रभावी है जो पहली दुनिया का है तथा तीसरे दुनिया के मध्यम एवं उच्च समाज के लिए भी यह कारगर है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत उपरोक्त सभी विषय सम्मिलित किए गये हैं जो मानवोपयोगी हैं। इसकी विवेचना यदि की जाय तो यह स्पष्ट होगा कि मनोविज्ञान मानव के सभी पहलुओं का अध्ययन करता है। इसका विस्तार गर्भाधान (Conception) से लेकर मृत्यु तक है। समस्त मानवीय क्रियायें इसमें सम्मिलित हैं। एक तरफ बाल–मनोविज्ञान अथवा विकासात्मक मनोविज्ञान गर्भाधान की क्रियाओं, विकास से अपना अध्ययन शुरू करता है वहीं प्रत्येक अवस्था में होने वाले परिवर्तनों एवं विकास पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करता है। किस प्रकार मानव शरीर एक स्थायी व्यक्तित्व के रूप में स्थापित होता है? यह विकासात्मक मनोविज्ञान का अहम् विषय है। अनुप्रयुक्त सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति एवं समाज का अध्ययन करता है वहीं असामान्य एवं नैदानिक मनोविज्ञान मानवीय व्यावहारिक विकृति को अपना विषय बनाता है। समस्या से ग्रसित व्यक्ति का निदान एवं उपचार करके यह विषय मानव कल्याण का कार्य भी करता है। आज उद्योग के लिए भी इसने अपनी आवश्यकता का पहचान करा दिया है। जहॉ उद्योग जगत में शोषक और शोषित का सम्प्रत्यय बड़ी तेजी से उमड़ा था और यही बहस का तथा परेशानी का मुद्दा होता था, यहॉ मानवीय कारक अपना प्रमुख स्थान बनाता जा रहा है। उद्योग जगत के नाम पर जहॉ घृणा का भाव जगता था वहॉ आज आकर्षण का भाव आप आसानी से देख सकते हैं। परामर्श मनोविज्ञान ने अब कैरियर चयन के क्षेत्र में बीड़ा उठाया है, पारिवारिक तनाव को कम करने का लक्ष्य बनाया है। उम्मीद की जानी चाहिए कि आने वाले समय में यह विषय मानव कल्याण के लिए 'मील का पत्थर' साबित होगा। इसी मनोविज्ञान को भारत में भी पढ़ा तथा पढ़ाया जाता है।

असामान्य मनोविज्ञान–एक परिचय (ABNORMAL PSYCHOLOGY-AN INTRODUCTION)

असामान्य मनोविज्ञान को परिभाषित करें तथा असामान्य मनोविज्ञान के महत्व को स्पष्ट करें।

किसी भी विज्ञान अथवा शास्त्र के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व आवश्यक होता है कि उस विज्ञान अथवा शास्त्र की एक समुचित परिभाषा निर्धारित कर ली जाये। परिभाषा के निर्धारण से शास्त्र अथवा विज्ञान के अध्ययन की सीमायें निश्चित हो जाती है। निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत अध्ययन करना सरल होता है। साथ ही सीमित क्षेत्र का अध्ययन अपेक्षाकृत अधिक व्यस्थित एवं शुद्ध भी होता है। किसी भी विज्ञान की परिभाषा के निर्धारण के लिये मुख्य रूप से यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि निर्धारित परिभाषा द्वारा सम्बन्धित विज्ञान का पूर्ण अर्थ एवं क्षेत्र स्पष्ट हो जाये। परिभाषा की भाषा सरल एवं सामान्य बुद्धि द्वारा समझने योग्य होनी चाहिये।

(i) असामान्य मनोविज्ञान का अर्थ एवं परिभाषा

प्राथमिक रूप से यह कहा जा सकता है कि असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal psychology) मनोविज्ञान की एक शाखा है। हम जानते हैं कि मनोविज्ञान व्यवहार का अध्ययन करने वाला एक विधायक विज्ञान है। इसके उपरान्त हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान की जिस शाखा के अन्तर्गत व्यक्ति के असामान्य व्यवहार (Abnormal Behaviour) का अध्ययन किया जाता है, उसे असामान्य मनोविज्ञान कहते हैं। सामान्य से भिन्न प्रकार के व्यवहार को असामान्य व्यवहार कहते हैं। असामान्य मनोविज्ञान की विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं–

(1) आइजनेक द्वारा परिभाषा – अइजनेक ने असामान्य मनोविज्ञान की एक संक्षिप्त तथा सरल परिभाषा इन शब्दों में प्रस्तुत की है, " **असामान्य, मनोविज्ञान असामान्य व्यक्तित्व के असामान्य व्यवहार का अध्ययन है।**"[1]

(2) रोजेन द्वारा परिभाषा – रोजेन तथा उसके साथियों ने असामान्य मनोविज्ञान को मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार " **असामान्य, मनोविज्ञान में सामान्य मनोविज्ञान की विधियों, प्रयत्न, नियमों और खोजों, विशेष रूप से प्रत्यक्षीकरण, अधिगम, विकास और समाज मनोविज्ञान से सम्बन्धित खोजों का उपयोग विचलित व्यवहार और अनुभवों में किया जाता है।**"

(3) जेम्स ड्रेवर द्वारा परिभाषा – जेम्स ड्रेवर ने असामान्य व्यवहार का अध्ययन करने वाली मनोविज्ञान की शाखा को असामान्य मनोविज्ञान बताया है। उनके शब्दों में, " **असामान्य, मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की वह शाखा है, जिसमें व्यवहार या मानसिक घटना की विषमता का अध्ययन किया जाता है।**"[2]

(4) कोलमैन द्वारा परिभाषा – कोलमैन ने भी असामान्य व्यवहार के मनोवैज्ञानिक अध्ययन को असामान्य मनोविज्ञान माना है। उनके शब्दों में, " **असामान्य, मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की वह क्षेत्र है जिसमें विशेष रूप से मनोविज्ञान के नियमों के समन्वय और विकास का अध्ययन असामान्य व्यवहार को समझने के लिये किया जाता है।**"[3]

उपरोक्त वर्णित परिभाषाओं के विवेचन द्वारा असामान्य मनोविज्ञान का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि असामान्य मनोविज्ञान वास्तव में मनोविज्ञान की एक शाखा है। मनोविज्ञान की इस शाखा के अन्तर्गत व्यवहार के असामान्य रूपों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। असामान्य मनोविज्ञान व्यक्ति के असामान्य व्यवहार के कारणों, प्रकारों एवं उपचार के उपायों का वैज्ञानिक अध्ययन है। असामान्य मनोविज्ञान असामान्य एक व्यावहारिक एवं उपयोगी विज्ञान है।

(ii) असामान्य मनोविज्ञान का महत्व

असामान्य मनोविज्ञान के अर्थ एवं परिभाषा सम्बन्धी उपरोक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि यह मनोविज्ञान की वह शाखा है जो व्यवहार के असामान्य रूपों का अध्ययन करती है। वास्तव में व्यक्ति कभी न कभी, किसी न किसी रूप में असामान्य व्यवहार अवश्य ही किया करता है तथा उसके असामान्य व्यवहार का उसके व्यक्तित्व पर भी गम्भीर प्रभाव पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि असामान्य व्यवहार का विधिवत् अध्ययन किया जाना नितान्त आवश्यक है। असामान्य व्यवहार का सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से जीवन के विभिन्न पक्षों एवं क्षेत्रों से होता है, अतः कहा जा सकता है कि असामान्य मनोविज्ञान का महत्व जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होता है। असामान्य मनोविज्ञान के महत्व को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) **व्यक्तिगत समस्याओं को समझने में सहायक** –आधुनिक युग में अनेक प्रकार की व्यक्तिगत समस्यायें प्रबल रूप में सामने आ रही हैं। कुछ व्यक्तिगत समस्यायें असामान्य व्यवहार के कारण उत्पन्न होती है तथा कुछ व्यक्तिगत समस्याओं के कारण व्यवहार में असामान्यता उत्पन्न होने लगती है। दोनों ही स्थितियों में असामान्य मनोविज्ञान के ज्ञान से लाभान्वित हुआ जा सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि असामान्य मनोविज्ञान व्यक्तिगत समस्याओं को समझने में सहायक सिद्ध होता है।

(2) **मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में महत्व** –शारीरिक स्वास्थ्य के ही समान मानसिक स्वास्थ्य का भी विशिष्ट महत्व है। असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत मानसिक स्वास्थ्य के प्रायः सभी पक्षों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। असामान्य मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य के लक्षणों, मानसिक अस्वस्थता के कारणों एवं उपचार आदि का अध्ययन करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि असामान्य मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(3) **अन्य व्यक्तियों को समझने में सहायक** –आधुनिक युग में व्यक्ति का सामाजिक सम्पर्क का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है तथा व्यक्तिको हर समय अनेक व्यक्तियों के सम्बन्ध बनाने पड़ते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति के लिये आवश्यक है वह अन्य व्यक्तियों को समझने की योग्यता रखता हो। असामान्य मनोविज्ञान का ज्ञान अन्य व्यक्तियों को समझने में सहायक होता है।

(4) **शिक्षा के क्षेत्र में महत्व**–शिक्षा के क्षेत्र में भी असामान्य मनोविज्ञान का विशेष महत्व है। ऐसा देखने में आता है कि विद्यालयों में कुछ विद्यार्थी असामान्य होते हैं। इस प्रकार के असामान्य व्यवहार वाले विद्यार्थी शिक्षण की सामान्य प्रक्रिया को पूरा नहीं कर पाते तथा मानसिक रूप से पिछड़े रहते हैं, इन विद्याथियों के समुचित विकास के

लिये कुछ प्रयास करने पड़ते हैं। असामान्य मनोविज्ञान के अध्ययन से इस प्रकार की समस्याओं के समाधान में विशेष सहायता मिलती है।

(5) **समाज सुधार के क्षेत्र में महत्व**– प्रत्येंक समाज चाहता है कि अपराधों एवं बाल अपराधों की अधिक से अधिक रोकथाम हो। असामान्य मनोविज्ञान का ज्ञान अपराधों की रोकथाम में सहायक होता है। आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार बहुत से अपराधी असामान्य व्यक्तित्व वाले होते हैं अतः यदि उनकी असामान्यता के कारण को ज्ञात करके उपचार किया जाये तो वे अपराधी प्रवृत्ति को भी छोड़ सकते हैं।

(6) **उपचार के क्षेत्र में महत्व**–विभिन्न मानसिक रोगों के उपचार में भी असामान्य मनोविज्ञान का ज्ञान सहायक होता है। असामान्य मनोविज्ञान ही हमें विभिन्न मानसिक रोगों के कारणों, लक्षणों एवं बचाने के उपयों का ज्ञान प्रदान करता है। इस ज्ञान के आधार पर मानसिक रोगों का उपचार भी किया जाता है।

(7) **धर्म के क्षेत्र में महत्व**–धर्म के क्षेत्र में अनेक अन्धविश्वासों का बोलबाला हुआ करता था। कुछ धार्मिक विश्वासों के अनुसार विभिन्न मानसिक रोगों को देवी या आसुरी प्रकोपों के कारण माना जाता था तथा इस प्रकार के मानसिक रोगियों को पुरोहितों या ओझों द्वारा कठोर यातनायें दी जाती थीं। असामान्य मनोविज्ञान के वैज्ञानिक ज्ञान ने इन धार्मिक अन्धविश्वासों को असत्य सिद्ध कर दिया है तथा मानसिक रोगों के मनोवैज्ञानिक उपचार खोज लिये हैं। असामान्य मनोविज्ञान का यह योगदान विशेष महत्वपूर्ण है।

(8) **कानून के क्षेत्र में महत्व** –कानून के क्षेत्र में भी असामान्य मनोविज्ञान का पर्याप्त महत्व है। कानून का उद्देश्य समाज में व्यवस्था बनाये रखना तथा अपराधियों को दण्ड देना है। असामान्य मनोविज्ञान वास्तविक अपराधियों की पहचान में सहायक होता है तथा उचित न्याय के निर्धारण में भी सहायक होता है।

(9) **युद्धों की रोकथाम एवं विश्व–शन्ति में सहायक**–आज प्रत्येक विवेकशील एवं सामान्य व्यक्ति युद्ध को टालना ही चाहता है। इस विषय में भी असामान्य मनोविज्ञान सहायक सिद्ध हो सकता है। अब यह माना जाने लगा है कि युद्ध वास्तव में कुछ असामान्य प्रवृत्तियों का ही परिणाम है। अतः यदि समाज में असामान्य प्रवृत्तियों को बढ़ने से रोका जाये तथा राष्ट्र–नेताओं की असामान्यता का उपचार हो जाये तो काफी हद तक युद्धों को टाला जा सकता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने में असामान्य मनोविज्ञान का ज्ञान सहायक सिद्ध होता है।

असामान्य मनोविज्ञान का क्षेत्र (Scope of Abnormal Psychology)

किसी भी विज्ञान अथवा शास्त्र के व्यवस्थित एवं सही अध्ययन के लिए आवश्यक है कि उस विज्ञान के विषय–क्षेत्र का सही–सही निर्धारण कर लिया जाये। विषय–क्षेत्र के सही निर्धारण के बाद सम्बन्धित शास्त्र का

अध्ययन करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। असामान्य मनोविज्ञान के व्यवस्थित अध्ययन के लिये भी आवश्यक है कि सर्वप्रथम इसके विषय–क्षेत्र का उचित निर्धारण कर लिया जाये।

असामान्य मनोविज्ञान के क्षेत्र का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है–

(1) **शरीर तथा मन के सम्बन्ध का अध्ययन**–यह सत्य है कि प्रत्येक व्यवहार का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में शरीर से अवश्य होता है। असामान्य मनोविज्ञान असामान्य व्यवहार का अध्ययन करता है। इस अध्ययन के लिये यह जानना भी आवश्यक है कि शरीर तथा मन का क्या सम्बन्ध है ? शरीर सम्बन्धी कारकों से असामान्य व्यवहार होता है तथा असामान्य व्यवहार का प्रभाव भी शरीर पर अवश्य ही पड़ता है। अतः असामान्य मनोविज्ञान शरीर तथा मन के सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन करता है।

(2) **अचेतन मन का अध्ययन**–आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि व्यक्ति के समस्त व्यवहार तथा विशेष रूप से असामान्य व्यवहार को उसका अचेतन मन गम्भीर रूप से प्रभावित करता है। बहुत से असामान्य व्यवहारों के कारणों को ज्ञात करने तथा उपचार के लिये अचेतन मन का विश्लेषण करना होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये असामान्य मनोविज्ञान अचेतन मन का व्यवस्थित अध्ययन करता है।

(3) **प्रेरणाओं तथा समायोजन की प्रक्रिया का अध्ययन**– व्यक्ति के व्यवहार में प्रेरणाओं का भी विशेष महत्व होता है। समुचित प्रेरणाओं के अभाव में व्यक्ति का व्यवहार असामान्य होने लगता है। इस स्थिति में सामान्य जीवन में होने वाली समायोजन की प्रक्रिया भी सुचारू रूप से नहीं चल पाती तथा कुछ अन्य व्यवहार सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न होने लगती हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुये असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत प्रेरणाओं के स्वरूप, भूमिका एवं प्रभाव आदि के साथ–साथ समायोजन की प्रक्रिया का भी व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है।

(4) **विभिन्न मनोरचनाओं का अध्ययन**– असामान्य मनोविज्ञान द्वारा विभिन्न मनोरचनाओं ;डमदजंस डमबींदपेउद्ध का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। वास्तव में, व्यक्ति के असामान्य व्यवहार के पीछे विभिन्न मनोरचनाओं का विशेष हाथ होता है। असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत मुख्य रूप से दमन, आरोपण, औचित्य स्थापना, मुक्ति आभास, प्रतिगमन, दिवास्वप्न, सात्मीकरण, विस्थापन, नाकारात्मक प्रतिक्रिया आदि मानसिक रचनाओं का अध्ययन किया जाता है।

(5) **असामान्य व्यवहार के कारणों का अध्ययन**–हम जानते हैं कि असामान्य मनोविज्ञान एक व्यावहारिक एवं उपयोगी विज्ञान है तथा यह विज्ञान असामान्य व्यवहार का अध्ययन करता है। यह विज्ञान असामान्य व्यवहार के उपचार के उपाय भी सुझाता है, अतः असामान्य व्यवहार के कारणों को ज्ञात करना भी अनिवार्य है। असामान्य मनोविज्ञान असामान्य व्यवहार के कारणों का भी व्यवस्थित अध्ययन करता है।

(6) **मनोलैंगिक विकास का अध्ययन**— अब यह स्वीकार किया जा चुका है कि व्यक्ति के विभिन्न असामान्य व्यवहारों के पीछे उसके मनोलैंगिक विकास (Psychosexual Development)का विशेष हाथ होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोलैंगिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है।

(7) **यौन–विकृतियों का अध्ययन**—वयस्क व्यक्तियों के व्यवहार में असामान्यता का कुछ मुख्य कारण यौन–विकृतियाँ भी होती हैं। असामान्य मनोविज्ञान असामान्य व्यवहार के व्यवस्थित अध्ययन के लिये यौन–विकृतियों के स्वरूप, प्रकारों तथा कारणों आदि का व्यवस्थित रूप से अध्ययन करता है।

(8) **मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन**—वैसे तो अब मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान को एक अलग विज्ञान के रूप में स्वीकार किया जा चुका है, फिर भी असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत भी मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन किये जाते हैं। असामान्य मनोविज्ञान मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के लक्षणों तथा मानसिक अस्वस्थ्यता के लक्षणों, कारणों एवं उपचार आदि का अध्ययन करता है।

(9) **मनोस्नायु विकृतियों का अध्ययन**—हम जानते हैं कि असामान्य व्यवहार के रूप में मनोस्नायु विकृतियों का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। असामान्य मनोविज्ञान मनोस्नायु विकृतियों के स्वरूप, लक्षण, कारण एवं उपचार के उपायों का अध्ययन करता है। मुख्य स्नायु विकृतियाँ हैं— स्नायु दौर्बल्य, चिन्ता मनोस्नायु विकृति, हिस्टीरिया तथा बाध्यता मनोस्नायु विकृति।

(10) **मनोविकृतियों का अध्ययन**—असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोविकृतियों ;च्लबीवेमेद्ध का भी अध्ययन किया जाता है। असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत विभिन्न मनोविकृतियों के स्वरूप, लक्षणों एवं कारणों का अध्ययन किया जाता है। मुख्य मनोविकृतियाँ हैं— मनोविदलता, उत्साह–विषाद–मनोविकृति, उदासी और स्थिर व्यामोह, मद्यज मानसिक विकृतियाँ तथा विषज और आंगिक मनोविकृतियाँ।

(11) **अपराधी एवं समाज विरोधी व्यवहार का अध्ययन**—असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत अपराधी एवं समाज विरोधी व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत इन व्यवहारों के स्वरूप, लक्षणों कारणों एवं उपचार के उपायों का अध्ययन किया जाता है।

(12) **मानसिक दुर्बलता का अध्ययन**—असामान्य व्यवहार का एक मुख्य कारण मानसिक दुर्बलता भी हुआ करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये मानसिक दुर्बलता के स्वरूप, लक्षणों, कारणों तथा उपचार के उपायों का भी असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

(13) **मनोचिकित्सा**—जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि असामान्य मनोविज्ञान एक व्यवहारिक विज्ञान है अतः असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत जहाँ एक ओर विभिन्न प्रकार के असामान्य व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है, वहीं साथ ही साथ असामान्य व्यवहार के उपचार के उपायों का भी अध्ययन किया जाता है। इसीलिये असामान्य मनोविज्ञान ने मनोचिकित्सा की विभिन्न प्रणालियों का विकास किया है।

उपरोक्त विवरण द्वारा असामान्य मनोविज्ञान का अध्ययन—क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति के सभी प्रकार के असामान्य व्यवहारों तथा उनकी रोकथाम व उपचार के उपायों का अध्ययन मनोविज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है।

15.3.4 सामान्य तथा असामान्य की अवधारणायें

(CONCEPTS OF NORMAL AND ABNORML)

यह स्पष्ट है कि असामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत व्यक्ति के असामान्य व्यवहार का अध्ययन किया जाता है परन्तु यह सपष्ट कर पाना कठिन है कि व्यक्ति का कौन सा व्यवहार सामान्य व्यवहार की श्रेणी में आयेगा तथा कौन सा व्यवहार असामान्य व्यवहार माना जायेगा। वास्तव में सामान्य तथा असामान्य व्यवहार के मध्य कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं है। एक ही व्यक्ति के व्यक्तित्व में सामान्य तथा असामान्य दोनों प्रकार के लक्षण देखे जा सकते हैं। वास्तव में असामान्य और सामान्य में मात्रा का अन्तर होता है, प्रकार का नहीं। इस स्थिति में सामान्य तथा असामान्य में अन्तर स्थापित करने के लिये सामान्य तथा असामान्य व्यवहार की विशेषताओं का उल्लेख करना अभीष्ट होगा।

(I)सामान्य व्यक्ति की विशेषतायें

किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की विशेषताओं के मूल्यांकन के आधार पर ही उसे सामान्य या असामान्य कह जा सकता है। व्यक्तित्व के मूल्यांकन के लिये प्रो0 मैश्लो तथा मिटिलमैन ;डेसवू दक डपजजसमउंदद्ध ने कुछ कसौटियों या विशेषताओ का उल्लेख किया है—

(1) **सुरक्षा की समुचित भावना**—सामान्य व्यक्ति की एक विशेषता है— सुरक्षा की समुचित भावना का होना। सामान्य व्यक्ति सामान्य परिस्थितियों में अपने अपने आपको सामान्य रूप से सुरक्षित महसूस करता है। वह बिना पर्याप्त कारणों के, अपने आप को असुरक्षित महसूस नहीं करता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति कुछ समुचित खतरों के होते हुए भी अपने आपको पूर्ण सुरक्षित तथा अत्यधिक शक्ति सम्पन्न मानने लगता है तो उस व्यक्ति को असामान्य ही माना जायेगा न कि सामान्य। सामान्य व्यक्ति सुरक्षा या असुरक्षा की स्थिति का ही मूल्यांकन करता है तथा उसी रूप में परिस्थितियों को स्वीकार करता है।

(2) **संवेगों की समुचित अभिव्यक्ति**—संवेगों की अभिव्यक्ति मनुष्य का स्वभाव है। सामान्य व्यक्ति समुचित रूप से संवेगों को अभिव्यक्त करता है। यदि किसी व्यक्ति में संवेग शून्यता या संवेगों का अभाव है तो उस व्यक्ति को सामान्य व्यक्ति नहीं कहा जायेगा।

इसके विपरीत सामान्य से अधिक प्रबल रूप में संवेग अभिव्यक्ति करने वाला व्यक्ति भी असामान्य व्यक्ति कहलायेगा। सामान्य व्यक्ति अपने संवेगों को उसी रूप में अभिव्यक्त करता है, जिस रूप में समाज के अधिकांश व्यक्ति अपने संवेग अभिव्यक्त करते हैं।

(3) **यथार्थ जीवन–उद्देश्य**—सामान्य व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्यों को यथार्थवादी रूप में निर्धारित करता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी योग्यताओं, क्षमताओं तथा साधनों को बिल्कुल भी ध्यान में न रखते हुए अपने जीवन–उद्देश्यों को निर्धारित कर लेता है तो वह व्यक्ति असामान्य माना जायेगा।

(4) **वास्तविकता से प्रभावपूर्ण सम्पर्क**—सामान्य व्यक्ति का एक लक्षण यह भी है कि वह वास्तविक वातावरण से सही रूप में परिचित रहता है। इसीलिए सामान्य व्यक्ति को वातावरण से समायोजन स्थापित करने में अधिक कठिनाई नहीं होती। सामान्य व्यक्ति काल्पनिक जगत में अधिक लिप्त नहीं होता।

(5) **समुचित आत्म–मूल्यांकन**—सामान्य व्यक्ति अपनी योग्यताओं, गुणों एवं क्षमताओं का समुचित मूल्यांकन करता जानता है। सामान्य व्यक्ति अपने विषय में किसी गलतफहमी का शिकार नहीं होता। इसके विपरीत असामान्य व्यक्ति में समुचित आत्म–मूल्यांकन का गुण नहीं होता।

(6) **पूर्व–अनुभवों से लाभान्वित होने की योग्यता**—सामान्य व्यक्ति में यह योग्यता होती है कि वह अपने जीवन में प्राप्त पूर्व–अनुभवों से लाभान्वित होता है। उदाहरण के लिये यदि किसी कार्य से सामान्य व्यक्ति को किसी प्रकार का नुकसान होता है तो वह पुनः उस कार्य को नहीं करता। इसके विपरीत असामान्य व्यक्ति अपने पूर्व–अनुभवों से लाभांन्वित नहीं होता।

(7) **अपनी तथा समूह की आवश्यकताओं में संतुलन**—सामान्य व्यक्ति में यह योग्यता होती है कि वह जहाँ एक ओर अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करता है, वहीं दूसरी ओर समूह की आवश्यकताओं की भी अवहेलना नहीं करता।

(8) **संगठन एवं स्थायित्व का गुण**—सामान्य व्यक्ति का व्यक्तित्व संगठित होता है तथा उसमें स्थायित्व का गुण पाया जाता है। संगठन का आशय है कि व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों में समन्वय रहता है। इसके अतिरिक्त स्थायित्व का अर्थ है कि व्यक्तित्व में अधिक एवं शीघ्र परिवर्तन नहीं होते।

उपरोक्त विवरण द्वारा वे सभी मुख्य विशेषतायें स्पष्ट हो जाती है जो एक आदर्श सामान्य व्यक्ति में पायी जानी चाहिये। वैसे व्यवहार में ये सभी विशेषतायें अपने पूर्ण रूप में किसी व्यक्ति में पायी जानी प्रायः सम्भव नहीं होती, परन्तु सामान्य व्यक्ति में इन विशेषताओं का किसी न किसी रूप में पाया जाना अनिवार्य होता है।

(II)असामान्य व्यक्ति की विशेषतायें

जो व्यक्ति सामान्य नहीं है उसे असामान्य ;।इदवतउंसद्ध कहा जाता है। असामान्य व्यक्ति सामान्य से भिन्न होता है। इस स्पष्टीकरण के अतिरिक्त असामान्य व्यक्ति की विशेषताओं का भी उल्लेख करना अनिवार्य है। जिस विषय में पेज ;श्रण्क्ण् च्ंहमद्ध का कथन इस प्रकार है, **"असामान्य व्यक्ति वह है जिसकी बुद्धि सीमित होती है, संवेगात्मक अस्थिरता पायी जाती है, व्यक्तित्व विघटित होता है, चरित्र के दोष होते हैं, इनका व्यक्तित्व जीवन घृणास्पद होता है तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को निर्वाह करने में असमर्थ होते हैं।"** संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो गुण सामान्य व्यक्ति के लिए अनिवार्य माने गये हैं, उन गुणों से रहित व्यक्ति को असामान्य व्यक्ति कहा जायेगा। सर्वश्री मैश्लो तथा मिटिलमैन ने असामान्य व्यक्ति के मुख्य लक्षणों का उल्लेख इस प्रकार किया है–

(1) **असामान्यता के लक्षणों का होना**– असामान्य व्यक्ति के कुछ लक्षण ऐसे होते हैं जिन्हें देखकर व्यक्तित्व की असामान्यता का अनुमान लगाया जा सकता हैं असामान्य व्यक्ति के कुछ शारीरिक लक्षण भी होते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश असामान्य व्यक्तियों की मानसिक योग्यतायें भी या तो सामान्य से कम होती है या विभिन्न मानसिक योग्यताओं में समुचित समन्वय नहीं होता। असामान्य व्यक्ति के व्यवहार तथा व्यक्तित्व से ही कुछ असामान्य लक्षण दिखाई देते हैं।

(2) **अप्रसन्नता एवं निराशा**– असामान्य व्यक्ति का एक लक्षण सामान्य अप्रसन्नता एवं निराशा भी है। असामान्य व्यक्ति बिना किसी समुचित कारण के ही अप्रसन्न बना रहता है तथा निराशा छायी रहती है। वह प्रायः चिन्ता, तनाव एवं अन्तर्दन्द का शिकार रहता है।

(3) **सामान्य से कम दक्षता**–असामान्य व्यक्ति अपने कार्यों में सामान्य से कम दक्ष होता है। वास्तव में असामान्य व्यक्ति अपने कार्यों में कम रुचि लेता है तथा पूर्ण लगन से कार्य नहीं करता। इन्हीं कारणों से उसकी कार्य–क्षमता एवं दक्षता सामान्य से कम होती है।

(4) **सुरक्षा की असामान्य प्रवृत्ति**–असामान्य व्यक्तियों में अपनी सुरक्षा के प्रति असामान्य प्रवृत्ति पायी जाती है। उन्हें सुरक्षा के प्रति वास्तविकता एवं दक्षता सामान्य से कम होती है।

(5) **मनोरंजनप्रियता की कमी**—असामान्य व्यक्तियों में मनोरंजनप्रियता की प्रवृत्ति कम पायी जाती है। ऐसे व्यक्ति मनोरंजन के अवसरों पर भी दुखी एवं उदासीन ही बने रहते हैं। गम्भीर प्रकार के असामान्य व्यक्ति तो कभी भी अपने आप को प्रसन्न महसूस नहीं करते।

(6) **असामान्य व्यक्ति के कुछ अन्य लक्षण**—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि असामान्य व्यक्ति में सामान्य व्यक्ति के लक्षणों का अभाव होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए असामान्य व्यक्ति के निम्नलिखित लक्षणों का वर्णन किया जा सकता है—

असामान्य व्यक्ति में आत्म—मूल्यांकन की समुचित क्षमता नहीं होती। असामान्य व्यक्ति की संवेगात्मक अभिव्यक्ति भी असामान्य होती है। वह यथार्थ जीवन की वास्तविकता से परिचित नहीं होता। असामान्य व्यक्ति अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रति सचेत नहीं होता। ऐसे व्यक्तियों में आत्मज्ञान की भी कमी होती है। असामान्य व्यक्तियों के जीवन का कोई स्पष्ट एवं निश्चित उद्देश्य नहीं होता तथा वे अपने पूर्व—अनुभवों से लाभ उठाने की क्षमता भी नहीं रखते। असामान्य व्यक्ति का व्यक्तित्व न तो सुसंगठित ही होता है और न ही उसके व्यक्तित्व में स्थायित्व ही पाया जाता है। असामान्य व्यक्ति में समायोजन की क्षमता भी कम होती है।

उपरोक्त विवरण द्वारा सामान्य तथा असामान्य व्यक्तित्व के मुख्य लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व सम्बन्धी किसी भी विशेषता की सामान्यता तथा असामान्यता के मध्य कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं होती। उदाहरण के लिये यह नहीं कहा जा सकता है कि कितनी संवेगात्मकता सामान्य कहलायेगी तथा उससे अधिक को असामान्य कहा जायेगा। वास्तव में सामान्य तथा असामान्य में मात्रा का अन्तर होता है, इस प्रकार का नहीं।

नोट— सामान्य तथा असामान्य व्यवहार के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण अगले प्रश्न के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये हैं।

असामान्यता के विषय में विभिन्न आधुनिक दृष्टिकोण

सदैव से ही सामान्य तथा असामान्य के विषय में विचार होता रहा है। इसके साथ ही साथ सामान्य तथा असामान्य में अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता रहा है। विभिन्न कारणों के सामान्य तथा असामान्य के मध्य स्पष्ट अन्तर नहीं किया जा सका तथा कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकी। वास्तव में सामान्य तथा असामान्य की धारणा सापेक्ष है। ऐसा भी देखने में आता है कि एक ही व्यक्ति में सामान्य तथा असामान्य लक्षण एक साथ भी पाये जाते हैं। इन समस्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न—भिन्न दृष्टिकोण से सामान्य तथा

असामान्य की धारणा पर विचार प्रकट किये गये हैं। सामान्य असामान्य के प्रति किसी निश्चित मत एक पहुँचने के लिये इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये विभिन्न दृष्टिकोणों का समालोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करना अनिवार्य है।

(I)असामान्यता सम्बन्धी प्राचीन दृष्टिकोण

असामान्यता के सम्बन्ध में जो प्राचीन प्रचलित था उसे आत्मगत दृष्टिकोण (Subjective Vewpoint) कहा गया है। इस प्रचलित दृष्टिकोण की व्याख्या धार्मिक विश्वासों के आधार पर की गयी थी। इस व्याख्या के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया था कि व्यक्ति का असामान्य व्यवहार ईश्वर के अभिशाप था दैवी प्रकोप के कारण होता हे। इसके अतिरिक्त यह भी माना जाता है कि असामान्य व्यक्ति भूत–प्रेतों के वशीभूत होते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार असामान्य व्यक्ति निश्चित रूप से सामान्य व्यक्तियों से निम्न समझे जाते थे तथा इनका सामान्य व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता था अर्थात् इनका अलग वर्ग माना जाता था। इस विचारधारा में सामान्य से अधिक गुण–सम्पन्न व्यक्तियों का भी अलग वर्ग माना जाता था तथा उन्हें प्रतिभा–सम्पन्न (Genius) माना जाता था। ऐसा माना जाता था कि प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को ईश्वर का वरदान प्राप्त होता है तथा सामान्य लोग उनके प्रति आदर एवं श्रद्धा का भाव रखते थे। इस दृष्टिकोण के अनुसार असामान्य व्यक्तियों के उपचार की न तो आवश्यकता समझी जाती थी और न ही प्रयास किये जाते थे।

इस प्राचीन दृष्टिकोण को अब स्वीकार नहीं किया जाता। अब असामान्य व्यवहार को एक मानसिक रोग के कारण माना जाता है तथा भूत–प्रेत एवं दैवी प्रकोप के विचार बिल्कुल मान्य नहीं है।

(II)असामान्यता सम्बन्धी आधुनिक दृष्टिकोण

प्राचीन दृष्टिकोण के अस्वीकार हो जाने के उपरान्त आधुनिक युग में असामान्यता की व्याख्या करने के लिए विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं मनोचिकित्सकों ने भिन्न–भिन्न विचार एवं दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। इन आधुनिक दृष्टिकोणों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है–

(1) सांख्यिकीय दृष्टिकोण

सामान्य तथा असामान्य की व्याख्या करने के लिये प्रस्तुत किये गये आधुनिक दृष्टिकोणें में **सांख्यिकीय दृष्टिकोण (Statistical Vewpoint)** का विशेष स्थान है।

इस दृष्टिकोण द्वारा प्राचीन दृष्टिकोण का पूर्ण रूप से खण्डन किया गया है। इस विचारधारा के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है कि सामान्य, असामान्य तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों के गुणों में आनुपातिक सम्बन्ध होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सामान्यता तथा असामान्यता के मध्य केवल मात्रात्मक विचलन ही स्वीकार किया गया है। उन

सभी व्यक्तियों को सामान्य व्यक्ति माना जाता है जिनके व्यक्तित्व सम्बन्धी गुण औसत मात्रा में होते हैं अर्थात् औसत बुद्धि, औसत सामाजिक अनुकूलता तथा औसत व्यक्तित्व–स्थिरता वाले व्यक्ति सामान्य माने जाते हैं। जिन व्यक्तियों में ये गुण औसत से कम अधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं उन व्यक्तियों को असामान्य(Abnormal) माना जाता है। इस प्रकार हीन गुणों वाले तथा श्रेष्ठ गुणों वाले दोनों प्रकार के व्यक्तियों को ही असामान्य की श्रेणी में रखा जाता है। **ब्राउन(J.F.Brown)** ने स्पष्ट कहा, **"सामान्य तथा असामान्य व्यक्तित्व में अन्तर प्रकार का नहीं बल्कि मात्रा का है।"** सांख्यकीय दृष्टिकोण के अनुसार एक ही प्रकार के नियमों द्वारा सामान्य, असामान्य तथा प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का अध्ययन किया जा सकता है। सांख्यिकीय दृष्टिकोण के अनुसार कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से सामान्य तथा पूर्ण रूप से असामान्य नहीं होता बल्कि प्रत्येक व्यक्ति में सामान्यता तथा असामान्यता के कम या अधिक लक्षण विद्यमान होते हैं। सांख्यिकीय दृष्टिकोण के अनुसार एक असामान्य व्यक्ति को भी समुचित प्रयास द्वारा सामान्य तथा प्रतिभा–सम्पन्न व्यक्ति बनाया जा सकता है। इस प्रकार यह दृष्टिकोण व्यावहारिक दृ कोण है। सांख्यिकीय दृष्टिकोण को **रोजन** तथा **ग्रेगरी(Rosen and Gregory)** ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है, **"असामान्यता के सांख्यिकीय दृष्टिकोण के विश्लेषण से यह महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सामान्य व असामान्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है तथा दोनों के मध्य कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। सरल शब्दों में असामान्य, सामान्य का ही अतिरंजित रूप है।"**[1]

सांख्यिकीय दृष्टिकोण की सीमायें—यह सत्य है कि असामान्यता से सम्बन्धित सांख्यिकीय दृष्टिकोण एक व्यावहारिक दृष्टिकोण है तथा इस दृष्टिकोण ने अनेक अन्धविश्वासों को खण्डित किया है। फिर भी इस दृष्टिकोण की भी कुछ कमियाँ या सीमायें हैं जिनको जानना अनिवार्य है—

(i) **व्यक्तित्व–गुणों का मात्रात्मक मापन नहीं हो सकता**—इस दृष्टिकोण की मान्यताओं के अनुसार व्यक्तित्व–गुणों का मात्रात्मक मापन अनिवार्य है परन्तु व्यवहार में इस प्रकार का मात्रात्मक मापन नहीं हो सकता।

(ii) **किसी गुण विशेष के आधार पर सामान्यता का निर्धारण असम्भव है**—सांख्यिकीय दृष्टिकोण के अनुसार सामान्यता एवं असामान्यता का निर्धारण व्यक्तित्व के गुणों के आधार पर किया जाता है, परन्तु व्यावहारिक कठिनाई यह है कि किसी एक व्यक्ति में कोई एक गुण औसत मात्रा, कोई अन्य गुण औसत से कम तथा कोई अन्य गुण औसत से अधिक मात्रा में विद्यमान हो सकता है। इस स्थितिं में व्यक्ति को सामान्य तथा असामान्य कह पाना कठिन हो जाता है।

(iii) **सामान्य, असामान्य तथा प्रतिभा–सम्पन्न के मध्य विभाजक रेखा का अभाव**—सांख्यिकीय दृष्टिकोण के अनुसार सामान्य, असामान्य तथा प्रतिभा–सम्पन्न में कोई मौलिक अन्तर स्वीकार नहीं किया गया। इस

स्थिति में यह स्पष्ट नहीं किया जाता है कि किस गुण की कितनी मात्रा को सामान्य समझा जाये तथा कितनी मात्रा को असामान्य।

(iv) **असामान्य तथा प्रतिभा–सम्पन्न में अन्तर नहीं**–इस दृष्टिकोण के अनुसार सैद्धान्तिक रूप से, औसत से कम तथा अधिक दोनों को असामान्य माना गया है। इस मान्यता के कारण असामान्य तथा प्रतिभा–सम्पन्न व्यक्तित्व में स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया।

(2) सामाजिक दृष्टिकोण

सामान्यता तथा असामान्यता की व्याख्या करने के लिये **सामाजिक दृष्टिकोण** (Social Vewpoint) भी प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जिस व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार समाज के प्रचलित रीति–रिवाजों, नियमों त था प्रथाओं–परम्पराओं के अनुरूप होता है उस व्यक्ति को सामान्य माना जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति समाज के प्रचलित रीति–रिवाजों, नियमों तथा प्रथाओं–परम्पराओं क विरुद्ध व्यवहार करते हैं उन्हें असामान्य माना जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सामान्य या असामान्य का निर्धारण समाज कल्याण एवं सामाजिक नियमों के आधार पर किया जाता है। सामान्य व्यक्ति को समाज–कल्याण में सहायक तथा असामान्य व्यक्ति को समाज–कल्याण में बाधक माना जाता है।

आलोचना– सामाजिक दृष्टिकोण में कुछ कमियाँ या दोष देखे गये हैं। वास्तव में सामाजिक नियम एवं प्रचलन सापेक्ष होते हैं। भिन्न–भिन्न देश–काल में सामाजिक नियमों एवं रीति–रिवाजों का स्वरूप भिन्न–भिन्न होता है। इस स्थिति में सामाजिक नियमों के आधार पर सामान्यता या असामान्यता का निर्धारण कैसे किया जा सकता है। किसी एक समाज में जिस नियम को उचित माना जाता है उसी नियम को किसी अन्य समाज में अनुचित माना जा सकता है। उदाहरण के लिए, कुछ जनजातीय समाजों में हिंसा, हत्या एवं नर–हत्या की प्रशंसा की जाती है जबकि अधिकांश सभ्य समाजों में इन कार्यों को पाप एवं अपराध ही माना जाता है। इस प्रकार यदि सामाजिक दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाये तो सामान्यता तथा असामान्यता के सार्वभौमिक रूप को परिभाषित नहीं किया जा सकता।

(3) नैतिक दृष्टिकोण

सामान्यता तथा असामान्यता के निर्धारण के लिये नैतिक दृष्टिकोण ;म्जीपबंस टपमूचवपदजद्ध से भी व्याख्या की गयी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार नैतिक व्यवहार को सामान्य व्यवहार तथा अनैतिक या नैतिकता–विरुद्ध व्यवहार को असामान्य व्यवहार माना जाता है।

आलोचना—नैतिक आधार पर सामान्य तथा असामान्य का निर्धारण करना वैज्ञानिक नहीं है। नैतिक मानदण्ड नियामक होते हैं जबकि मनोवैज्ञानिक तथ्य विधायक होते हैं। नैतिक नियम भी समाज एवं काल के सापेक्ष होते हैं। एक समाज में जिस व्यवहार को नीति—सम्मत माना जाता है उसी व्यवहार को किसी अन्य समाज में नीति—विरुद्ध भी माना जा सकता है। इस स्थिति में नैतिक दृष्टिकोण से सामान्यता के सार्वभौमिक रूप को निर्धारित नहीं किया जा सकता।

(4) सांस्कृतिक दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण के अनुसार सांस्कृतिक नियमों, मान्यताओं तथा आदर्शों के आधार पर सामान्य—असामान्य का निर्धारण किया जाता है। सांस्कृतिक नियमों, मान्यताओं तथा आदर्शों का अच्छे ढंग से पालन करने वाला व्यक्ति सामान्य माना जाता है तथा इनके विरुद्ध आचरण करने वाला व्यक्ति असामान्य माना जाता

आलोचना—नैतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण के ही समान सांस्कृतिक दृष्टिकोण में भी कुछ दोष हैं। वास्तव में भिन्न—भिन्न समाजों की सांस्कृतिक मान्यतायें भिन्न—भिन्न होती हैं। इस स्थिति में सांस्कृतिक मान्यताओं के आधार पर सामान्यता—असामान्यता के सार्वभौमिक रूप को निर्धारित नहीं किया जा सकता। सांस्कृतिक मान्यतायें भी समय के साथ—साथ बदलती रहती हैं अतः इनके आधार पर सामान्यता को कैसे निर्धारित किया जा सकता है।

(5) समायोजनात्मक दृष्टिकोण

सामान्यता तथा असामान्यता के निर्धारण के लिये समायोजन दृष्टिकोण ;।रनेजपअम टपमूचवपदजद्ध भी प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जो व्यक्ति जीवन में विभिन्न परिस्थितियों में सही ढंग से समायोजन स्थापित कर लेता है वह व्यक्ति सामान्य माना जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में समायोजन नहीं कर पाते तथा समस्याओं का सही समाधान नहीं कर पाते वे असामान्य व्यक्ति माने जाते हैं अर्थात् इस दृष्टिकोण से जीवन में सुसमायोजित व्यक्ति सामान्य माना जाता है तथा असमायोजित या कुसमायोजित व्यक्ति असामान्य माना जाता है।

आलोचना—समायोजनात्मक दृष्टिकोण के अनुसार समान्यता की कसौटी है सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों के साथ समायोजन करना। इस कसौटी को वैज्ञानिक रूप से सही नहीं माना जा सकता। कभी—कभी सामाजिक—सांस्कृतिक परिस्थितियाँ दोषपूर्ण होती हैं। ऐसे में कोई भी विवेकशील व्यक्ति दोषपूर्ण तथ्यों से समायोजन नहीं करेगा। इस प्रकार से असमायोजित व्यक्ति को असामान्य कहना भी उचित नहीं है।

(6) सर्वांशवादी दृष्टिकोण

सामान्यता तथा असामान्यता के निर्धारण के लिये सर्वांशवादी दृष्टिकोण (Eclcctic Viewpoint)भी प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी एक आधार पर असामान्यता की व्याख्या नहीं की जा सकती अतः असामान्यता की व्याख्या करने के लिये सभी दृष्टिकोणों को ध्यान में रखना अनिवार्य है। इस दृष्टिकोण के अनुसार माना जाता है कि प्रत्येक समाज में 10 प्रतिशत व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका व्यक्तित्व असंगठित होता है, चरित्र दूषित होता है तथा व्यवहार असामाजिक होता है। इन व्यक्तियों को असामान्य माना जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक समाज में 10 प्रतिशत व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सामान्य से अधिक बुद्धिमान तथा संगठित व्यक्तित्व वाले एवं सामाजिक समायोज़न में अधिक दक्ष होते हैं। इन व्यक्तियों को प्रतिभाशाली व्यक्ति माना जाता है। शेष 80 प्रतिशत व्यक्ति सामान्य होते हैं। इन व्यक्तियों में सभी गुण औसत मात्रा में होते हैं।

(7) व्याधिकीय दृष्टिकोण

सामान्यता तथा असामान्यता की व्याख्या के लिये व्याधिकीय दृष्टिकोण (Pathological Viewpoint)भी प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्तियों को सामान्य माना जाता है तथा मानसिक रूप से अस्वस्थ व्यक्तियों को असामान्य माना जाता है। प्रत्येक मानसिक रोग के कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं। इन लक्षणों को देखकर असामान्यता का अनुमान लगाया जा सकता है।

आलोचना—यह सत्य है कि मानसिक रूप से अस्वस्थ व्यक्ति असामान्य होते हैं परन्तु यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाये तो प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ ऐसे लक्षण अवश्यक ही मिल जाते हैं जो किसी मानसिक रोग की ओर संकेत करते हैं। इस स्थिति में सभी व्यक्तियों को असामान्य मानना पड़ेगा।

(8) व्याधिकीय दृष्टिकोण

सैद्धान्तिक रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक आयु–स्तर से सम्बद्ध परिपक्वता (Maturity)का एक स्तर होता है। इस सिद्धान्त को मानते हुए सामान्यता तथा असामान्यता की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यदि व्यक्ति ने अपने आयु–स्तर के अनुकूल परिपक्वता प्राप्त कर ली है तो उसे सामान्य व्यक्ति माना जायेगा। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने आयु–स्तर के अनुकूल परिपक्वता अर्जित नहीं कर पाते, उन्हें असामान्य व्यक्ति माना जाता है। इसके भिनन यदि कोई व्यक्ति अपने आयु स्तर से अधिक परिपक्वतापूर्ण व्यवहार करता है तो उसे भी असामान्य माना जायेगा।

आलोचना—यह सत्य है कि सामान्य व्यक्तियों का व्यवहार परिपक्व होता है परन्तु इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने में भी कुछ परेशानियाँ है। वास्तव में यह निर्धारित करना एक कठिन कार्य है कि किस आयु स्तर के लिये कैसा व्यवहार परपक्व माना जाये। इसके लिये कोई वस्तुनिष्ठ मापदण्ड निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भी देखने में आता है कि प्रत्येक व्यक्ति यदा–कदा अपने आयु–स्तर से निम्न परिपक्वता के अनुकूल व्यवहार करता हैं। ऐसे व्यवहार के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति असामान्य की श्रेणी में आ जायेगा। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत परिपक्वता के दृष्टिकोण को भी दोषपूर्ण माना जाता है।

(9) व्यक्तिगत व्यथा का दृष्टिकोण

असामान्यता की व्याख्या करने के लिये रोजेन और ग्रेगरी ने व्यक्तिगत व्यथा का दृष्टिकोण **(Viewpoint of Personal Dicomfort)**प्रस्तुत किया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति की व्यथा के आधार पर असामान्यता की व्याख्या की गयी है। इस व्याख्या के अनुसार जो व्यक्ति अपनी भावनाओं एवं विचारों को नियमित एवं नियन्त्रित नहीं कर पाते तथा इसी कारण से परेशान एवं व्यथित रहते हैं उन्हें असामान्य माना जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने विचारों एवं भावनाओं को नियन्त्रित रखते हैं तथा उनके कारण व्यथित नहीं रहते उन्हें सामान्य व्यक्ति माना जाता है।

आलोचना—यह सत्य है कि अकारण परेशान रहना असामान्यता का एक लक्षण है, परन्तु इस तथ्य के अपवाद भी हैं। कुछ ऐसे मानसिक रोग हैं जिसके कारण व्यक्ति बिना कारण के ही प्रसन्न होता है तथा अपने आप को सुखी अनुभव करता है। वास्तव में ये रोगी असामान्य व्यक्ति हैं परन्तु व्यक्तिगत व्यथा की दृष्टिकोण के अनुसार इन्हें असामान्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

(10) व्यक्तित्व–समन्वय का दृष्टिकोण

व्यक्तित्व के समन्वय के आधार पर भी सामान्यता एवं असामान्यता की व्याख्या की गयी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व संसुगठित तथा समन्वित होता है उसे सामान्य माना जाता है। इसके विपरीत यदि यक्ति का व्यक्तित्व असंगठित तथा असमन्वित होता है तो उस व्यक्ति को असामान्य माना जाता है।

आलोचना— व्यक्तित्व–समन्वय के दृष्टिकोण के मानने में एक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वास्तव में यह ज्ञात करना कठिन है कि किस व्यक्ति का व्यक्तित्व कितना समन्वित एवं संगठित है। इसके मापन को समुचित प्रणाली उपलब्ध नहीं है।

(11) जे0 एफ0 ब्राउन का दृष्टिकोण

असामान्यता तथा असामान्य व्यवहार की आधुनिक व्याख्याओं में जे0एफ0 ब्राउन द्वारा प्रस्तुत व्याख्या का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है। उनके द्वारा प्रस्तुत व्याख्या तार्किक तथा युक्ति–संगत है। श्री ब्राउन ने सामान्य व्यवहार के विचलित रूप को ही असामान्य माना है। उनके कथनानुसार, **"असामान्य व्यवहार सामान्य व्यवहार का अतिरंजित (अर्थात् अति विकसित या अल्प विकसित) रूप अथवा विकृत (अर्थात् विचलित) रूप है।"**

ब्राउन के कथन द्वारा स्पष्ट है कि सामान्य व्यवहार के विचलित रूप को असामान्य व्यवहार माना जाता है। उदाहरण के लिये संवेग सम्पन्न करने वाली सामान्य परिस्थितियों में सामान्य संवेगावस्था उत्पन्न होना सामान्य व्यवहार है। यदि कोई व्यक्ति संवेग उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों में भी संवेग–शून्य बना रहता है तो उसके इस व्यवहार को असामान्य माना जायेगा। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति सामान्य संवेग उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों में अति प्रबल संवेग प्रगट करता है तो भी उसे असामान्य ही माना जायेगा।

ब्राउन के दृष्टिकोण के अनुसार सामान्य, असामान्य तथा प्रतिभाशाली व्यक्तियों में केवल मात्रा का अन्तर होता है, प्रकार का नहीं। ब्राउन के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार में असामान्यता के कुछ न कुछ लक्षण अवश्य ही विद्यमान होते हैं। असामान्य व्यवहार के कारण प्राकृतिक होते हैं। इसमें ईश्वरीय या दैवी प्रकोप या अभिशाप का कोई सम्बन्ध नहीं होता। सामान्य, असामान्य या प्रतिभाशाली व्यक्तियों के व्यवहार के अध्ययन के लिये अलग–अलग नियमों की आवश्यकता नहीं होती। इन तीनों वर्गों के व्यवहार का अध्ययन एक ही नियमावली द्वारा किया जा सकता है। ब्राउन ने स्पष्ट कहा है, "प्रतिभाशाली व्यक्तियों की कृतियाँ, पागलों का बकना तथा यह वाक्य जो आप पढ़ रहे हैं, इन सबके पीछे एक ही प्रकार के नियम कार्य करते हैं, इनमें मात्रा ;क्महतममद्ध का अन्तर है, प्रकार (Kind) का अन्तर नहीं है।" इस प्रकार यदि सामान्य व्यवहार का अध्ययन कर लिया जाये तो उसके आधार पर असामान्य व्यवहार को समझा जा सकता है। इसी प्रकार असामान्य व्यवहार के अध्ययन के आधार पर सामान्य व्यवहार को समझा जा सकता है।

मूल्यांकन–उपरोक्त वर्णित दृष्टिकोण को एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण को मान लेने पर केवल एक समस्या का सामना करना पड़ता है वह यह है कि सर्वमान्य व्यवहार का मानदण्ड कैसे निर्धारित किया जाये? सामान्य व्यवहार के सर्वमान्य प्रारूप के आधार पर ही असामान्य तथा प्रतिभा सम्पन्न का निर्धारण किया जा सकता है।

15.5.5 मानसिक स्वास्थ्य की अवधारणा एवं विशेषतायें (Concept of Mental Health and Characteristics) :

असामान्य व्यवहार के कारणता के विशद् अध्ययन तथा मनो–चिकित्सा की विविध पद्धतियों के विस्तृत विवेचन और उपचार हेतु उनके अनुप्रयोग ने मनोवैज्ञानिकों और मनोरोग चिकित्सकों को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया है जहाँ वे मानसिक रोगों के निदान और उपचार के साथ–साथ उसका निरोध किस (Prevention) प्रकार किया जाए इस बात पर भी विचार करने लगे हैं। जिस प्रकार आयुर्विज्ञान में विभिन्न रोगों जैसे पोलियो, चेचक, डिपथीरिया आदि रोगों के निरोध के लिये, औषधि, टीके (Vaccines)तथा प्रति जीवविष (antitoxins)विकसित किये गये हैं उसी प्रकार मनोरोग विज्ञान ऐसे उपायों की खोज कर रहा है जो मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायक सिद्ध हो सकें। उदाहरण के लिये मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान उन जैविक, मनोवैज्ञानिक, परिवेशीय एवं सामाजिक–सांस्कृतिक कारकों का निरोध करता है जिनके कारण मनोविकार उत्पन्न होते हैं। जैसे हम जानते हैं कि मानसिक मंदन के कुछ प्रकार किन्हीं विशिष्ट चयापचयी न्यूनताओं के कारण उत्पन्न होते हैं। इन न्यूनताओं को आरम्भ में ज्ञात कर न्यूनताओं को दूर किया जा सकता है। और बालक को भविष्य में होने वाले मानसिक मन्दन से बचाया जा सकता है यह सही है कि उग्र प्रकार के मानसिक रोगों, विशेषकर मनोविक्षिप्तताओं, का निरोध पर्याप्त कठिन है क्योंकि इन रोगों के विषय में समुचित मात्रा में ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका है। इस दिशा में भी रोगों के विषय में ज्ञानवृद्धि जैसे–जैसे होगी निरोध करना उसी गति से सम्भव हो सकेगा।

मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ और क्षेत्र

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान में उन साधनों का अध्ययन किया जाता है। जिसके द्वारा मानसिक रोगों के घटना कम का निरोध किया जा सके तथा लोगों के मानसिक स्वास्थ्य में वृद्धि की जा सके।

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान उन साधनों का अध्ययन और विवेचन करता है जिनकी सहायता से मानसिक रोगियों का उपचार हो सके और उनके घटनाक्रम को कम किया जा सके। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य लोगों के मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना है। लैंडिस तथा बोल्स (1950) का मत है कि मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान मानसिक रोगों के निरोध तथा मानसिक स्वास्थ्य की स्थापना हेतु किन्हीं उपायों को क्रमबद्ध उपयोग है।

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के तीन पक्ष हैं– (1) निरोधात्मक (2) उपचारात्मक तथा (3) संरक्षणात्मक। मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का प्रमुख उद्देश्य मानसिक अस्वस्थता के कारणों को नियन्त्रित करना है। व्यक्ति के तनावमुक्त चिन्तारहित सुखी जीवन के लिये यह आवश्यक है कि उसका आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों से

समुचित समायोजन हो। इस दृष्टि से निरोध तीन स्तरों पर कुआभियोजी व्यवहार को कम करने का प्रयास करता है:

1. परिवार –व्यक्तित्व विकार्य, मानसिक मानसिक मंदन तथा अन्य बहुत से कुआभियोजी व्यवहारों में परिवार की भूमिका बहुधा अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। अनेक बाल–निर्देशन चिकित्सालयों, सामाजिक कार्यकताओं और मनोरोग चिकित्सकों ने रुग्ण बालकों के उपचार के साथ–साथ उन बालकों की माताओं के उपचार पर भी बल दिया है (लिवीन तथा लिवीन, 1970)। पिछले दो दशकों में इस प्रकार के अनेक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि पिता के गुण और परिवार से उसके लगाव की मात्रा भी बालकों के विकास पर गहरा प्रभाव डालते हैं। निरोध की दृष्टि से परिवार की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। अतएव व्यवहार अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्यार्थी के लिए उन पारिवारिक जीवन संबंधी परिवर्त्यों को एकत्रित करना सापेक्षिक रूप से सरल होगा जो अभियोजी व्यवहार को प्राप्त करने में सहायक नहीं है। तनाव एवं अस्थिरता से युक्त परिवार कुआभियोजन उद्दीप्त करने वाले वातावरण को उत्पन्न करता है। ऐसे माता–पिता जो स्वयं सम्भ्रमित हैं और जो जीवन के प्रतिबलों का प्रभावी ढंग से निराकरण करने में अक्षम हैं वे विकास क्रम के अनुरूप लक्ष्यों को प्राप्त करने में अपने पुत्र–पुत्रियों की सहायता नहीं कर पाते। कभी–कभी माता–पिता द्वारा प्रदत्त अतिशय प्यार और देखभाल, परिवेशीय उद्दीपन का अभाव, तथा आदर्श व्यवहार के प्रतिमानों (माडेलों) की अनुपस्थिति जैसी परिस्थितियाँ भी बालक–बालिकाओं को अभियोजन स्थापित करने में बाधक होती है। इन सूचनाओं के आधार पर अथवा नियन्त्रित प्रयोगों की सहायता से अनेक निरोधात्मक अध्ययन किये गये हैं। इन अध्ययनों में पाया गया कि माता–पिता को समुचित रूप में शिक्षित करने, परिवारजनों द्वारा मध्यस्थता (family intervention)तथा माता–पिता को चिकित्सक के रूप में प्रशिक्षित करने से मानसिक रोगों की रोकथाम में पर्याप्त सहायता मिलती है।।

2. पाठशाला –परिवार की तुलना में पाठशाला तथा पाठशालयी कक्ष बड़े और अधिक जटिल सामाजिक तन्त्र होते हैं। बहुधा वे अशिष्ट और नियन्त्रण के परे होते हैं। फिर भी उनमें उत्पन्न समस्याओं का निराकरण घर की समस्याओं के समाधान से सरल होता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने घर को समस्याओं के निदान में बाह्य हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता; कुछ पारिवारिक समस्याओं के होने की बात को साफ मना कर देते हैं। इन समस्याओं का पता तब चलता है जब बालक स्कूल में प्रवेश लेता है। समस्या का पता चल जाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि उसका समाधान हो ही जाए क्योंकि माता–पिता स्कूल को इस कार्य में सहयोग नहीं देते। अनेक व्यवधानों के होते हुए स्कूल बालकों की समस्याओं (सावंगिक) को जानने और उनका निराकरण करने का भरसक प्रयास करते हैं क्योंकि वे उसकी शैक्षिक प्रगति में बाधक होते हैं और उसके भावी जीवन के लिए अहितकार सिद्ध हो सकते हैं।

3. कार्य संसार (The World of Work)—जीवन के सर्वाधिक महत्व– पूर्ण पहलुओं में से एक पहलू व्यक्ति का किसी कार्य, व्यवसाय या नौकरी में लगना है। व्यक्ति के पास उपलब्ध समय का प्रमुख भाग उसके कार्य–क्षेत्र में व्यतीत होता है। यह कार्य संसार उसके जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करता है; प्रभाव की विविधता संस्कृति पर भी निर्भर करती है।

किसी कार्य में लगना अपने आप में सुखद होता है। सुखद अनूभूति के अतिरिक्त यह जीवनयापन तथा कार्य जगत में सफलता प्राप्त करने के अवसर भी प्रदान करता है। कुछ लोग जो जन्म से ही सम्पन्न होते हैं। जीवनयापन के लिए कार्य नहीं करते अतः उनका कार्य से समुचित अभियोजन स्थापित नहीं हो पता; अन्य लोग अनुपयुक्त शिक्षा, कुशलता का अभाव, विभेदन, अभिप्रेरणात्मक व्यवधन, दुश्चिन्ता, व्यक्तित्व विकार, शारीरिक दोष जैसे विभिन्न कारणों की वजह से अभियोजन स्थापित करने में, असमर्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्ति की व्यावसायिक आकांक्षायें उसके व्यक्तित्व, यौन, जाति, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा पारिवारिक स्थिति से भी प्रभावित होती हैं। उदाहरण के लिए एक उच्च अथवा मध्य वर्ग का बालक अपने भावी जीवन (मैं बड़ा होने पर क्या बनूँगा) के विषय में सकारात्मक चिन्तन करता है जब कि एक बालक जिसका जन्म निम्न सामाजिक–आर्थिक वर्ग में हुआ है इस प्रकार के समारात्मक पूर्वानुमान नहीं कर पाता।

विफलता का भय अथवा विभेदन की प्रत्याशा उनके सामान्य विकास एवं व्यावसायिक अभियोजन में बालक होती है। ऐसे व्यक्ति अपने कार्य–क्षेत्र में प्रगति न कर सकने के कारण उपलब्धियों के लिए अपेक्षित आत्म–विश्वास विकसित नहीं कर पाते। उनके लिए कार्य धनार्जन का मात्र एक साधन रह जाता है क्योंकि उन्हें कार्य से आन्तरिक अनुभूति नहीं हो पाती। वे अपने कार्य में प्रोन्नति की कल्पना नहीं करते क्योंकि वे अपनी ही दृष्टि में अपने को अयोग्य समझने लगते हैं।

इस प्रकार के कुअभियोजी कार्य–व्यवहार को रोकने के लिए कुअभियोजन को उद्दीप्त करने वाले अन्य कारकों का ज्ञान अपेक्षित है। ग्लेसर तथा रास (1970) ने अपने एक अध्ययन के आधार पर बताया कि कार्य संसार में सफलता और अभियोजन के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति का बाल्यावस्था में माता–पिता द्वारा उनके कार्यों में समर्थन, प्रोत्साहन और अनुशासित ढंग से कार्य करने का प्रशिक्षण प्राप्त हुआ हो। इसी के साथ–साथ उत्पादनशील क्रियाओं के निष्पादन पर व्यक्ति में आत्म–सम्मान की भावना का उत्पन्न होना आवश्यक है। कहने का अभिप्राय यह है कि सापेक्षिक रूप से विफल व्यक्तियों को उनके निम्न स्तरीय आत्म–सम्मान, निम्न स्तरीय आत्म–विश्वास और इस प्रकार की भ्रान्तियों से ऊपर उठने में मदद करना चाहिये ताकि वे अनुभव कर सकें कि वे जीवन में कुछ महत्वपूर्ण और उपयोगी कार्य कर सकने में सक्षम हैं। एक अन्य व्यक्तित्व विशेषता (ज़ो कुआभियोजित कार्य व्यवहार करने वाले व्यक्ति में होती है) समवयस्कों की स्वीकृति पर अत्यधिक आश्रितता है, जिसका परिमार्जन अपेक्षित है।

4. समुदाय (The Community)—व्यक्ति, उसका परिवार, उसके शैक्षिक एवं व्यावसायिक अनुभवों का यथार्थ प्रत्यक्षण तभी हो सकता है जब हम यह याद रखें कि इनमें से प्रत्येक किसी न किसी समुदाय का अंग है जिसके अपने सामाजिक मूल्य हैं, मानदण्ड हैं और प्राथमिकतायें हैं। प्रत्येक मनोवैज्ञानिक अध्ययन का सम्बन्ध किसी न किसी समुदाय से होता है। ये समुदाय नगर से जुड़े होते है; इन नगरों में कार्य करने वाली विभिन्न छोटी–छोटी इकाइयाँ, जैसे स्कूल, अस्पताल, उद्योग, होती हैं जिनका अध्ययन मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया जाता है। ये अध्ययन यद्यपि अपने आपमें महत्वपूर्ण होते हैं किन्तु राजनीतिज्ञों और योजना निर्माताओं की रुचि सदैव बड़ी इकाइयों के अध्ययन में रही है क्योंकि इनके अध्ययन से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर किन्हीं सामाजिक प्रक्रमों तथा सामाजिक विकारों के विषय में निर्णय एवं नीति निर्माण कर सामुदायिक समस्याओं का निराकरण ठीक उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार चिकित्सक व्यक्तित्व समस्याओं का निदान मानव व्यवहार के विषय में प्राप्त ज्ञान की सहायता से करता है।

मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले इन सामुदायिक समस्याओं से अवगत हैं और वे व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रदत्त सूचनाओं (सामाजिक प्रक्रमों एवं सामाजिक विकृतियों के विषय में) की सहायता से अच्छे निर्णय तथा स्वस्थ जननीति का निर्माण कर सकने में सफल हुए हैं (विंडमैन तथा स्पीगेल, ईशूज इन कम्यूनिटी साइकालोजी ऐंड प्रिवेंटिव मेंटल हेल्थ 1971)। सामुदायिक समस्याओं की ओर उन्मुख मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले आजकल इस सामुदायिक उपागम का उत्तरोत्तर उपयोग कर रहे हैं।

सामुदायिक मानसिक स्वास्थ्य उपागम

सामुदायिक मनोविज्ञान के प्रणेता निकोलस हाब्स (1969) ने सामुदायिक मानसिक स्वास्थ्य आन्दोलन को 'मानसिक स्वास्थ्य की तीसरी क्रान्ति' कहा है। उसने पीनेल, ट्यूक, रश तथा डिक्स के कार्य को जो मानसिक रोगियों के साथ विनम्र एवं सह्रदयतापूर्ण व्यवहार पर आधारित था, इस क्षेत्र में होने वाली प्रथम क्रान्ति बताया। इस धारणा को आज तक सामान्यजन ने पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया है। द्वितीय क्रान्ति का सूत्रपात फ्राइड तथा उसके अनुगामियों के लेखन एवं कार्यों द्वारा हुआ जिनकी विशेष रुचि अन्तर्मानसिक घ्टनाओं तथा व्यक्तित्व सरंचना में थी। तीसरी क्रान्ति सामुदायिक मानसिक स्वास्थ्य केन्द्र (Community mental health centre) सम्प्रत्यय पर केन्द्रित है। इसमें चिकित्सा सम्बन्धी समुदाय, गृह उपचार, पैतृक आवास तथा चिकित्सालय के बीच बने आवास (half way houses) तथा अन्य सेवायें जैसे खुले चिकित्सालय (Open hospitals), संकटकालीन उपचार केन्द्र (non-professional psychotherapists),अव्यवसायिक मनोरोग चिकित्सक सम्मिलित हैं।

सामुदायिक मानसिक स्वास्थ्य सम्प्रत्यय इस बात पर विशेष बल देता है कि असामान्य एवं कुअभियोजी व्यवहार की रोकथाम की जा सकती है। इस प्रकार के तीन निरोधात्मक उपायों (प्राथमिक, गौण तथा तृतीयक)

(primary, secondary and tertiary) का उल्लेख कोवेन (1973), डेनेर तथा प्राईस (1973), रीज एवं अन्य (1977) ने किया है। प्राथमिक निरोध के अन्तर्गत ऐसे उपाय किये जाते हैं जिससे असामान्य व्यवहार को आरम्भ होने से पूर्व ही रोका जा सके। इसके लिए (विभिन्न विकृतियों की कारणता के विषय में सीमित ज्ञान के कारण) परिवेशीय प्रतिबल उद्दीप्त करने वाले कारकों को कम करने तथा जननिक परामर्श **(genetic counseling),** शैक्षिक कार्यक्रमों की सहायता, बालकों एवं बालिकाओं के मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य की प्रोन्नति के लिए तथा सभी लोगों को समुचित भोजन की सलाह देने के उद्देश्य से ली जाती है (ऐलबी, 1979)।

गौण अथवा द्वितीयक निरोध का उद्देश्य ऐसी प्रारम्भिक खोजी पद्धतियों को उपलब्ध कराना है ताकि असामान्यता अपने प्रारम्भिक चरण से बढ़कर उग्र रूप न धारण कर ले। इसके लिए ऐसे उपायों की आवश्यकता है जिनकी सहायता से यह पूर्वानुमान लगाया जा सके कि किन लोगों के भविष्य में मानसिक एवं व्यावहारिक विकृतियाँ विकसित कर लेने की सम्भवना है। सामयिक उपचार व्यवस्था उपलब्ध कराकर मानसिक रोगों को दूर करने के उपचारात्मक उपाय किये जाते हैं। निरोध का तीसरा प्रकार उपचारोन्मुख होता है। इसके अन्तर्गत सद्यः विकसित मनोविकृतियों के प्रभावों और दुष्परिणामों को कम करने का उपाय किया जाता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न उपचार पद्धतियों तथा रोगियों के उपचारोपरान्त पुनर्वास के विभिन्न तरीकों को मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण हेतु अपनाया जाता है।

मानसिक रोगों की रोकथाम के लिए प्रमुखतः तीन दिशाओं तथा स्तरों पर जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कार्य करने की आवश्यकता होती है। जैविक स्तर पर गर्भधारण के समय से ही उपयुक्त चिकित्सा सेवायें उपलब्ध कराई जाती है ताकि नवजात शिशु शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ्य हो। इसमें प्रसूति सेवा और अनुवर्ती देखभाल सम्मिलित है। इस संदर्भ में जननिक उपायों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इन उपायों के अन्तर्गत प्रतिकूल आनुवांशिक संरचना वाले माता–पिता को बच्चे उत्पन्न करने से निरुसाहित किया जाता है। अमरीका के कुछ राज्यों में तो मानसिक मन्दन से पीड़ित व्यक्तियों का कानूनी तौर पर बन्ध्यंकरण किया जाता है। नियतन्त्रत प्रजनन यह अपेक्षा करता है कि इन उपायों को समाज विरोधी व्यक्तियों, मनोविदलन तथा कुछ अन्य व्यक्तित्व एवं आचरण सम्बन्धी रोगों से पीड़ित लोगों पर भी लागू किया जाय ताकि जन्मजात कुरचनाओं तथा क्रोमोसोमी विपथन से बचाव हो और अच्छी आनुवंशिकता का लाभ शिशुओं को प्राप्त हो सके।

मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति वह है जिसका व्यक्तित्व समायोजित हो और जिसमें स्वस्थ मूल्यों और अभिवृत्तियों के साथ–साथ उच्च मात्रा में प्रतिबल सहिष्णुता भी हो। यह तभी सम्भव हो सकता है जब व्यक्ति का व्यक्तित्व विकास स्वस्थ हो, आवश्यक क्षमतायें पर्याप्त विकसित हों, संवेगात्मक परिपक्वता हो, परिवार सदस्यों तथा कार्य–क्षेत्र में विभिन्न सह–कर्मियों के साथ समुचित समायोजन हो।

असामान्य व्यवहार में परिवेशीय तथा सामाजिक कारकों की प्रमुख भूमिका होती है। अतएव सामाजिक कारकों को ज्ञात करने के लिए क्षेत्रीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो अनुसन्धान किये जा रहे हैं उनमें संक्रामक रोग विज्ञान पर विशेष बल दिया जा रहा है। ऐसी आशा की जाती है कि इस प्रकार के अध्ययनों से विभिन्न संक्रामक रोगों के वितरण और संचार के ढंग को ज्ञात कर लिया जायेगा जो निकट भविष्य में अनेक रोगों को नियन्त्रित करने में सहायक सिद्ध होगा। आजकल संक्रामक रोग विज्ञान ;म्चपकमउपवसवहलद्ध निम्नलिखित दिशाओं में कार्यरत है और यह जानने का प्रयास कर रहा है कि इनका व्यक्ति के मानस पर क्या प्रभाव पड़ता है :

(i)आधुनिक तकनीकी (Technology) तथा स्वाचालित उपकरणों का समाज पर प्रभाव।

(ii) राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर घटित खतरों (जैसे आन्तरिक हिंसा, आतंकवाद, युद्ध) के प्रति निस्सहायता के कारण उत्पन्न होने वाला प्रतिबल और दुश्चिन्ता।

(iii)देश और विश्व में जनसंख्या विस्फोट।

(iv) परिवेशीय प्रदूषण।

उपचारात्मक उपाय (Curative measures)

मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने का यह दूसरा उपाय है जो इस बात पर बल देता है कि मानसिक रोगों से पीड़ित लोगों के उपचार की उचित व्यवस्था होनी चाहिये। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आज सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना की जा रही है। अमरीका में जान एफ. केनेडी ने 1963 कम्यूनिटी हेल्थ सेन्टर्स एक्ट पारित किया जिसके परिणामस्वरूप अमरीका में मानसिक रोगियों के उपचार हेतु अनेक केन्द्र खोले गये। इन केन्द्रों की स्थापना इस योजना के अन्तर्गत की जाती है कि रोगियों को उपचार हेतु दूर न जाना पड़े; ये केन्द्र रोगियों से सीधे अथवा किन्हीं स्वास्थ्य सेवी संस्थाओं के माध्यम से सम्पर्क करते हैं और उन दशाओं को दूर करने का प्रयास करते हैं जो रुग्णता अथवा अनुत्पादक जीवन का कारण हो सकती हैं। इन केन्द्रों द्वारा अध्यापकों, न्यायाधीधों मन्त्रियों, अधिकारियों तथा मिल मालिकों को मानसिक स्वास्थ्य के नियमों एवं सिद्धान्तों से अवगत कराया जाता है क्योंकि वे दूसरों के जीवन को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। इन केन्द्रों में वृत्तिक (Professionals) तथा गैर वृत्तिक उपचार कताओं को प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

समुदायिक मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं के जाल ;दमज़्वताद्ध में वहिर्अंग ;वनज चंजपमदजद्ध उपचार सेवायें, अन्तरंग देखभाल ;पदचंजपमदज बंतमद्ध, आपात् कालिक सेवायें (emergency services), परामर्श (consultation) तथा शिक्षा सम्मिलित हैं। इन पाँच मूलभूत सेवाओं की आवश्यकता सामुदायिक मानसिक स्वास्थ्य

केन्द्र क़ानून के अन्तर्गत राजकीय सहायता हेतु होती है। इन्हें व्यापक योजना के रूप में विकसित कर इनमें आंशिक चिकित्सीय, नैदानिक एवं पुनर्वासी, उपचार के पूर्व और उपचार के पश्चात् दी जाने वाली सेवायें समिमलित की जाती हैं। आवश्यकता पड़ने पर कार्मिकों को प्रशिक्षण, शोध तथा मूल्यांकन प्रक्रिया को भी इस योजना का अंग बना लिया जाता है।

संरक्षात्मक उपाय (Preservative Measures)

मानसिक स्वास्थ्य का यह पक्ष उन उपायों की जानकारी प्रदान करता है जिनको अपनाने से व्यक्ति को मानसिक रोगों से मुक्ति मिलती है तथा उसका मानसिक स्वास्थ्य बना रहता है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के दो प्रमुख लक्ष्य हैं– कुसमायोजन एवं मानसिक रोगों का निराकरण तथा समायोजन एवं मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा और उसको बनाये रखना। प्रथम लक्ष्य की सम्प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि चिकित्सक और चिकित्सालयों की संख्या पर्याप्त हो। इसके लिए विदेशों में सामान्य चिकित्सालयों के अतिरिक्त मानसिक रोगियों के लिए दिन और रात बहिर्अंग और अन्तरंग सेवायें उपलब्ध हैं जहाँ कोई भी मानसिक रोगी अपनी सुविधा और आर्थिक साधनों के अनुरूप जा सकता है। आपात् कालिक तथा उग्र मानसिक रोगों से पीड़ित लोगों के लिए अलग केन्द्र (crisis intervention centres) हैं।

चिकित्सालयों की बढ़ती हुई संख्या इस बात का प्रमाण है कि मानसिक रोगियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। इस मांग को पूरा करने के लिये गैर–व्यावसायिक (Non- professional) मनोरोग चिकित्सकों को प्रशिक्षण देकर तैयार किया जाता है। इस कार्य में माता–पिता, मित्र, स्वयंसेवक, अध्यापक सभी की मदद ली जाती है। भारत में योग्य मनोरोग चिकित्सकों के अभाव को देखते हुए इस प्रयोग को (जो विदेशों में सफल हुआ है) अपनाया जा सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा और मानसिक स्वास्थ्य को उपचारोपरान्त बनाये रखना अत्यन्त दुष्कर किन्तु आवश्यक कार्य है। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये सामाजिक योजना (Social planning), विभिन्न स्वास्थ्य, सेवाओं में परस्पर सहयोग, गैर–व्यावसायिक चिकित्सकों का प्रशिक्षण तथा मूल्यांकनात्म (evaluative), शोध अपेक्षित हैं (नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ मेंटल हेल्थ, 1975)। सामाजिक योजना के अन्तर्गत नये नगरों अथवा बड़े नगरों का विस्तार इस प्रकार किया जाता है कि वह स्वस्थ मानसिक जीवन के विकास में सहायक हो। परिवेशीय एंव परिस्थितकीय (ecological), मनोविज्ञान इस कार्य में सहायक सिद्ध हुआ है। जहाँ एक गैर–व्यावसायिक उपचारकर्ताओं का प्रश्न है इसमें माता–पिता, अध्यापक, स्वयंसेवक के अतिरिक्त आयुर्विज्ञान में प्रशिक्षित चिकित्सकों, परिचारिकाओं तथा पुलिस को भी सम्मिलित किया जा सकता है। आरम्भ में इनकी सहायता बालअपराधियों,

मद्यव्यसनियों तथा मादक औषधियों का सेवन करने वालों के लिए ली जा सकती है, तत्पश्चात् इनकी सेवओं का लाभ अन्य क्षेत्रों में लिया जा सकता है।

मानसिक रोग से मुक्त होने के पश्चात् रोगी के मन में आशंका बनी रहती है कि उसे उसके परिवारीजन, मित्र, स्कूल तथा कार्य पर स्वीकार किया जाएगा अथवा नहीं। इन भावनाओं की तीव्रता को कम करने तथा मानसिक स्वास्थ्य को स्थायी बनाने के उद्देश्य से चिकित्सालय तथा कम्यूनिटी के बीच आवास स्थापित किये जाते हैं जिन्हें 'हाफ वे हाउस' की संज्ञा दी गई है। यह आवास साधारणतया नगरों में होते हैं। इनमें रोगी को रहने के लिये एक कमरा, खाना तथा अन्य सुविधायें ;ब्वउचवतजेद्धए उपलब्ध की जाती हैं, इनका एक निरीक्षक होता है। यहाँ का वातावरण प्रजातान्त्रिक, अनौपचारिक, अनुज्ञात्मक तथा स्वायत्त होता है। यद्यपि यह आवास अनेक अर्थों में हॉस्पिटल के सदृ़श होता है क्योंकि इसका लक्ष्य भी रोगी को पुनर्वास में सहायता प्रदान करना तथा चिकित्सा करना है किन्तु कुछ अर्थों में यह एक बोर्डिंग हाउस के सदृश होता है क्योंकि यहाँ रोगी एक परिवार के सदस्य के रूप में रहते हैं और विभिन्न क्रियाओं में उनकी भागीदारी होती है। इन आवासों में एक–दो वर्ष रह लेने के उपरान्त जब रोगी विभिन्न आशंकाओं, और संवेगों से मुक्त होकर पर्याप्त आत्मविश्वास उत्पन्न कर लेता है तब उसे अपने वास्तविक घर जाने की अनुमति दी जाती है। सर्वेक्षणों के द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि इन आवासों में रहने के उपरान्त अधिकांश रोगी स्वस्थ मानसिक जीवन व्यतीत करते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य–विज्ञान का क्षेत्र

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का क्षेत्र वहाँ है जहाँ व्यक्ति को जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में प्रभावी अभियोजन स्थापित करने तथा शान्तिमय जीवन व्यतीत करने की कठिनाई और आवश्यकता का अनुभव होता है। व्यक्ति के समक्ष जीवन में ऐसी अनेक परिस्थितियाँ और समस्यायें आती हैं जिनका सामना करने और समाधान प्राप्त करने में वह विफल होता है। फलतः उसमें कुंठा, द्वन्द, तनाव और दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है जो उसके सन्तुलन और समायोजन को भंग कर सकता है और व्यक्ति को असामान्यता की ओर धकेल देता है। मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान इस प्रकार के लोगों की सहायता करता है और उन्हें स्वास्थ मानसिक जीवन की दिशा में अग्रसर करता है। इस दृष्टि से मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। इसकी परिधि में बच्चे, किशो, युवक, वृद्ध, स्त्रियाँ एवं पुरुष, धनी एवं निर्धन सभी आ जाते हैं क्योंकि सभी को समायोजन करने में कठिनाइयों का अनुभव होता है। मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान जहाँ एक ओर द्वन्द, कुँठा आदि से बचाव के उपाय उपलब्ध कराता है वहीं दूसरी ओर समायोजन स्थापित करने में सहायता भी देता है। वैसे तो मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है किन्तु इसके कुछ विशिष्ट क्षेत्रों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

(1) परिवार में मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान— परिवार को अधिकतर व्यक्तित्व दुष्क्रियाओं, मानसिक मन्दन तथा अन्य कुआभियोजी व्यवहारों के लिये उत्तरदायी ठहराया जाता है। मनोगत्यात्मक सिद्धान्तवादियों ने तो जीवन के प्रारम्भिक पाँच वर्षों को व्यक्तित्व निर्माण के मूल वर्ष कहे हैं। इस आयु में यदि बालक की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता तो उनका संवेगात्मक विकास सामान्य नहीं होता। बालक को यदि परिवार में तिरस्कार, उपेक्षा, असुरक्षा और स्नेहाभाव का अनुभव होता है तो उसका व्यक्तित्व विकास दोषपूर्ण होता है और वह संवेगात्मक समस्याओं का शिकार हो जाता है जो भविष्य में विकृत व्यक्तित्व अथवा असामान्य लक्षणों का कारण बन जाता है।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए आज माता–पिता की शिक्षा ;च्तमदजंस मकनबंजपवदद्ध पर विशेष बल दिया जाने लगा है ताकि उनमें इतनी सुदृढ़ता उत्पन्न हो जाये कि वे स्वयं जीवन के प्रतिबलों का सफलतापूर्वक सामना कर सकें और बालकों के स्वास्थ मानसिक विकास में बाधक न हों। माता–पिता की शिक्षा को प्रभावी बनाने के लिये सामूहिक बहस, व्याख्यान, फिल्मों तथा जनसंचार साधनों (बड़े समूहों के लिये) का उपयोग किया जाता है। शिक्षा के इन कार्यक्रमों में पिछले दशक में पर्याप्त वृद्धि हुई है। कुछ देशों में शिशु–पालन के प्रति बढ़ती हुई भय की मनोवृत्ति को कम करने के लिये स्त्रियों की शिक्षा पर अधिक जोर दिया जा रहा है।

युवा–युवतियों में बढ़ती हुई मादक द्रव्य व्यसनिता के विषय में बहुधा माता–पिता को जानकारी नहीं हो पाती क्यों कि वे मादक द्रव्यों के प्रकारों, सेवन विधियों तथा प्रभावों के विषय में पूर्णतः अनभिज्ञ होते हैं। इस प्रकार के अन्य आचरण सम्बन्धी दोषों एवं व्यक्तित्व विकृतियों के विषय में माता–पिता की अज्ञानता बालकों को सामयिक रोक–टोक और परामर्श से वंचित रखती है जिसका परिणाम कालान्तर में घातक होता है। इसी प्रकार कुछ बच्चे आत्मलीन ;नजपेउद्धए होते हैं जिन्हें यदि प्रारम्भ में ही माता–पिता के सहयोग से ठीक किया जा सकता है किन्तु अधिकांश माता–पिता इसके लक्षणों से अपरिचित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि माता–पिता को शिक्षित कर, उनसे चिकित्सक का कार्य लिया जा सकता है। इस उपाय से मानसिक अस्वस्थता के घटनाक्रम को काफी कम किया जा सकता है।

(2) विद्यालय और मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान— मानसिक स्वास्थ्य सेवा कार्य अध्यापकों द्वारा भी किया जाता है किन्तु इस कार्य में प्रशिक्षित न होने के कारण वे अपने इस दायित्व का निर्वाहन नहीं कर पाते। हम सभी इस बात से अवगत है कि बालकों के व्यवहार पर शिक्षकों के व्यक्तित्व और उनके कथनों का गहरा प्रभाव पड़ता है। वाल्यावस्था में बच्चे माता–पिता से अधिक शिक्षक के निर्देशों का पालन करते हैं। अतएव यदि वे ईमानदारी से किन्हीं व्यवहारों को बालक को सिखाने का प्रयास करें तो उसका सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा।

किशोरावस्था में पदार्पण करने पर बालक–बालिकाओं में होने वाले शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक परिवर्तन उन्हें अधिक संवेदनशील बना देते हैं। इस अवस्था में अध्यापक से अधिक समवयस्क मित्रों ;चममतेद्ध का

प्रभाव बालक पर पड़ता है। इस आयु में बालक कॉलेज में प्रवेश करता है, उसकी जीवन शैली बदल जाती है, विपरीत लिंग के सदस्यों में रुचि बढ़ जाती है और जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है। अनेक परिवर्तनों के कारण उसे अनेक परिस्थितियाँ प्रतिबलपूर्ण प्रतीत होती हैं जिनके साथ समायोजन स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव करता है। समवयस्क मित्रों की भूमिका ऐसे समय में अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। कुछ तो प्रतिबल और समायोजन की समस्या के समाधान में सहायक होते हैं और कुछ इनके निदान को और कठिन एवं दुरुह बना देते हैं। इस स्थिति में शिक्षकों का मार्गदर्शन बहुत मूल्यवान होता है। वे उपयुक्त परामर्श एवं निर्देशन द्वारा छात्र के मानसिक स्वास्थ्य को विघटित होने से बचा सकते हैं।

(3) समाज और मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान– व्यक्ति का जन्म, पालन–पोषण और प्रारम्भिक विवृद्धि और समाजीकरण पारिवारिक परिवेश में होता है। जैसे–जैसे उसकी आयु बढ़ती है वह अन्य लोगों के सम्पर्क में आता है, उनसे अन्तः क्रिया करता है और इस प्रक्रम में उसका व्यक्तित्व, अभिप्रेरणा तथा अभिवृत्तियाँ प्रभावित होती हैं। अन्तः क्रिया तीन स्तरों पर होती है– व्यक्ति से, व्यक्ति की समूह से और एक समूह की दूसरे समूह से। इन अन्तः क्रियाओं के फलस्वरूप उसके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ और समस्यायें आती हैं जिनका निराकरण वह अपने समाजीकरण और अन्तःक्रियात्मक अनुभवों के आधार पर करता है। कभी–कभी व्यक्ति अपने इस प्रयास में विफल होता हे और उसमें तनाव, कुंठा, संघर्ष तथा स्थिति से पलायन की भावनायें उत्पन्न होती हैं अर्थात् परिवेशीय एवं सामाजिक समस्याओं के प्रति समुचित समायोजन स्थापित नहीं कर पाता और मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। इन सबसे बचाव के उपाय मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान में उपलब्ध हैं जिनका प्रयोग कर व्यक्ति अपने समायोजन और सन्तुलन को बनाये रख सकता है।

समाज में आज अनेक ऐसे भौतिक कारक हैं जो व्यक्ति के व्यवहार को विविध रूपों में प्रभावित करते हैं। इन भौतिक कारकों में अनुपयुक्त आवास, घनी एवं गन्दी बस्तियाँ, वायु प्रदूषण, खुले स्थानों का अभाव (विशेषकर बड़े नगरों में) तथा मनोरंजन के समुचित साधन आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इन भौतिक दशाओं के विषय में निःसंकोच इतना तो कहा जी जा सकता है कि इनसे मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता, हानि अवश्य होती है। भौतिक परिवेश के ये परिवर्त्य अमनोवैज्ञानिक प्रतीत हो सकते हैं किन्तु इनका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अवश्य पड़ता है। आश्चर्य की बात है कि आज का प्रगतिशील मनुष्य "प्रगति" को शक्ति चालित वाहनों, स्वचालित मशीनों और 6 घण्टे टी.वी. देखना, समझता है किन्तु इससे होने वाली असीम शारीरिक और मानसिक हानि को नहीं जानता। मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान ने इन सामाजिक दुष्प्रभावों से बचने के लिए सामाजिक योजना (Social Planning) की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जो भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थों के साथ–साथ व्यक्तिगत तथा सामाजिक मूल्यों की ओर भी ध्यान देती है। उदाहरण के लिए परिवार का आकार और अति भीड़ (over crowding)समस्या एक–दूसरे से सम्बन्धित हैं। भावी समायोजन और असामान्यता की समस्याओं को भीड़ कम कर सके।

हम लोग इस बात से भी अवगत हैं कि समाज और परिवेशीय शक्तियाँ अनेक प्रकार के कुआभियोजी व्यवहारों का सृजन करती हैं। इनमें से कुछ कुआभियोजी व्यवहारों, जैसे दुर्भीति, व्यामोह आदि, का उपचार व्यक्तिगत आधार पर (व्यवहार परिमार्जन विधियों जैसे मनोपचार, विसुग्राहीकरण ;कमेमदेपजप्रंजपवदद्ध किया जा सकता है किन्तु मानव की अनेक समस्याओं के दीर्घकालिक समाधान के लिये सामाजिक परिवर्तन अपेक्षित होगा। चूँकि सामाजिक तन्त्र के साथ छेड़–छाड़ खतरे से खाली नहीं कहा जा सकता अतएव अधिकांश मानसिक रोगों के समाधान तथा सामाजिक सन्तुलन और समायोजन से लिये मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान में सुझाये गये उपायों से ही सन्तोष कर लेना श्रेयस्कर होगा।

(4) अपराध के क्षेत्र में मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान—समाज की व्यवस्था और सदस्यों की सुरक्षा के लिये कुछ नियम और कानून होते हैं। इन्हें तोड़ने वाले व्यक्ति को अपराधी कहा जाता है। अपराधी की आयु कुछ भी हो सकती है। अपराध करने वाले अधिकांश व्यक्ति कुसमायोजित होते हैं। कुसमायोजन अथवा ‌ राध की प्रवृत्ति अनेक कारणों से उत्पन्न होती है। इन कारणों में आर्थिक विपन्नता, बेरोजगारी, दूषित आवासयी परिवेश, अनैतिक पारिवारिक वातावरण, भग्न परिवार, दोषपूर्ण अनुशासन, माता–पिता का उपेक्षात्मक व्यवहार विशिष्ट हैं। इनमें से कोई एक या कई का संयोजन व्यक्ति में कुसमायोजन उत्पन्न कर सकता है जिसकी परिणति आपराधिक क्रियाओं में होती हैं। मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के विविध नियमों, जैसे अपने तथा दूसरों के प्रति आदर की भावना, अपनी तथा दूसरों की सीमाओं को जानना, व्यवहार में कारणात्मक क्रमिकता का अभिज्ञान तथा ,इस बात का बोध कि किसी व्यक्ति का व्यवहार उसके ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक पक्षों से अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्ति का प्रतिफल होता है, का उपयोग कर अपराध के कारणों को सुनिश्चित किया जाता है तथा अपराधी में सुधार लाने का प्रयास किया जाता है।

(5) औद्योगिक क्षेत्र और मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान—किसी भी क्षेत्र में औद्योगिक एवं अन्य अच्छे निष्पादन और कार्यकुशलता के लिये आवश्यक है कि उस क्षेत्र में कार्य करने वाले कार्मिक शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ हों। यही कारण है कि औद्योगिक जगत में कर्मचारियों की कार्यकुशलता बढ़ाने तथा अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए मिल मालिक उनके आवास, मनोरंजन तथा अन्य कल्याणकारी योजनाओं का प्रबन्ध करते हैं। विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों में मनोवैज्ञानिकों की नियुक्ति (श्रमिकों तथा प्रबन्धकों में अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिये) आज मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये ही की जाती है।

(6) मानसिक विकार और मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान—अनेक मानसिक रोगों के निवारण तथा असामान्य व्यवहारों के निरोध में मानसिक स्वास्थ विज्ञान प्रमुख भूमिका निभाता है। उपयुक्त उपचारात्मक विधियों द्वारा मानसिक विकारों पर नियन्त्रण प्राप्त करने लेने के उपरान्त मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों का उपयोग

कर रोगी को इस योग्य बनाया जाता है कि वह सन्तुलित एवं समायोजित जीवन व्यतीत कर सके। इसके लिये आवश्यक है कि उसके अनियमित जीवन को नियमित बनाया जाय। इससे उसके विभिन्न व्यवहारों में प्राप्त अधिकता (extremism)कामुक, सांवेगिक आदि जो असन्तुलित व्यवहार का मूल कारण होती है शनैः शनैः सामान्य हो जाती है। समायोजित व्यवहार को समाज की स्वीकृति मिलती है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में आत्मविश्वास उत्पन्न होता है और वह अपने जीवन लक्ष्यों का चयन स्वयं करने लगता है। इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान की मदद से एक असामान्य व्यक्ति धीरे–धीरे सामान्य व्यवहार करने के योग्य हो जाता है।

15.5.6 मानसिक स्वास्थ विज्ञान का महत्व और उपयोगिता

निरोधात्मक, उपचारात्मक तथा संरक्षणात्मक मूल्य– मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के विषय में अभी तक जो कुछ कहा गया है उससे पाठक यह निष्कर्ष निकालने की भूल कर सकते हैं कि इसकी मुख्य उपयोगिता मात्र लोगों को असन्तुलित एवं असमायोजित (असामान्य) व्यवहार करने से बचाना है। निरोध तो मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का केवल एक पक्ष है। इसका महत्व केवल मानसिक विकृतियों और व्यवहार विकारों के निरोध तक सीमित नहीं है बल्कि यह स्वास्थ और सामान्य व्यक्तियों के लिये भी महत्वपूर्ण और उपयोगी है। यह जहाँ एक ओर मनोविकृतियों के निरोध और उपचार में सहायक है वहाँ दूसरी ओर समायोजित व्यक्तित्व के निर्माण और उसकी रक्षा भी करता है। अर्थात् इसकी उपयोगिता केवल निरोधात्मक ;चतमअमदजपअमद्ध अथवा उपचारात्क (curative)नहीं है वरन् संरक्षणात्मक (preservative)भी है।

सामाजिक मूल्य–मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का सामाजिक महत्व भी है। यह विज्ञान इस प्रकार के नियमों व साधनों को बताता है जिनका अनुपालन और उपयोग कर स्वस्थ, सन्तुलित और समायोजित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इस प्रकार के स्वस्थ सदस्यों से निर्मित समाज सुखद और शान्त होगा। सुखद और शान्त समाज में लोगों को अपनी क्षमताओं–उत्पादन तथा सर्वनात्मक–को विकसित करने का पूरा अवसर मिल सकेगा। अतएव स्वस्थ और उन्नतशील समाज के निर्माण के लिए मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है।

बाल–निर्देशन सम्बन्धी महत्व–बाल–निर्देशन कार्य में रत कार्मिकों के लिये मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का समुचित ज्ञान परमावश्यक है। बाल–निर्देशन का लक्ष्य बालकों का शारीरिक एवं मानसिक विकास, संवेगात्मक विकास, उपयुक्त सामाजिक एवं शैक्षणिक विकास तथा उचित नैतिक विकास प्राप्त करना होता है जिसे मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के ज्ञान के बिना प्राप्त कर सकना कठिन होगा। चूँकि बालक के सन्तुलित विकास में पालन–पोषण और समाजीकरण की प्रमुख भूमिका रहती है अतएव माता–पिता को विशेष रूप से मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान की जानकारी होनी चाहिये। बाल–निर्देशन में उनका प्रमुख दायित्व होता है। वे बालक को वास्तविकता तथा

आत्म–अवधोध करा सकते हैं, चिन्ता को स्वीकार करना तथा प्रतिरक्षात्मक मनोरचनाओं को त्यागना सिखा सकते हैं, अन्तर्द्वन्द व निराशा को कम करना, कुंठा–सहिष्णुता, संवेगों को अभिव्यक्त करना तथा अन्य व्यक्तियों का स्वीकरण सिखला सकते हैं। यह मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान की कुछ ऐसी विशेषतायें है जो बालक के समायोजित विकास के लिये आवश्यक हैं। बाल–निर्देशन की प्राथमिक जिम्मेदारी का निर्वाह माता–पिता सफलतापूर्वक तभी कर सकेंगे जब उन्हें अपने इस दायित्व का अहसास है और वे यह जानते हों कि उन्हें क्या करना है।

व्यक्तित्व सम्बन्धी महत्व— मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का ज्ञान सन्तुलित व्यक्तित्व विकास–शारीरिक, बौद्धिक तथा संवेगात्मक के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि संतुलित व्यक्तित्व विभिन्न परिस्थितियों के साथ साक्षात्कार करने और समायोजन को बनाये रखने में सहायक होता है। ऐसे व्यक्तित्व के लोगों में भावना की पर्याप्त गहनता है (अत्यधिक भावुक नहीं होते), संवेगात्मक अभिव्यक्तियों पर नियन्त्रण, आत्म तथा दूसरों के बारे में बोध, तथा दूसरों के अधिकारों, आवश्यकताओं और उत्तरदायित्वों की समझ होती है। व्यक्तित्व की यूनिटी और इंटिग्रिटी को बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि आवश्यकताओं और परिस्थितियों की माँगों की ओर संवेदनशील ढंग से अनुक्रिया की जाय। यह सब तभी सम्भव है जब व्यक्ति का स्वास्थ व्यक्तित्व विकास हुआ है। स्वस्थ व्यक्तित्व विकास में मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान से अत्यधिक सहायता मिलती है।

अन्तर्राष्ट्रीय समस्या

मानसिक स्वास्थ्य एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। यद्यपि विश्व में मानसिक विकारों के घटनाक्रम को ज्ञात करना असम्भव है किन्तु मोटे अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसका घटनाक्रम अति अधिक हैं और इसके बढ़ने की गति तीव्र है। भारत में एक सर्वेक्षण के आधार पर यह बताया गया है कि भारत में कम से कम दो प्रतिशत लोग अर्थात् एक करोड़ सत्तर लाख लोग विभिन्न मानसिक रोगों से ग्रस्त हैं जिन्हें मानसिक चिकित्सा की आवश्यकता है। इनके उपचार के लिये 38 आरोग्यशालाओं में कुल 25,000 शय्यायें हैं जिनमें लगभग 500 चिकित्सक उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि उपचार की सुविधाओं की कितनी अधिक आवश्यकता है।

मानसिक विकार, युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय तनाव आदि एक–दूसरे से सम्बन्धित समस्यायें हैं। विश्व में घटित कोई बड़ी घटना अन्य देशों को आवश्यक रूप से प्रभावित करती है। उदाहरण के लिये 1990–91 में हुए अरब–ईराक युद्ध ने विश्व के सभी देशों को न्यूनाधिक प्रभावित किया। युद्ध की सम्भावना सभी के मन में दुश्चिन्ता उत्पन्न करती है। आज युद्ध की आशंका से विश्व के अधिकांश देश अपने रक्षा बजट पर, देश की अन्य आवश्यकताओं की उपेक्षा कर, बहुत अधिक धन व्यय करते हैं। यदि रक्षा बजट पर व्यय किये गये धन का आधा भाग भी स्वास्थ्य, शिक्षा और निर्माण कार्यों पर व्यय किया जाए तो विश्व का रूप ही बदल जाये और विश्वजन अधिक सुखी जीवन जी सकें। द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका ने विश्वजनों को झकझोर दिया जिसके फलस्वरूप अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का

जन्म हुआ। इस संदर्भ में विश्व स्वास्थ्य संगठन, **(W.H.O.)**यूनेस्को और विश्व मानसिक स्वास्थ्य संघ **(World federationformental Health)**के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन का प्रमुख कार्य शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित संस्तुतियाँ करना है जिन्हें सदस्य राष्ट्र पूरा करने का प्रयास करते हैं। संगठन के प्रथम महानिदेशक ब्राक चिशहोम ने 1948 में कहा था कि विकास की इस सर्वाधिक संकटपूर्ण अवस्था में मानव जाति की नाजुक आवश्यकता मानव को समझने और ऐसी विधियों के विकास की है जिनके द्वारा वह अपने साथियों के साथ शान्तिपूर्वक रह सकें।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की मानसिक स्वास्थ्य विशेषज्ञ समिति ने मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्यों को निश्चित किया। समिति ने यह निर्णय लिया कि लोगों के सामान्य कल्याण और शारीरिक स्वास्थ्य के साथ–साथ मानसिक स्वास्थ्य के विकास और उपलब्ध सुविधाओं के उपयोग की ओर यथाशीघ्र ध्यान देना आवश्यक है। इस समिति ने समस्त सदस्य देशों में मनोचिकित्सीय सुविधाओं के विकास में सहायता प्रदान की। इस समिति ने अनेक महत्वपूर्ण विषयों जैसे मद्य व्यसनिता, मादक औषधि सेवन, मातृवंचन, बालापचार तथा बालापराध पर अध्ययन करवाये। विश्वस्वास्थ्य संगठन का मुख्य कार्यालय जिनेवा में है और क्षेत्रीय कार्यालय अफ्रीका, अमेरिका, दक्षिण पूर्व एशिया, यूरोप, मध्यपूर्व और पश्चिम प्रशानत देशों में है। यह संगठन सदस्या देशों की मूल आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करता है।

संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति संगठन (यूनेस्को) का उद्देश्य विभिन्न राष्ट्रों में सहयोग को प्रोत्साहित कर शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति द्वारा शान्ति और सुरक्षा में योगदान करना है ताकि विश्व में किसी जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना न्याय की सत्ता और मानव अधिकारों और मूल स्वतन्त्रता के लिये सम्मान को बढ़ाया जा सके। यूनेस्को ने मानसिक स्वास्थ के लिये अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। जैसे उसने मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित अनेक अध्ययन और प्रोजेक्टों के आयोजन किये हैं। इन अध्ययनों में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, विभिन्न सभ्यताओं में अन्तर (इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय रूढ़ियों का अध्ययन किया गया), अविवृत्ति निर्माण और परिवर्तन (इसके अन्तर्गत पूर्वाग्रहों पर अध्ययन किया गया), जनसंख्या समस्या और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, टेकनालोजी के प्रभाव, प्रदूषण प्रभाव आदि विशिष्ट हैं।

विश्व मानसिक स्वास्थ संघ की स्थापना 1948 में लंदन में हुई थी। इस संघ में अनेक गैर सरकारी संगठन और व्यक्ति सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य विश्व में मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि करना है। पचास से अधिक देश इस संघ के सदस्य हैं। यह संघ मानसिक स्वस्थ से सम्बन्धित सूचनायें एकत्र कर संयुक्त राष्ट्र संस्थाओं की सहायता करता है। इस संघ ने भी मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित अनेक अध्ययन किये हैं जिनमें औद्योगीकरण का मानसिक स्वस्थ्य पर प्रभाव विशिष्ट है।

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान का विकास तथा वर्तमान मानसिक स्वास्थ्य सेवायें, सांवेगिक रूप से पीड़ित रोगियों के साथ लम्बी अवधि तक किये जाने वाले दुर्व्यवहार की परिणति हैं। मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि मानसिक रोगियों को प्रताड़ित किया जाता था तथा उन्हें समाज से पृथक् कर दिया जाता था क्योंकि मानसिक रुग्णता को भूत–पिशाचों से उद्भूत समझा जाता था। बीसवीं शताब्दी में इसे प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न समझा जाने लगा और उनके साथी मानवीय व्यवहार किया जाने लगा। सही अर्थों में मानसिक रोगियों के साथ व्यवहार और उनके उपचार में सुधार पिछले चार–पाँच दशकों में हुआ।

आधुनिक मानसिक चिकित्सालयों की दशा आज भी अधिकांश उन्नतिशील देशों में सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती क्योंकि रोगियो के अनुपात में चिकित्सकों, और शय्याओं की संख्या बहुत कम है। वर्तमान समय में रोगी को चिकित्सालयों में न रखकर उन्हें गृह उपचार सेवाओं, खुले हुए अस्पतालों तथा हाफ–वे गृहों में रखना अधिक लाभकारी समझा जाता है। 1970 के दशक के पश्चात् विकसित देशों में सामुदायिक मानसिक स्वास्थ्य सम्प्रत्यय की लोकप्रियता में वृद्धि हुई है। इसके अन्तर्गत उन सभी रोगियों को मानसिक स्वास्थ्य देशभाल (Mental Health Care) परामर्श, तथा शैक्षिक सेवायें उपलब्ध कराई जाती हैं जो इनका माँग करते हैं। वहिर्अंग रोगियों के लिये कुछ नई सुविधायें जैसे सर्व उद्देशीय संकटकालीन व्यवधान परक सेवायें (all-purpose crisis intervention services), मित्र सहायता केन्द्र (peer help centre)आरम्भ की गई हैं। इसी के साथ–साथ माता–पिता एवं गैर व्यवसायिक (non professionals) लोगों का समुचित प्रशिक्षिण उपरान्त मनोपचारकर्ता के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रयोग की सफलता से सुयोग्य एवं प्रशिक्षित मनोरोग चिकित्सकों की कभी बहुत हद तक पूरी हो सकेगी। भारत में अभी इन नई सुविधाओं और प्रयोगों का आरम्भ नहीं हुआ है। आशा है कि प्रशासन इस ओर ध्यान देगा और मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु इस विषय में शीघ्र कोई निर्णय लेगा।

आप एक व्यक्ति हैं

संसार में जितने प्राणी हैं, उनमें मनुष्य, प्रकृति की अद्भुत रचना है। यह सर्वोत्कृष्ट है जो अन्य जीवों के बारे में चिन्तन करता है, सोचता है, समझता है। कल्पना करिये कि यदि यह संसार मानव विहीन होता तो कैसा होता? कौन किसे समझाता, कौन किसको समझता। सम्भवतः इस संसार का कोई दूसरा स्वरूप होता। इसलिए आप संसार की एक महत्वपूर्ण रचना हैं। आपसे प्रकृति को, अन्य जीवों को, मानव समाज को ढेर सारी अपेक्षायें हैं। आपको उनकी अपेक्षाओं को समझना होगा अन्यथा आपमें और अन्य प्राणियों में क्या अन्तर होगा। यह आपकी जिम्मेदारी है कि सर्वप्रथम आप यह स्वीकार करें कि आप एक व्यक्ति हैं। जब तक आप अपने को व्यक्ति नहीं

मानेंगे तथा तद्नुरूप आचरण नहीं करेंगे तब तक आपका कोई व्यक्तित्व हो ही नहीं सकता। इसलिए प्रथमतः आप यह जानें कि आप एक व्यक्ति हैं। क्यों ? क्योंकि–

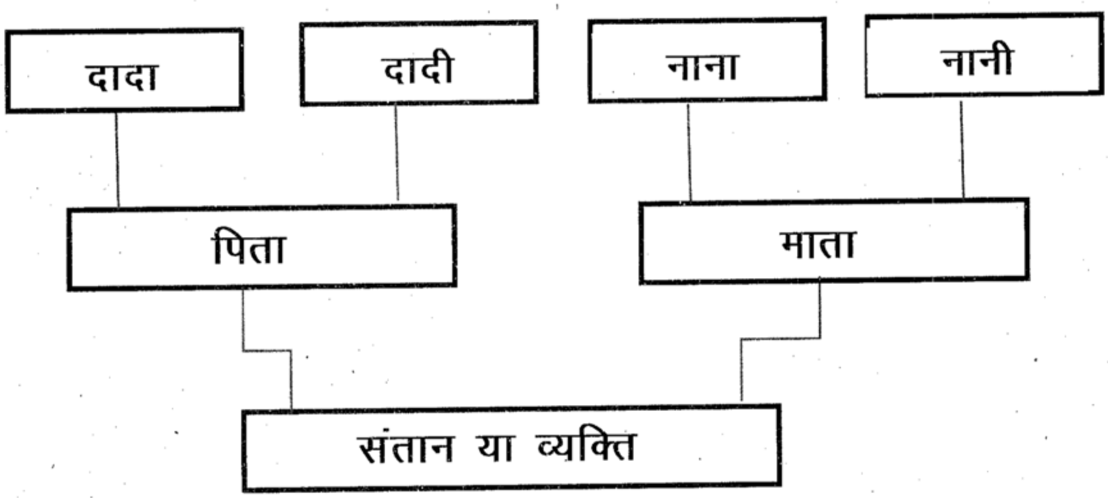
"अव्यक्त की व्यक्त में अभिव्यक्ति ही व्यक्ति है।"

वह प्राणी अथवा जीव जो अमूर्त को, अप्रत्यक्ष को, अप्रकट को, अव्यक्त को स्पष्ट करने की क्षमता न रखता हो, जो दूसरे को समझने और समझाने की योग्यता न रखता हो वह व्यक्ति हो ही नहीं सकता। व्यक्ति में ये सभी योग्यतायें होती हैं, इसलिए आप एक व्यक्ति हैं।

व्यक्ति विवेकशील एवं स्वतन्त्र प्राणी है और वह सभी पदार्थों का मानदण्ड है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है, किन्तु समाज–स्त्रष्टा एवं इतिहास–स्त्रष्टा ही इतिहास पटल पर अंकित होता है।

आप बोलते हैं, आपके पास भाषा है, बुद्धि है, विवेक है, निर्णय की क्षमता है। आप दूसरे को समझने का प्रयास करते हैं, इसलिए आपका अपना व्यक्तित्व है। वह व्यक्तित्व कैसा है? दूसरे से अच्छा है या खराब है। आप अपने व्यक्तित्व को और अच्छा बना सकते हैं तो फिर प्रयास क्यों नहीं करते। मेरी समझ से आपको कठिनाई वहाँ आती है जब आप अपने को दूसरे से ऊँचा समझते हैं या अपने को दूसरों से कमजोर समझते हैं। आप अपना सही मूल्यांकन नहीं कर पाते। इसलिए अपने व्यक्तित्व को गढ़ने में चूक कर जाते हैं। यह कमी आपमें कहाँ से उत्पन्न होती है। इसको समझ लें फिर आगे के बिन्दुओं पर हम विचार करेंगे।

व्यक्ति की उत्पत्ति–जीव वैज्ञानिकों का विचार है कि शारीरिक विकास प्रारम्भ होने के पूर्व प्राणी आकार में केवल एक पिन के सिरे के बराबर होता है। गर्भकाल में उसके शरीर का विकास प्रारम्भ हो जाता है। गर्भकाल में ही समस्त शरीर रचना, भार और आकार में वृद्धि तथा आकृतियों का निर्माण हो जाता है। प्रत्येक बच्चे की रचना में जो आनुवांशिक गुण कार्य करते हैं उनमें आधे पितृवंश से तथा आधे मातृवंश से प्राप्त होते हैं। अतः व्यक्ति की आनुवांशिकी में दोनों पक्षों के गुणों का समावेश होता है। अतः आप इतना तो जान ही गये कि आपके शरीर की रचना और आपके गुणों एवं अवगुणों के निर्माण में आपके पितृपक्ष एवं मातृपक्ष का योगदान है। यदि आपका व्यक्तित्व सन्तुलित है तो आपके होने वाले वंशजों में आनुवांशिकी गुण सकारात्मक भूमिका निभायेंगे और यदि आप अपने व्यक्त्वित्व को समझ ही नहीं पाते तो आपकी आने वाली अनेक पीढ़ियाँ इससे प्रभावित होंगी। तो अभी आपके पास बहुत वक्त है, आप अपने व्यक्तित्व की वास्तविकता को समझें, उसे परखें तथा आवश्यकता हो तो उसमें सुधार करें।



व्यक्तित्व को समझें अथवा व्यक्तित्व है क्या ?

आधुनिक सन्दर्भो में व्यक्तित्व –आजकल हर जगह व्यक्तित्व विकास की बात की जा रही है। यहाँ तक कि अब यह कैप्सूल के रूप में बिकने भी लगा है। इसके ग्राहक कतारबद्ध हैं। व्यक्तित्व विकास फैशन बन गया है। कुछ आधुनिक वैज्ञानिक इसकी अभियांत्रिकी की रचना करने में भी लगे हैं। सम्भव है कि वह दिन भी आ जाय जब इसकी तकनीक ;ज्मबीदवसवहलद्ध उपलब्ध हो जाय पर अभी यह मुश्किल दिख रहा है। जहाँ देखिये वहीं व्यक्तित्व विकास (Personality development) का फैशन।

व्यक्तित्व का अर्थ आज के परिप्रेक्ष्य में बहुत सरल है जहाँ इसका आशय निम्नलिखित रूप में लिया जाता है–

- आपका वाह्य रूप आकर्षक है या नहीं।
- आपका पहनावा युगानुकूल है या नहीं।
- विभिन्न भाषाओं पर आपकी पकड़ है या नहीं।
- सामने वाले व्यक्ति को उलझाने में आप सक्षम हैं या नहीं।
- आपका व्यवहार परम्परागत है अथवा आधुनिक।
- झूठ ऐसा बोलें जो सत्य से भी अधिक सत्य लगे।
- वादा तोड़ने में सक्षम हैं या नहीं।

- दिखवा की प्रवृत्ति आप में है या नहीं।
- अन्दर से भले ही कमजोर हो पर बाहर से पुख्ता दिखने की क्षमता है अथवा नहीं।
- अन्दर हालाहल विष हो पर सबसे मीठा बोलना।
- अपना स्वार्थ किसी भी कीमत पर साधना पर परमार्थ का ढ़ोग।
- अपनी सोच, को ही सही सिद्ध करने का गुण इत्यादि। पर क्या यही व्यक्तित्व है ? यह विचारणीय प्रश्न है।

व्यक्तित्व उन सांस्कृतिक आदर्शों से प्रभावित होता है जिनमें व्यक्ति उत्पन्न होता है तथा अपना पालन–पोषण करता है। प्रायः व्यक्ति 'वंशानुक्रम गुणित वातावरण' की उपज है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे स्वभाव, चरित्र, क्षमता, रुझान एवं प्रतिभा और सामाजिक दृष्टि से विचारों, मूल्यों, आदर्शों गतिविधियों और जीवन में स्थिति आदि के सन्दर्भ में भिन्न होने के कारण अलग स्नायु के होते हैं। व्यक्ति के मानसिक गुणों का आधार उच्चतर स्नायु क्रियाशीलता में उपलब्ध होता है और व्यक्तिगत अन्तर का यह एक कारण है। इस सन्दर्भ में डॉ. वी.के. पाण्डेय (1990) बताते हैं–

"व्यक्ति अपने साथ कुछ प्रकार के स्नायु क्रिया–कलाप" साथ लेकर इस जगत में आता है और उसका अपना स्थायित्व होता है। स्वभाव कुछ जन्मजात होता है किन्तु कुछ परिवर्तन व्यक्ति के कर्म के अनुसार होता रहता है। प्रतिभा जन्मजात है, परन्तु योग्यता बुद्धिपूर्वक परिश्रम से परिवर्द्धित होती है। बुद्धि, समझ–शक्ति, मेधा, कल्पना, ग्रहणात्मक सोचना, नूतन विचारों का अभ्युदय, निर्णयात्मक विचार, रचनात्मक कार्य, कार्य क्षेत्र निर्धारण, पूर्व विचारों का पुनर्विन्यास, वार्ता, लेखन आदि से विचारों को रूप देना व्यक्तित्व को सजीव, गम्भीर एवं निर्भीक बनाता है। जीवन में लक्ष्य, उत्साह, रुचि, मनोभावना, विचारों का घ्रुवीकरण अन्तश्चेतना एवं आत्म–सूचना, आत्म–सूचना एवं अभिलाषा, आत्म–सूचना एवं दृढ़–संकल्प, आत्म–सूचना एवं आत्म–विश्वास, एकाग्रता एवं रुचि से अध्ययन, उत्साह से अध्ययन, क्रियाशील अध्ययन, अध्ययन एवं सोचना, अध्ययन को चित्त में अंकित करना एवं स्मृति आदि व्यक्तित्व को विकसित करने का आधार है। दृढ़ आत्म–विश्वास, दृढ़ इच्छा शक्ति, कथन एवं कर्म में संतुलन, वर्तमान का सदुपयोग, सात्विक आहार एवं नियन्त्रित दैनिक जीवन व्यक्तित्व को तेजोद्दीप करता है।"

वास्तविक व्यक्तित्व – वुडवर्थ ने बताया कि–"व्यक्तित्व व्यक्ति के समस्त व्यवहार की विशेषता **(quality of anindividual's total behaviour)** है।"

आलपोर्ट ने बताया कि–"Personality is the dynamic organisation within the individual of those psychophysical systems that determine his unique adjustment to his environment."अर्थात् व्यक्तित्व व्यक्ति के मनोदैहिक गुणों का वह गत्यात्मक संगठन है जो परिवेश के साथ उसके समायोजन को निर्धारित करता है।

उक्त परिभाषा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्तित्व व्यक्ति के विभिन्न शीलगुणों का केवल योग नहीं होता बल्कि उसके समस्त शीलगुण (trait)परस्पर संगठित होते हैं। यह संगठन जितना ही उत्तम होगा व्यक्तित्व उसी सीमा तक अच्छा माना जायेगा। गत्यात्मक का अभिप्राय निरन्तर, सतत् विकसित होने वाली चीज से है। इसका आशय यह हुआ कि व्यक्तित्व किसी खास समय में ही निर्मित नहीं होता अपितु यह सतत् और जीवनपर्यन्त चलता है।

स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व में– शारीरिक, मानसिक, सामाजिक पक्ष सम्मिलित होते हैं किसी एक पक्ष से व्यक्तित्व का निर्माण नहीं होता। अतः व्यक्तित्व का निर्धारण करते समय उपरोक्त तीनों पक्ष पर ध्यान देना जरूरी है।

अब आप यह देखें कि उपरोक्त तीनों पक्ष में क्या–क्या आते हैं।

शारीरिक पक्ष–शरीर का गठन, रूप, रंग स्वास्थ्य आदि।

मानसिक पक्ष–बौद्धिक क्षमता, ज्ञान, सीखने की क्षमता, संज्ञानात्मक सक्षमता (Cognitive Competence) आदि।

सामाजिक पक्ष–अन्य व्यक्तियों या समूहों के साथ समायोजन, नेतृत्व सक्षमता, सामाजिक अन्तःक्रिया आदि।

उपरोक्त तीन पक्षों के आपसी अन्तर्क्रिया (interaction) से ही व्यक्तित्व संगठित होता है।

शीलगुण–व्यक्तित्व का सर्वाधिक अहम् पक्ष शीलगुणों (traints)का स्थायित्व हैं। हर व्यक्ति के अन्दर अनेक शीलगुण पाये जाते हैं किन्तु किसी एक व्यक्ति में एक प्रकार के शीलगुण की प्रधानता पायी जाती है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि केवल उन्हीं शीलगुणों को किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग समझना चाहिए जिनके भीतर स्थायित्व हो। उदाहरणार्थ–

यदि कोई व्यक्ति अधिकांश परिस्थितियों में ईमानदारी का प्रदर्शन करता है किन्तु एकाध परिस्थिति में उसे झूठ बोलने पर मजबूर होना पड़ता है तो सच्चाई को ही उसके व्यक्तित्व का शीलगुण माना जाना चाहिए न कि झूठ को।

व्यक्तित्व के स्थायी शीलगुण—व्यक्तित्व के शीलगुणों से उन स्थायी विशेषताओं का बोध होता है जो उसके व्यवहार और समायोजन को निर्धारित करती है। कुछ विशिष्ट शीलगुण इस प्रकार हैं—

- सामाजिकता (Sociability)
- संवेगात्मकता (Emotionality)
- प्रभुत्व (Dominance)
- विनीतता (Submssiveness)
- ईमानदारी (Honesty)
- सहिष्णुता (Tolerance)

इन शीलगुणों का विकास आनुवांशिक और सामाजिक—सांस्कृतिक वातावरण की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप होता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्धारण में शीघ्रता से निर्णय न कर उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर निर्णय करना चाहिए। आशा है आप व्यक्तित्व की गहराई को अब थोड़ा—बहुत समझ गए होंगे पर मात्र इतने से ही कार्य नहीं चलेगा। आपको यह भी जानना होगा कि मानव जब जन्म लेता है तो वह कुछ विशिष्ट मूलप्रवृत्तियों (instincts) को साथ लेकर पैदा होता है। उन्हीं प्रवृत्तियों के हिसाब से उसकी आवश्यकतायें जन्म लेंती हैं। यदि इस पर ध्यान न दिया जाय तो व्यक्ति का व्यक्तित्व विध्वंसात्मक हो जायेगा। इसलिए आनुवांशिकता और वातावरण को सुदृढ़ रखकर व्यक्ति के व्यक्तित्व को सार्थक बनाया जा सकता है।

एरिक्सन द्वारा चिह्नित मनोसामाजिक संकट

अवस्था	संकट	उचित भाव	अनुचित भाव
0 से 11/2वर्ष	विश्वास Vs अविश्वास	सुरक्षा, संरक्षा	असुरक्षा, चिन्ता
11/2 से 3 वर्ष	स्वतन्त्रता Vs आत्म संदेह	अपने बारे में अच्छी अनुभूति	अपने ऊपर आत्म नियन्त्रण का संदेह

3 से 6 वर्ष	पहल प्रवृत्ति Vs अपराध	पहल करने का आत्म–विश्वास	आत्मलानत
6Z से वयः सन्धि	सक्षमता Vs हीन भावना	प्राथमिक सामाजिक एवं बौद्धिक कुशलता की शुद्धता, साथियों में स्वीकार्यता	आत्म विश्वास की कमी, असफल होने का भय
किशोरावस्था	पहचान Vs भूमिका सन्देह	व्यक्ति के रूप में संतोष	विखण्डित व्यक्तित्व
पूर्व युवावसथा	आत्मीयता Vs अलगाव	सन्निकटता एवं बचनबद्धता	अकेलापन की अनुंभूति, अलगाव की भावना
मध्य युवावस्था	जननात्मकता Vs रुद्धता	परिवार, समाज एवं भावी पीढ़ी के बारे में चिन्तन	भविष्य उन्मुखता की कमी
उत्तर युवावस्था	अहम तादात्म्य Vs हतोत्साह	जीवन में सन्तुष्टि	जीवन से निराशा

आप उपरोक्त सारणी को देख सकते हैं और समझ सकते हैं कि बच्चा जब एक व्यक्ति के रूप में इस संसार में आता है तो पितृवंश एवं मातृवंश के गुणसूत्र उसके साथ जन्म से होता है। जन्म के बाद वह वातावरण के सम्पर्क में आता है जो अति महत्वपूर्ण होता है। वहाँ से माँ–बाप की असली जिम्मेदारी शुरू होती है। बच्चे के व्यक्तित्व का निर्माण यहीं से प्रारम्भ होता है।

बच्चा जब कुछ करता है, माँगता है और माँ–बाप जब उस पर प्रतिक्रिया करते हैं तो बच्चे के सामने संकट उठ खड़ा होता है। यदि बच्चे के समीप रहने वाले लोग उसकी देखभाल, सेवा और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति

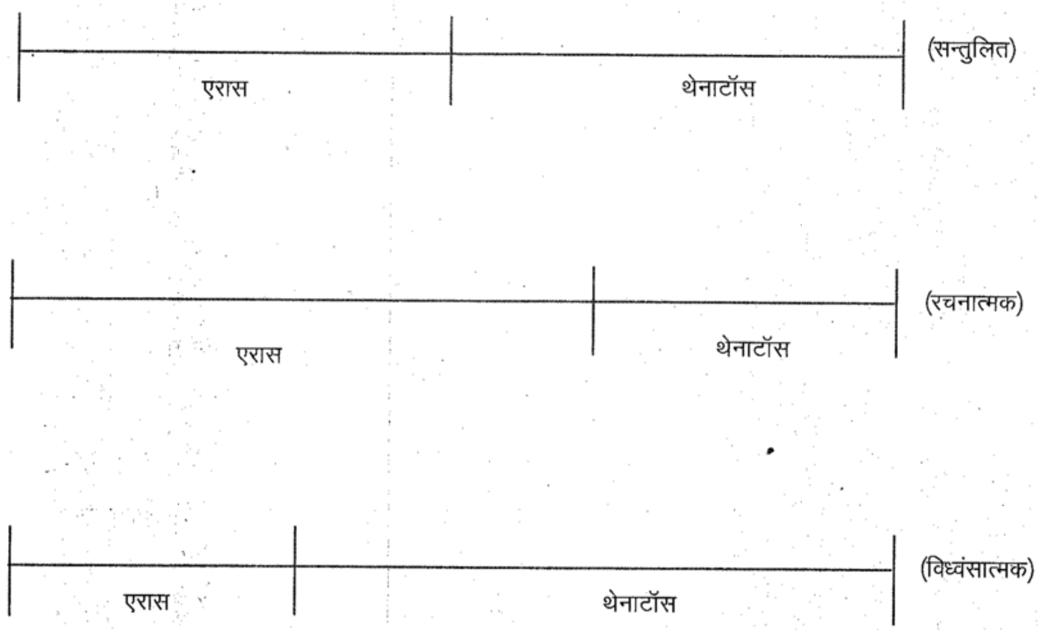
ठीक ढंग से करते हैं तो वह उन पर भरोसा ;जनतेजद्ध करता है। किन्तु जब लोग उसकी उपेक्षा करते हैं तो वह उनके प्रति अपने मन में अविश्वास का भाव रखता है। इसी प्रकार अन्य अवस्थाओं में भी यदि बच्चा सन्तुष्ट रहता है तो उसके मन में उचित भाव उत्पन्न होते हैं अन्यथा वह अनुचित भाव का शिकार हो जाता है तथा उसका व्यक्तित्व विकृत हो जाता है।

मूलप्रवृत्ति (Instinct)

सिगमण्ड फ्रायड ने व्यक्ति के अन्दर दो प्रकार के मूलप्रवृत्तियों की चर्चा की है–

प्रथम–एरास (जीवन मूलप्रवृत्ति या रचनात्मक मूलप्रवृत्ति)

द्वितीय– थेनाटॉस (मृत्यु मूलप्रवृत्ति या विध्वंसात्मक मूलप्रवृत्ति)



अर्थात् जब बच्चा पैदा होता है तो उसके अन्दर दो मूलप्रवृत्तियाँ सन्तुलित अवस्था में होती हैं। वातावरण के साथ अन्तःक्रिया करके वह असन्तुलित होती हैं। यदि अच्छा वातावरण मिला तो रचनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण होता है अन्यथा व्यक्ति में विध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ उद्भूत हो जाती हैं। व्यक्तित्व ऋणात्मक दिशा में मुड़ जाता है।

मूल प्रवृत्तियों के विकास का धरातल वातावरण है जैसा एरिक्सन ने बताया है कि यदि बच्चे को संतुष्टि मिली तो उसके अन्दर धनात्मक भाव उत्पन्न होते जाते हैं और अगर असंतुष्टि मिली तो ऋणत्मक भाव। ऋणात्मक भाव के अन्तर्गत–

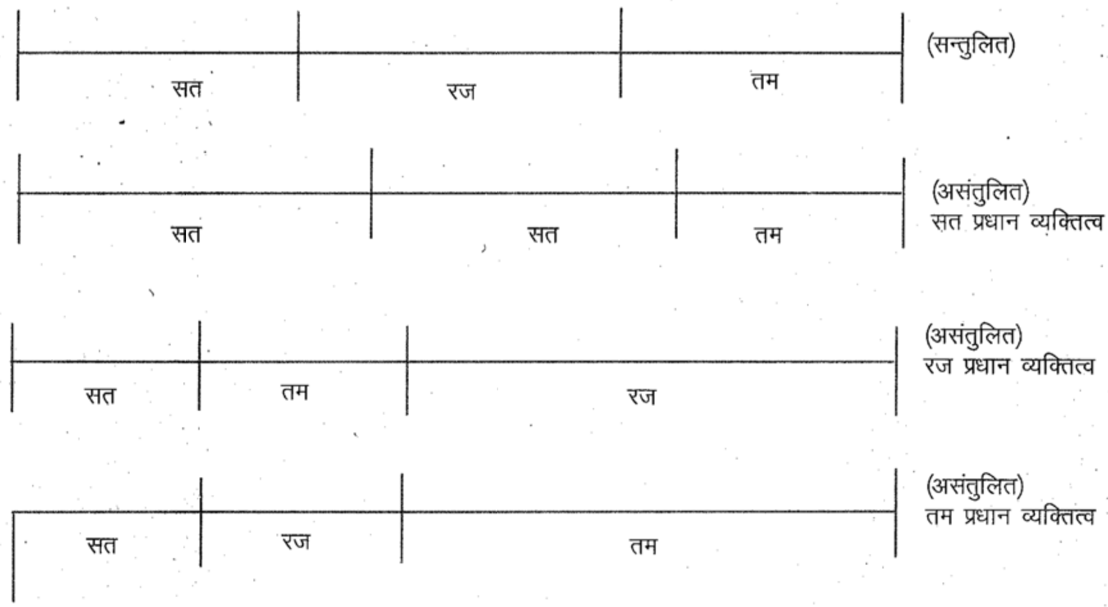
- अविश्वास
- आत्म संदेह
- अपराध
- हीन भावना
- भूमिका संदेह
- अलगाव
- अवरुद्धता
- हतोत्साह

आते हैं। यही भाव व्यक्ति के अव्यक्तित्व को विध्वंसात्मक अथवा थेनाटॉस प्रवृत्ति की तरफ मोड़ देते हैं। अतः आवश्यक है कि बच्चे का पालन–पोषण सही तरीके से हो तथा उसके अन्दर सकारात्मक सोच भरी जाय। उसके अच्छे कार्यों पर, उसे प्रोत्साहित किया जाय तथा बुरे कार्यों को, प्रेमपूर्वक समझा–बुझा कर छुड़ाया जाय।

त्रिविध व्यक्तित्व (त्रिगुण)

भारतीय वाग्डमय में व्यक्तित्व को समझने की बहुत कोशिश की गई है तथा वैदिक साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व आध्यात्मिक जीवन, भावनाओं मनस्थितियों, प्रवृत्तियों, उद्देश्यों, चेष्टाओं एवं विचारों का पूर्ण संकलन है जो व्यक्ति के कार्यों एवं व्यवहारों से प्रदर्शित होता हैं । सांख्य के विकासवाद सिद्धान्त में पदार्थ के मूलतः एक अभिन्न, अव्यक्त रूप में अस्तित्वमान होने की संकल्पना व्यक्त की गई है। ये गुण हैं– सत्व, रज एवं

तम। सत्व का स्वभाव प्रकाश, रज का क्रिया और तम का स्थिति है। ये तीनों प्रवृत्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती है; किन्तु जिनकी प्रबलता होती है वही रूप व्यक्तित्व में अधिक प्रदर्शित होता है।



भौतिक जगत में सात्विक, राजस एवं तामस व्यक्तित्व क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं अधम है। यहाँ भी यह ध्यातव्य है कि जन्म के समय बच्चे में ये तीनों गुण अथवा प्रवृत्तियाँ संतुलित रूप में रहती हैं। धीरे–धीरे विकास क्रम में वातावरण के साथ अन्तक्रिया के कारण ये असंतुलित होते जाते हैं। जिस परिवार में जिस तरह का गुण हावी रहता है, बच्चे का गुण भी उसी दिशा में मुड़ जाता है। ऊपर के रेखाचित्र से स्पष्ट है कि जन्म समय में सत् रज और तम बच्चे में संतुलित अवस्था में रहते हैं पर जैसे–जैसे वातावरण में गड़बड़ी होती जाती है, गुण भी असंतुलित होते जाते हैं। हाँ, एक बात और ध्यान देने योग्य है कि बच्चे में जन्म के समय ये तीनों गुण सन्तुलित अवस्था में ही होंगे।

फ्रायड द्वारा प्रस्तुत मूलप्रवृत्ति का सम्प्रत्यय सम्भवतः इसी दिशा से तालमेल खाता है। अन्तर है तो सिर्फ इतना कि उसने दो मूल प्रवृत्तियाँ बतायीं और भारतीय दर्शन में तीन मूल प्रवृत्तियों का वर्णन मिलता है।

मुखौटा–छाया (The Persona and Shadow)

युंग का विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान निःसन्देह एक अद्वितीय सोच है जो न केवल फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के विपरीत है अपितु पाश्चात्य मनोविज्ञान जगत में एक अप्रत्यक्ष ललकार है। हालांकि, वहाँ युंग को फ्रायड जैसा

स्थान नहीं मिल पाया लेकिन उसके स्थान प्राप्ति का समय आ रहा है। व्यक्ति, देश, काल और स्थान की वजह से यश और अपयश प्राप्त करता है। पाश्चात्य जगत का विचार जहाँ एक तरफ बहिर्मुख है युंग वहाँ अचानक विपरीत दिशा में मुड़ने का प्रयास करते हैं। सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि नदी की तेज धार को भीष्म जैसे महारथी ही विपरीत दिशा में मोड़ सकते हैं। साधारण मानव के बस की यह चीज नहीं है। युंग का प्रयास भी ऐसा ही है जहाँ समूचा पाश्चात्य जगत एक तरफ भौतिक दुनिया में प्रवेश करने के लिये छटपटा रहा है युंग अचानक आध्य मातृशक्ति (nature) और सनातन पुरुष (purush) की दिशा में मुड़ते दिखते हैं जिसका आधार शुद्ध रूप से आध्यात्मिक है। युंग के कृतित्व के महत्व का समय स्वतः आ रहा है जिसकी चर्चा इसी अध्याय के अन्त में की जायेगी।

विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में मानव व्यवहार और उसकी चित्तीय क्रियाविधि को समझने के लिये युंग धड़ल्ले से मुखौटा (persona) और छाया (Shadow) शब्दों का प्रयोग करते हैं और विश्व को एक रंगमंच मानते हैं जहाँ हरेक व्यक्ति अपनी–अपनी भूमिका को निवाहने में लगा है। भूमिका के निर्वहन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति मुखौटे का प्रयोग करे अन्यथा यह नंगा हो सकता है क्योंकि मूलरूप से मनुष्य नंगा ही है उस नंगेपन से बचने के लिए वस्त्राभूषण इत्यादि का प्रयोग आवश्यक होता है। इसी तरह व्यक्ति, परिवार और समाज में भी अपनी अलग–अलग भूमिका को करता है। जहाँ जिस तरह की भूमिका आवश्यक होती है, मानव को करनी पड़ती है अर्थात् भूमिकाओं में परिवर्तन के लिये मुखौटों में भी परिवर्तन करना पड़ता है। इससे हम सहज अनुमान कर सकते हैं कि एक तो व्यक्ति मूलतः नंगा, उस नंगेपन और पहिचान के लिए मुखौटा, फिर भिन्न–भिन्न भूमिका में भिन्न–भिन्न मुखौटे इत्यादि ऐसे सत्य हैं जो गत्यात्मकता की तरफ इंगित करते हैं।

बी.एम. उपाध्याय लिखते हैं कि– "सामाजिक जीवन निर्वाहन के लिये व्यक्ति को भी प्रायः मुखौटा धारण कर अभिनय करना पड़ता है। व्यक्ति को अपनी योग्यता, शिक्षा, व्यवसाय अथवा कार्य के क्षेत्र के अनुरूप एक सामऽज्स्यकारी आवरण धारण करना पड़ता है और प्रायः वाह्य जगत अथवा वृहद् मानव समाज उसको उसके इस वाह्य नाम रूप मुखौटे के माध्यम से ही जानता पहचानता है, और उसके अनुसार ही प्रायः समाज उसकी स्थिति की प्रतिष्ठा करता है। अतः मुखौटा धारण करना भी एक सामाजिक अनिवार्यता है, अन्यथा समाज, व्यक्ति को स्वीकार करने अथवा पहिचानने से भी इनकार कर सकता है। यह अस्वीकृति व्यक्ति के अहम् (ego)को ठेस पैदा कर सकती है, जिससे व्यक्ति का समूचा व्यक्तित्व विकृत हो सकता है। वाह्य जगत अथवा समाज की वृद्धि का अब तक इतना विकास नहीं हुआ है कि वह लाखों–करोड़ों व्यक्तियों में से प्रत्येक का अलग–अलग हिसाब रख सके तथा प्रत्येक व्यक्तित्व की अलग–अलग विशिष्टता का सही मूल्यांकन कर सके। उसको अपने चेतन में व्यवस्थित कर सके। इसलिए वह व्यक्ति को उसके व्यवसाय, धन्धे अथवा पद के माध्यम से ही जानता, पहिचानता है।"

मुखौटा का सही प्रयोग आवश्यक होता है। कब, कैसे मुखौटे पहने जायँ ? इसके लिए समाज का आंकलन आवश्यक है।

कब, किस तरह का मुखौटा प्रयुक्त हो?

व्यक्ति ज़हाँ एक तरफ वैयक्तिक है तो दूसरी तरफ सामाजिक भी। इसलिए व्यक्ति की भूमिका भी वैयक्तिकता से सामाजिकता की तरफ अग्रसर होती है फिर भूमिका सामाजिक से वैयक्तिकता के तरफ अग्रसरित होती है। ऐसी स्थिति में सन्तुलन एवं सामञ्जस्य की बहुत आवश्यकता पड़ती है। यदि सन्तुलन में अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न होती है तो भयावह परिस्थिति बन जाती है। केन्द्र में व्यक्ति ही होता है और व्यक्ति के केन्द्र में चित्त। इसलिए पूरी की पूरी जिम्मेदारी व्यक्ति अथवा उसके चित्त पर आ जाती है। समाज, व्यक्ति से सामाजिक भूमिका की अपेक्षा रखता है और यह भी चाहता है कि वह व्यक्ति ही सामाजिक आचार–विचार के अनुरूप मुखौटा धारण करे। जब व्यक्ति मुखौटा एक बार लगा लेता है तो समाज चाहता है कि वह उसी मुखौटे में बार–बार आये। इसके एक तरफ व्यक्ति अपनी मूल भूमिका से बनावटी भूमिका में पदार्पण कर जाता है वहीं उसे बनावटी भूमिका में अपने परिवार में भी वापस आना पड़ता है। व्यक्ति का 'स्व' दोषयुक्त हो सकता है, बनावटी हो सकता है। वही धारण किया हुआ मुखौटा व्यक्ति को कभी–कभी परेशान कर देता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति जो पुरुष है वह नृत्य को अपना व्यवसाय चुनता है और हमेशा नृत्य करते रहने से उसके अपने असली रूप का विकास सही समय पर नहीं हो पाता और उसमें स्त्रियोचित लोच उत्पन्न हो जाता है। इस उदाहरण से हम सहज कल्पना कर सकते हैं कि मुखौटा हमेशा लाभप्रद नहीं होता।

वास्तव में मुखौटा एक नकली आवरण है जो मानव में इसी प्रकार के गुण को उत्पन्न करता है। यदि इसको अपनाना आवश्यक है तो व्यक्ति को उस समय अपने विवेक का इस्तेमाल करना आवश्यक है। उसे अपने विवेक से यह निर्धारित करने की आवश्यकता है कि वह किस प्रकार के मुखौटे का प्रयोग करे अन्यथा उसके मुखौटे रूपी आवरण को स्वीकार करने का लक्ष्य ही त्रुटिपूर्ण हो जायेगा और जहाँ एक ओर वह समायोजन की बात सोचता है दूसरी तरफ वह समाज में समाज विरोधी (anti-Social) सावित हो सकता है। युंग का कहना है कि– "अहम् ;महवद्ध चेतन को तो समझता है और उसके स्वरूप तथा व्यापार के बारे में भी जानता है परन्तु अचेतन को वह मात्र इसके बारे में अनुमान लगा सकता है। अतः अहम् के द्वारा चेतन का सम्पूर्ण भाग तथा अचेतन का अनुमान ये दोनों मिलकर चित्त की क्रिया को बहुत अंशों तक सरल बना सकते हैं और जो व्यक्ति इसके निर्देश पर सही आवरण या मुखौटा चुन लेता है वह बहुत हद तक सफल भी रहता है। वह अपनी भूमिका का निर्वहन भी कर सकता है। उसका व्यक्तित्व सकारात्मक दिशा में प्रभावी होगा। जो व्यक्ति इसके विपरीत मुखौटे का चयन करते हैं उनकी जीवन शैली, उनका व्यक्तित्व विकृत हो सकता है।"

युग की यह व्याख्या भी सटीक लगती है क्योंकि सम्पूर्ण मानव अपनी–अपनी बुद्धि के अनुसार इस लोक में अपना जीवन–यापन कर रहे हैं। कोई कुछ बनकर अपनी भूमिका निर्वाह कर रहा है तो कोई कुछ बनकर। व्यक्ति सबकुछ बूझ–समझकर भी अनजान बना रहता है, वह इस बात को भी भूल जाता है कि वह खाली हाथ आया था और खाली हाथ ही जायेगा। इस खाली हाथ को इसी संसार में भरता है और भरी सामग्री को इसी संसार में में छोड़ जाता है। मुखौटा उसकी भूमिका के लिए आवश्यक है अन्यथा उसकी सरलता से पहचान हो सकती है क्योंकि वह तो एक नंगा इन्सान था। छाया **(Shadow),**मुखौटा का विपरीत रूप है यह असुन्दर है, यह अशिव है, यह असत्य है। युंग इसे व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष मानते हैं। जब चेतन मन को कोई चीज अच्छी नहीं लगती तो उससे अहम् को परेशानी उत्पन्न होने लगती है। मुखौटा व्यक्ति जब प्रयोग करता है तब वह उसी प्रकार का व्यवहार भी करता है, जब मुखौटे के अनुरूप व्यवहार किया जा रहा हो और उस समय चेतन मन में मुखौटे के विपरीत कोई चीज आ रही हो तो चेतन स्तर पर ही अन्तर्द्वन्द्व **(conflict)**और संघर्ष शुरू हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में अहम् परेशान हो जाता है, इस परेशानी से बचने के लिए अहम् उस विरोधी, अनैच्छिक प्रवृत्तियों को अचेतन स्तर में धकेलने का प्रयास करता है और वे वृत्तियाँ अचेतन के वैयक्तिक स्तर पर पहुँच जाती हैं तथा उसका हिस्सा बन जाती हैं। इस तरह एक–एक करके उनका जमावड़ा वहाँ होता जाता है। इसी जमावड़े को युंग छाया **(Shadow)** का नाम देते हैं। इस प्रकार युंग मुखौटे और छाया को एक घटने वाली घटना मानते हैं और मुखौटा जो वाह्य वातावरण में प्रयुक्त होता है, छाया आन्तरिक घटना है जो अचेतन के तरफ अभिमुख है।

युंग का मानना है कि समाज में जितनी ही अधिक पारदर्शिता होगी, लोगों को उतना ही कम मुखौटों का प्रयोग करना पड़ेगा तथा जब मुखौटों का कम प्रयोग होगा तब व्यक्ति अपना सुन्दर जीवन व्यतीत कर सकेगा अन्यथा हमारा अचेतन दूषित होता चला जायेगा और हमारा समाज में जीना दुरूह होगा। हर तरफ आवरण ही आवरण होगा, वास्तविकता का दर्शन दुर्लभ हो जायेगा, हम अपने को समझने में असमर्थ से असमर्थ होते चले जायेंगे। इसलिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी अच्छाई और बुराई का सामना चेतन स्तर पर ही धैर्यपूर्वक कर ले ताकि उसका निराकरण उसी स्तर पर हो जाय, जिससे हमारा आन्तरिक चित्त निर्मल बन सके। आन्तरिक चित्त जितना ही अधिक निर्मल होगा व्यक्ति की सोच, उसका विचार, उसके कार्य उतने ही अधिक कल्याणकारी होंगे।

छाया रूपी बुराइयाँ जहाँ व्यक्तिगत स्तर पर एकत्रित होती हैं, वहीं कभी–कभी सामूहिक अचेतन में पड़ी हुई वृत्तियाँ भी बाहर निकलने के लिए छटपटाती रहती हैं। संयोगात यदि दोनों स्तर की अचेतन विद्रोही वृत्तियाँ एक साथ उफान मारने लगें और चेतन भयभीत हो रहा हो तो ये छायाएँ सामान्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को तहस–नहस कर डालती हैं, समाज का वातावरण विषाक्त होने लगता है जहाँ श्वांस दूभर प्रतीत होता है।

व्यक्तित्व सिद्धान्त

सामाजिक अधिगम सिद्धान्त –बैण्डूरा ने व्यक्तित्व विकास में आदर्श **(model)** और अनुकरण की प्रणाली पर बल दिया है। इस सिद्धान्त का सार यह है कि बालक अनेक व्यवहार अपने परिवेश में अनेक व्यक्तियों के व्यवहारों का अनुकरण कर सीखता है। यहाँ तक कि आक्रामक व्यवहार का विकास भी नमूनों के अनुकरण पर निर्भर होता है। प्रारम्भ में बच्चे के लिए माता–पिता और परिवार के वयस्क सदस्य आदर्श का कार्य करते हैं, आगे चलकर वह अपने साथियों का अनुकरण करता है और किशोरावस्था में सामाजिक नेताओं, शिक्षकों एवं आदर्श पुरुषों को नमूने के रूप में स्वीकार करता है।

अतः इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के निर्माण का आधार आदर्श व्यक्तित्व है।

विशेषक सिद्धान्त –विशेषक (trait) व्यक्ति के व्यवहारों की ऐसी स्थिर विशेषता है जो विविध प्रकार की परिस्थितियों में प्रकट होती है। हम किसी व्यक्ति को ईमानदार, किसी को उत्साही, किसी को भावुक, किसी को जिद्दी आदि कहते हैं। ये सारे शब्द विशेषण हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के प्रमुख लक्षणों को व्यक्त करते हैं। इन्हीं लक्षणों को विशेषक ;जतंपजद्ध कहा जाता है।

आलपोर्ट के अनुसार, विशेषकों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और उनके 3 प्रकार होते हैं–

- मूलभूत **(Cardinal)**
- केन्द्रीय **(Central)**
- अनुषंगी **(Secondary)**

मूलभूत प्रवृत्ति एक सामान्य झुकाव है जिसका व्यापक प्रभाव व्यक्ति की समस्त क्रियाओं पर पड़ता है। जैसे एक कलाकार को कला के उच्चतम शिखर पर पहुँचने की तीव्र आकांक्षा रहती है और वह हर समय इसी प्रयत्न में लगा रहता है। इन प्रवृत्तियों का व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

केन्द्रीय प्रवृत्ति उतने व्यापक प्रभावशाली नहीं होती फिर भी पर्याप्त प्रभावशाली होती है। अन्तर्मुखता **(introversion),** मतान्धता **(dogmatism),** आत्मनिर्भरता **(Self- reliance)** आदि इसी वर्ग की प्रवृत्तियाँ हैं।

अनुषंगी प्रवृत्तियाँ अधिक सतही स्वरूप की होती हैं जो सभी में होती हैं। विशेष भोजन, विशेष ढंग की पोशाक आदि की पसन्द अनुषंगी प्रवृत्ति के अन्तर्गत आते हैं।

ये तीनों प्रवृत्तियाँ व्यवहार में ऐसी व्यापक स्थिरता, निश्चितता एवं स्थायित्व उत्पन्न करती हैं, जिसे मानव व्यक्तित्व कहा जाता है।

मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तित्व एक व्यापक सम्प्रत्यय है जिसमें चार बातें महत्वपूर्ण हैं–

- व्यक्तित्व गतिकी **(Personality dynamics)**
- व्यक्तित्व संरचना **(Personality Structure)**
- व्यक्तित्व रक्षा–तन्त्र **(Defense mechanism)**
- व्यक्तित्व विकास **(Personality development)**

व्यक्तित्व गतिकी – फ्रायड ने यह विचार दिया कि प्रत्येक वयवहार के घटित होने के पीछे एक निश्चित कारका का योगदान दोता है। यह विचार इस दर्शन पर अवलम्बित है कि कोई घटना बिना कारण के नहीं घटती। इसलिए व्यक्ति के व्यवहार के पीछे भी कोई न कोई कारण अवश्य होता है जो अचेतन मन में रहता है। इसके लिए उसने एक सामान्य कारक ;काम प्रवृत्ति-model) खोज निकाला और इसे ही व्यवहारों के घटित होने का अभिप्रेरक माना लेकिन कुछ दिनों के पश्चात् उसने एक और कारक को महत्व दिया और कहा कि यह कारक भी पहले कारक की तरह व्यवहार को निर्धारित करता है। उसका नाम फ्रायड ने आक्रमण–प्रवृत्ति **(Aggressive instinct)** दिया। इन दोनों के कार्यों का विभाजन करते हुए फ्रायड ने स्पष्ट किया कि काम–प्रवृत्ति जीवित रहने की इच्छा तथा प्रक्रिया में वृद्धि करती है तथा आक्रमण–प्रवृत्ति विध्वंसक कार्यों की ओर मानव को प्रवृत्त करती है। इस प्रकार फ्रायड ने व्यक्तित्व की गतिकी माना।

व्यक्तित्व रचना—व्यक्तित्व क रचना तीन प्रकार के तन्त्रों से होती है–

- इदम् **(Id)**
- अहम् **(Ego)**
- पराहम् **(Super ego)**

फ्रायड ने बताया कि इदम् व्यक्तित्व का वह तन्त्र है जो पूर्णतः अचेतन मन में रहता है। यह अपनी तृप्ति यथाशीघ्र चाहता है। आनन्द इसका लक्ष्य है इसलिए यह अत्यधिक उग्र एवं अविवेकी होता है। अहम् यथार्थता की खोज करता तथा सामाजिक माँगों के अनुकूल अपने को ढालता है। इसलिए यह यथार्थ के सिद्धान्त से संचालित

होता है। व्यक्तित्व रचना का उच्चतम पक्ष पराहम् है जो आदर्श की खोज करता है तथा उसी के अनुसार चलता भी है। तीनों का समन्वित विकास आवश्यक है। इनमें से किसी एक का विकास अवरुद्ध होता या संतुलन बिगड़ता है तो मनोविकृति उत्पन्न हो सकती है तथा व्यक्तित्व के निर्माण में बाधा खड़ी हो सकती है।

व्यक्तित्व और मन– मन के तीन स्तर बताये गये हैं–

- चेतन मन **(Conscious mind)**
- अवचेतन मन **(Sub conscious mind)**
- अचेतन मन् **(Unconscious mind)**

चेतन मन, मन का एक छोटा भाग है जिसको हम हर समय अनुभव करते हैं। चेतन मन के पीछे अवचेतन होता है जो बहुत बड़ा हिस्सा होता है। चेतन की सामग्री इसी अवचेतन से आती है और इसी में चली जाती है। अचेतन सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्सा है जो अवचेतन के पीछे है। इस भाग में व्यक्ति की अधिकांश इच्छायें, प्रेरणाएँ अपनी मौलिक जैविक शक्तियों के रूप में रहती हैं।

सुरक्षात्मक युक्तियाँ –इदम् अपनी माँगों को येन–केन प्रकारेण पूरा करना चाहता है, वही पराहम् तथा वातावरण के बीच आपस में संघर्ष चलता रहता है क्योंकि दोनोंको संचालित करने वाले तत्वों के बीच अन्तर्विरोधी सम्बन्ध होता है तो तनाव में वृद्धि हो जाती है। इसे कम करने या सामंजस्य बिठाने में अहम् की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इस कार्य हेतु अहम् जिन तरीकों को अपनाता है उसे सुरक्षात्मक युक्तियाँ कहा जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि व्यक्तित्व के निर्माण में इन सुरक्षात्मक युक्तियों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि इनका प्रयोग ही किसी विशेष प्रकार के व्यक्तित्व की, विशेष परिस्थिति में रक्षा करने के लिए किया जाता है। इसलिए इनके विस्तार में जाने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

व्यक्तित्व–विकास–फ्रायड ने व्यक्तित्व के विकास को स्पष्टरूप से मनोलैंगिक विकास **(psychosexual development)** भी कहा है अर्थात् फ्रायड, व्यक्तित्व और काम के बीच उच्च सम्बन्ध देखता है। व्यक्ति के विकास में काम **(Sex)** की भूमिका हर अवस्था में महत्वपूर्ण होती है। व्यक्तित्व का विकास, फ्रायड के अनुसार पाँच अवस्थाओं में होता है। इनका अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

प्रथम अवस्था– 'मुखावस्था' –मुखावस्था को फ्रायड ने दो भागों में बाँटा। प्रथम नौ महीने की अवस्था को उसने मुख–चूषण **(oral-sucking)** अवस्था कहा तथा बाद के नौ महीने की अवस्था को मुख–दर्शन

(oral-biting) अवस्था। प्रथम अवस्था में बच्चे अपने आनन्द की प्राप्ति चूषण क्रिया से करते हैं। दाँत निकलने के बाद वे चबाने तथा काटने की क्रिया से आनन्द प्राप्त करते हैं। इन क्रियाओं के आधार पर व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्धारित होता है। यदि इस अवस्था की आवश्यकतायें पूरी नहीं होती हैं और बच्चा संतुष्टि का अनुभव नहीं करता तो आगे चलकर उसका व्यक्तित्व, अधिक बातूनी, पराश्रयी, अतिभोजी प्रकार का हो जाता है।

द्वितीय अवस्था– 'गुदावस्था' –यह अवस्था लगभग डेढ़ वर्ष से लेकर तीन वर्ष की आयु तक होती है। इस अवस्था में बच्चा मल–मूत्र की क्रियाओं से आनन्द प्राप्त करता है। इसमें किसी भी प्रकार की असन्तुष्टि होने पर गुदा–प्रकार का व्यक्तित्व विकसित होता है।

तृतीय अवस्था– 'लिंगावस्था' –जब बच्चा चार या पाँच वर्ष का हो जाता है तो वह इस अवस्था में पहुँच जाता है तथा अपने गुप्त अंगों को छू–कर लैंगिक आनन्द प्राप्त करता है। इसी अवस्था में लड़कियाँ अपने पिता के तरफ आकर्षित हो जाती हैं जिसको फ्रायड ने पितृ मनोग्रंथि **(electra complex)** कहा तथा लड़के अपनी माँ के प्रति आकर्षित होते हैं जिसको मातृ–मनोग्रन्थि **(oedipus complex)** कहा। लेकिन माँ के तरफ आकर्षण के कारण बालकों में अंण्डाच्छेदन–चिन्ता **(castration anxiety)** उत्पन्न हो जाती है और कुछ दिन पश्चात् उनका माँ के तरफ आकर्षण का भाव जाग उठता है और पुनः वे पिता के तरफ उन्मुख हो जाते हैं। इसी प्रकार लड़कियों में लिंग–ईर्ष्या **(penis envy)** हो जाती है तथा वे माँ के प्रति उन्मुख हो जाती हैं। यदि इस अवस्था को बच्चे सफलतापूर्वक पार नहीं कर पाते तो बड़े होने पर उनमें समलैंगिकता, नपुंसकता, मन्दकामुकता आदि विकृतियाँ आदि विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और वे ईर्ष्यालु, विद्वेषी तथा विरोधी प्रकृति वाले बन जाते हैं।

चतुर्थ अवस्था– 'अप्रकट कामावस्था' –इस अवस्था को प्रच्छन्न अवस्था भी कहते हैं जिसमें लैंगिक प्रवृत्तियाँ शान्त रहती हैं तथा बालक बाह्य संसार को समझने में अपना समय व्यतीत करता है। यह अवस्था छः से बारह वर्ष के बीच की होती है।

पंचम अवस्था– 'जननावस्था' –यह अवस्था युवा होने के साथ–साथ शुरू हो जाती है जिनमें व्यक्ति समलिंगी की ओर आकर्षित होता है। इसके भी दो रूप होते हैं– अग्र आनन्द या संभोग। शुरू की अवस्थाओं में लैंगिक आनन्द प्रतिरूपी क्रियाओं से ही प्राप्त हो जाते थे किन्तु इस अवस्था में वास्तविक संभोग की क्रिया से आनन्द मिलता है।

इस प्रकार हम देखतें हैं कि फ्रायड ने कड़ी मेहनतकर व्यक्तितव को समझने और समझाने का कार्य किया है तथा काम–प्रवृत्ति को व्यक्तित्व के साथ आवश्यक रूप से जोड़ा है। किन्तु फ्रायड के दो शिष्यों, युंग और एडलर ने उनके सिद्धान्त की आलोचना की तथा अपना मत प्रस्तुत किया।

एडलर के विचार –

एडलर ने फ्रायड के लैंगिक सम्प्रत्यय को स्वीकार नहीं किया तथा शक्ति–इच्छा **(will for power)** को व्यक्तित्व निर्धारण करने वाले मूल–अभिप्रेरकों के रूप में माना। पुनः एडलर ने श्रेष्ठता–प्रयास के सम्प्रत्यय को दिया तथा बताया कि प्रत्येक व्यक्ति बचपन में असहाय होता है जिससे उसके अन्दर हीनता तथा अपर्याप्तता की भावना उत्पन्न होती है। इसी की क्षतिपूर्ति के लिए वह श्रेष्ठता–प्रयास अपना लेता है। इस तरह एडलर, व्यक्तित्व के निर्माण के लिए शक्ति–इच्छा तथा श्रेष्ठता–प्रयास को महत्वपूर्ण स्थान देता है तथा मानता है कि इसके प्रयोग के स्वरूप के आधार पर व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

युंग के विचार –

युंग ने बताया कि मानव का चेतन मन ही उसका अहम् है। प्रत्येक व्यक्ति व्यवहार के लिए एक वाह्य पक्ष का सहारा लेता है और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करता है। अहम् और वाह्य पक्ष के सफल सामंजस्य से वह अधिक सजगता के साथ कार्य करता है। युंग ने 'स्व–अहम्' को व्यक्तित्व का केन्द्रीय बिन्दु माना है जो चेतन और अचेतन पर नियंत्रण रखता है।

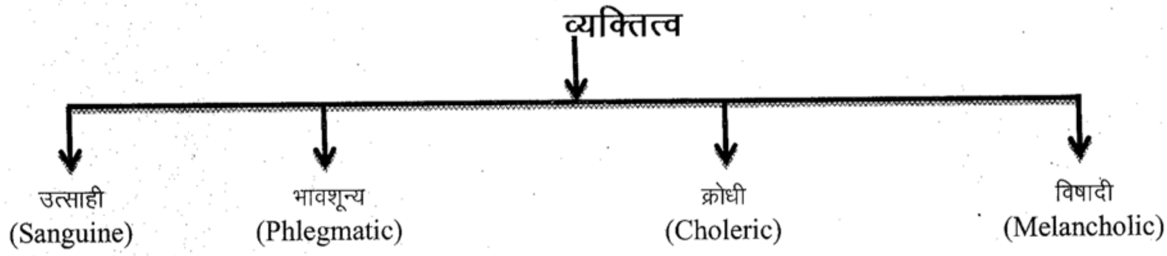
अचेतन के दो पक्षों का वर्णन करते हुए युंग बताते हैं कि व्यक्तिगत अचेतन में व्यक्ति की दमित एवं विस्मृत अनुभव रहते हैं एंव विश्वास रहते हैं। इनमें विश्व–व्यापी एकरूपता पायी जाती है। इसे युंग ने "आद्य–प्रारूप" कहा। हालांकि 'आद्य–प्रारूप' पर युंग की आलोचना हुई। परन्तु यह आलोच्य विषय है नहीं। एक चिड़िया का बच्चा अपने पूर्वजों से घोंसला बनाना नहीं सीखता परन्तु यह वैसा ही घोंसला बना देता है जैसा कि उसके पूर्वज बनाते आये हैं। ठीक इसी प्रकार बालक जब पढ़ना–लिखना नहीं जानता तभी स्लेट या कागज पर जो लकीरें या गोला बनाता है उसका भी महत्व होता है पर हम उसे समझ नहीं पाते। हो सकता है कि बच्चा कोई गूढ़ बात बताना चाह रहा हो।

व्यक्तित्व प्रकार

यों तो मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से व्यक्तित्व को सैकड़ों प्रकार में बाँटा गया है, पर एक सुगम पाठक के लिए इनका नाम याद रख पाना कठिन है। इसलिए यहाँ प्रयास किया जा रहा है कि उन्हीं प्रकारों का उल्लेख किया जाय जो समझने में सरल हों एवं उपयोगी हों। यह एक कठिन कार्य है पर प्रयास करना हितकर होगा।

भारतीय वाग्ङमय में भी यही स्थिति है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व निर्धारण में विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं रहा है। फिर भी आम आदमी जिसको अपने व्यक्तित्व के बारे में जानना हो कि उसका व्यक्तित्व किस कोटि में आता है, उसे तो उत्सुकता होगी। इसलिए लेखक का प्रयास है कि तमाम व्यक्तित्व प्रकारों में से कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तित्व प्रकारों का वर्णन किया जाय।

(I) **गैलेन के अनुसार –**



उपरोक्त चारों प्रकार के व्यक्तित्व की विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

उत्साही	**भावशून्य**	**क्रोधी**	**विषादी**
विनोदशील	विवेकी	उत्तेज्य	चिन्तित
आराम पसन्द	नियमवादी	आत्मकेन्द्रित	अप्रसन्न
निश्चिन्त	नियन्त्रित	आत्मप्रदर्शक	अवनमित
आशावादी	जिद्दी	उतावला	संदेही
सन्तुष्ट	शान्त	सक्रिय	विचारमग्न

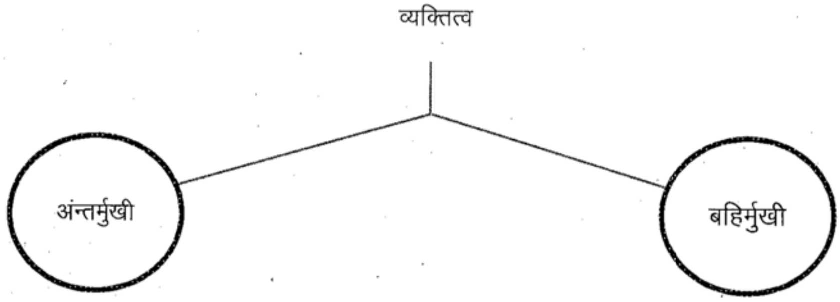
गैलेन ने जो वर्गीकरण किया उसका कारण वह शरीर के चार द्रवों **(humour)** में से किसी एक की प्रधानता बताया। उसने दावा किया कि जिन लोगों में काला पित्त ;इसंबा इपसमद्ध अधिक रहता है वे उदासीन **(melancholic)** प्रकृति के होते हैं।

जिनके अन्दर पीला पित्त **(yellow bile)** बढ़ जाता है वे क्रोधी **(choleric)** और चिड़चिड़े स्वभाव के होते हैं।

जिन लोगों में रक्त **(melancholic)** की प्रधानता होती है, वे विश्वासी और आशावादी होते हैं।

जिनमें कफ अथवा बलगम **(phlegm)**की प्रधानता होती है वे सुस्त, शान्त एवं निरुत्साह रहा करते हैं।

(II) युंग का वर्गीकरण



अन्तर्मुखी व्यक्तित्व (Introvert Personality) –अन्तुर्मखी एक ऐसा व्यक्तित्व है जो दूसरों से अलग रहने और आत्मकेन्द्रित क्रियाओं में सर्वाधिक संतोष का अनुभव करता है। ये लोग अमल मन वाले, विचार–प्रधान, कल्पनाशील तथा आदर्शवादी होते हैं। अतः इन लोंगों का झुकाव अपने आन्तरिक जीवन की ओर होता है।

बहिर्मुखी व्यक्तित्व (Extrovert Personality) –बहिर्मुखी ऐसा सामाजिक परिस्थितियों को पसन्द करता है। उसकी अभिरुचि बांह्य जगत की घटनाओं एवं परिस्थितियों की ओर होती है, वह व्यावहारिक होता है और कठोर मन वाला यथार्थवादी होता है।

(III) **स्प्रैंगर का वर्गीकरण**–इसके अनुसार व्यक्तित्व के छः प्रकार हैं–

(1) सैद्धान्तिक प्रकार (Theoretical type)– सत्य की खोज, ज्ञान का संगठन एवं व्यवस्थापन।

(2) आर्थिक प्रकार (Economic type)– सदा लाभ की खोज में रहना।

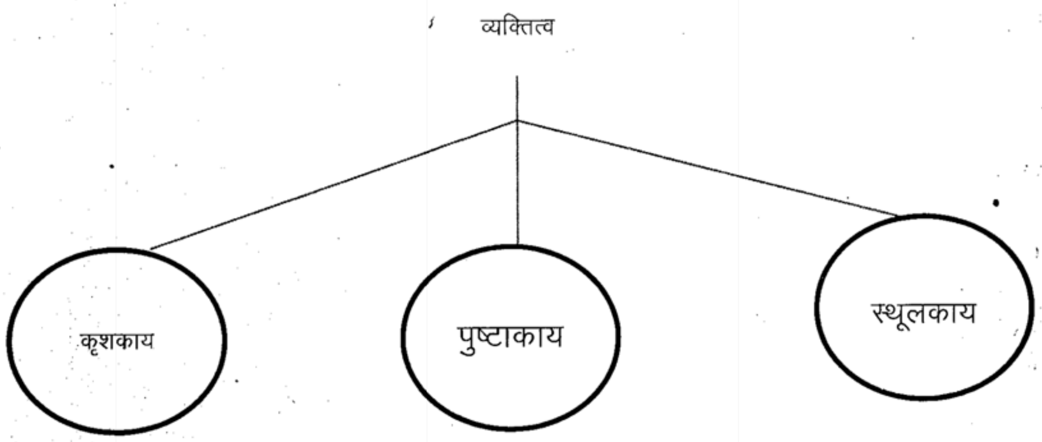
(3) सौन्दर्य प्रकार (Aesthetic type)– सुन्दरता को नरमसत्य मानना, सभी अनुभवों को सुन्दरता के दृष्टिकोण से जाँचना।

(4) सामाजिक प्रकार (Social type)– दूसरे लोगों के प्रति प्रेम एवं सद्भावना की भावना।

(5) राजनीतिक प्रकार (Political type) – जीवन के सभी क्षेत्रों में सत्ता एवं अधिकार की खोज, दूसरों पर नियन्त्रण का प्रयास।

(6) धार्मिक प्रकार (Religious type)— सम्पूर्ण विश्व की एकता पर विश्वास, ईश्वरीय शक्तियों एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों पर विश्वास।

शरीर—गठन के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण क्रेशमर के अनुसार—

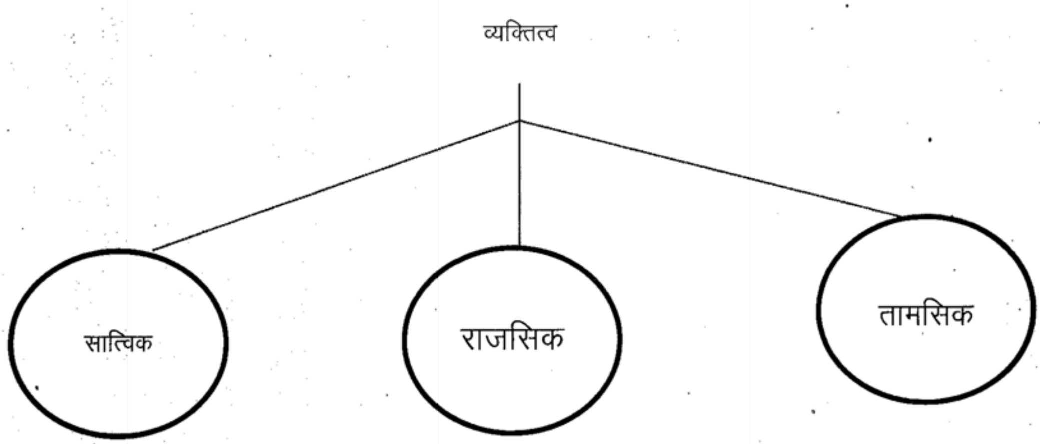


(1) कृशकाय (Asthenic)—दुबले—पतले तथा लम्बे, नींद कम आना। ऐसे लोग खतरनाक होते हैं।

(2) पुष्टकाय (Athletic)—सुडौल, पुष्ट एवं सुविकसित, ऊँचाई व मोटाई सन्तुलित।

(3) स्थूलकाय (Pyknic)—नाटे, खूब मोटे, पेट निकलना गोल छाती, छोटे हाथ—पाँव, भारी शरीर, गहरी निद्रा।

भारतवर्ष में व्यक्तित्व के प्रकारों को भलीभाँति समझाया गया है। जिसको सबसे अधिक महत्व प्रदान किया गया है, वह है—



सात्विक व्यक्तित्व –श्रेष्ठ व्यक्तित्व, सफलता–असफलता में समभाव, सात्विक आहार, सात्विक श्रद्धा, सात्विक बुद्धि, सात्विक ज्ञान, सात्विक दान, सात्विक,त्याग इत्यादि।

राजसिक व्यक्तित्व –आसक्ति, फल की प्राप्ति में बेचैन, लोभी, हिंसक, हर्ष–शोक से लिप्त, चंचल, चिन्तित इत्यादि।

तामसिक व्यक्तित्व –लोभ, निद्रा, क्रूरता, नास्तिक्य, पैशुन्य, यानाशीलता, प्रमाद इत्यादि।

भारतीय व्यक्तित्व सिद्धान्त

भारतीय व्यक्तित्व को समझने के लिए जो तथ्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है वह है पुरुषार्थ (Man and his duties)। पुरुषार्थ 4 प्रकार के बताये गये हैं –

- धर्म
- अर्थ
- काम
- मोक्ष

इन पुरुषार्थ की प्राप्ति सभी भारतीय मानव की चाह रही है। इस पर अपनी व्याख्या देते हुए के.एम. कपाड़िया कहते हैं–

"मोक्ष मानव–जीवन के परम उद्देश्य तथा मानव की आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतीक है। 'अर्थ' मानव के 'प्राप्त करने के सहज स्वभाव' की ओर संकेत करता है तथा उसकी धन के संग्रह, उपभोग व इससे सम्बन्धित अन्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करता है। 'काम' मानव के सहज स्वभाव और भावुक जीवन को व्यक्त करता है तथा इसका कार्य मनुष्य की काम भावना और सौन्दर्य–प्रियता की वृत्ति को सन्तुष्ट करना है। ये दोनों (अर्थ तथाम काम) इस संसार में व्यक्ति के भौतिक लगाव कार्यकलाप तथा जीवन की सफलता का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'धर्म' मानव की पाशविक एवं दैवीय प्रकृति के बीच की श्रृंखला है। इस प्रकार ये चारों उद्देश्य आध्यात्मिकता के लिए किए गये प्रयत्नों के बीच समन्वय स्थापित करते हैं।"

उपरोक्त पुरुषार्थ की प्राप्ति किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए नहीं अपितु सर्वसामान्य के लिए है। इसकी प्राप्ति आश्रम व्यवस्था के माध्यम से की जा सकती है। व्यक्तित्व विकास के लिए तथा समाज को संगठित रखने के लिए आश्रम व्यवस्था महत्वपूर्ण थी। भारतीय संस्कृति के अधिष्ठाता महर्षि इस तथ्य के बारे में पूर्णतया जागरूक थे कि व्यक्तिगत जीवन को सन्तुलित किए बिना समाज कल्याण में वृद्धि नहीं की जा सकती। यदि हम मानवीयता और सद्गति के लक्ष्य को स्वीकार करते हैं तब मोक्ष की वास्तविकता अपने आप स्पष्ट हो जाती है क्योंकि मोक्ष का तात्पर्य सुख और विलास से युक्त किसी दूसरे लोक में पहुँच जाना नहीं बल्कि अपने गुणों की एक स्पष्ट छाप समाज पर छोड़ देना है।

इस तरह भारतीय व्यक्तित्व एक कॉमन लक्ष्य को ध्यान में रखकर निर्मित होता है।

गुणातीत व्यक्तित्व

गुणों के कारण ही सुख–दुःख की अनुभूति होती है। शुद्ध व्यक्तित्व के विकास के लिए व्यक्ति को तपना पड़ता है, कठिन साधना करनी पड़ती है। चेतना के साथ व्यक्ति सहज रूप से जुड़ जाता है। ज्ञान के साथ न्यायात्मक विवेक और जिज्ञासा, कर्म के साथ न्यायात्मक विवेक और चिकीर्षा, संवेदना के साथ सहृदयता और रस अनुभूति की भावना जुड़ी होती है। व्यक्ति इच्छा करता है, आवश्यकता महसूस करता है, उसी के लिए सोचता है, उसी के लिए कार्य करता है लेकिन साथ–साथ भाग्य भी जुड़ा रहता है। प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण भी साथ–साथ लगा रहता है जो व्यक्ति को सफल–असफल बनाने में सहयोग करता है। गीता में त्रिगुण सिद्धान्त के आधार पर तीन तरह के व्यक्तित्व की चर्चा मिलती है और गुणातीत व्यक्तित्व को सर्वोत्कृष्ट व्यक्तित्व बताया गया है जिसकी तुलना परिपक्व व्यक्तित्व से की जाती है। गुणातीत व्यक्तित्व वह है जिसको गुण–अवगुण प्रभावित न कर सकें तथा मानव कल्याण का जो मार्ग–प्रशस्त करता हो। यहाँ पर यह शंका उठायी जा सकती है कि गुण जिसको प्रभावित न करता हो, वह मानव कल्याण को कैसे स्थापित कर सकता है ? यहाँ गुण का अर्थ सुख से लेना चाहिए। ऐसा अर्थ करने पर गुणातीत व्यक्तित्व को समझा जा सकता है।

गुणातीत ही विश्वोत्तीर्ण, स्थितप्रज्ञ आदर्श व्यक्तित्व है। आत्मज्ञ, आत्मतृप्त, आत्मसंतुष्ट, जितेन्द्रिय, विशुद्ध अन्तःकरण वाला ही गुणातीत है। तत्वज्ञ देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सोता हुआ, श्वाँस लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, आँखों को खोलता एवं बन्द करता हुआ उससे निर्लिप्त और इन्द्रियों को इसका कारण मानने वाला गुणातीत है। शीत–उष्ण, सुखः–दुख, मान–अपमान में गुणातीत की आत्मा प्रशान्त होती है। जिसका अन्तःकरण ज्ञान–विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकार रहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं, जिसकी धारणा मिट्टी, प्रस्तर एवं सुवर्ण में समान है वह गुणातीत प्रकार है। सभी में समभाव से देखने वाला, आत्मा को सभी प्राणियों में स्थित और प्राणियों को आत्मा में देखने वाला स्थित प्रज्ञ है। जो व्यक्ति सब भूतों में द्वेषभाव से

रहित, स्वार्थ रहित, सभी का प्रेमी, हेतु रहित, दयालु, ममता रहित, निरहंकार, क्षमतावान, यतात्मा और निरन्तर मन–इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किए हुये है, वह गुणातीत है। जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणों में बरतते हैं– ऐसा समझता हुआ परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है और स्थिति से कभी विचलित नहीं होता, वह विश्वोत्तीर्ण है।

सतोगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी इन त्रिविधि गुणों से भिन्न गुणातीत व्यक्तित्व की चर्चा भारतीय संस्कृति एवं भारतवासियों को अन्य विधाओं से अलग कर महत्व प्रदान करती है। मैंने ऊपर इस बात की विवेचना की है कि इस व्यक्तित्व का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है नहीं इसको भारतीय व्यक्तित्व कहा जा सकता है परन्तु मानव गुणातीत व्यक्तित्व प्राप्त कर सकता है, इसकी सम्भावना है। मैस्लो ने अपने सोपानिक सिद्धान्त में इस बात की ओर अप्रत्यक्षतः इशारा किया है लेकिन उसका अन्तिम सोपान (केन्द्रीय या लक्ष्य) गुणातीत व्यक्तित्व को सीधे स्पर्श नहीं करता। व्यक्तित्व के सन्दर्भ में गुणातीत व्यक्तित्व, श्रीकृष्ण के अपने मुख से बताया गया एक प्रकार है। ऐसे पुरुष की चर्चा ऋग्वेद में भी मिलती है किन्तु दूसरे रूप में, जिसे पुरुष तो कहा गया परन्तु वह लौकिक पुरुषों से भिन्न है। ऐसा भी नहीं हे कि इस प्रकार के व्यक्तित्व की कल्पना सम्भव नहीं है। यदि ऐसा न होता तो इसकी चर्चा श्रीकृष्ण नहीं करते और यह भी थककर नहीं कहते कि "सर्वधर्म परित्यज्य माम एकं शरणं व्रज"।

उपरोक्त विवेचना व्यक्तित्व के इर्द–गिर्द सभी पहलुओं के सन्दर्भ में मौलिक रूप में की गयी है। कुछ चिन्तकों ने इस पर अनुशीलन करके व्यावहारिक रूप देने की कोशिश की है जिसमें महर्षि अरविन्द का नाम उल्लेखनीय है। बाद में डॉ. इन्द्रसेन ने श्री अरविन्द के विचारों को आधार बनाते हुए व्यक्तित्व को समझने–समझाने का कार्य किया है। इन महानुभावों के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने भी इस दिशा में सोचना और कार्य करना शुरू किया है। वाराणसी, इलाहाबाद, हरिद्वार, विश्व विद्यालयों के मनोवैज्ञानिकों ने भारतीय तत्वों को समझकर अपने अध्ययन में समाविष्ट करना शुरू किया है।

उपरोक्त विवेचना के पश्चात् व्यक्तित्व के सन्दर्भ में महर्षि अरविन्द का चिन्तन भी अच्छे महत्व का है। उन्होंने व्यक्तित्व को समझने के लिए जिस उपागम को अपनाया उसे सोपानात्मक उपागम कहा गया। उनके अनुसार, व्यक्तित्व स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलता है तथा उसी तरह विकसित होता है। व्यक्तित्व के पाँच स्तर उन्होंने बताये– भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आध्यात्मिक, चैत्य सोपान।

इन स्तरों को समझाने में महर्षि अरविन्द ने कोशों का सहारा लिया तथा बताया कि भौतिक स्तर व्यक्तित्व का आधार है जो अन्नमय है। व्यक्ति के विकास की यह आवश्यक दशा है। बिना इसके व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता है। यह वाह्य व्यक्तित्व है। श्री अरविन्द ने बताया कि "हम कह सकते हैं कि हमारी दो सत्तायें हैं, एक तो ऊपरी सतह पर जिससे कि हमारा सामान्य वाह्य मन, प्राण और शरीर की चेतना होती है। दूसरा उस पर्दे

के पीछे है जो आन्तरिक मन, आन्तरिक प्राण तथा आन्तरिक भौतिक चेतना से मिलकर हमारे स्व को निर्मित करता है।" इस तरह दो सत्तायें हमारे अन्दर कार्य करती हैं।

प्राणिक स्तर जीवन की शक्ति एवं विभिन्न प्रकार की वासनाओं से सम्बन्धित होता है। पंच प्राण– प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान भी इसी में आते हैं। इसको विश्लेषित करते हुए अरविन्द लिखते हैं "सत्ता का स्नायु भाग प्राण का ही एक अंश है– यह प्राणगत शरीर है, यह वह जीवनी शक्ति है जो शरीर की प्रतिक्रियाओं, कामनाओं, आवश्यकताओं, संवेदनाओं आदि में घनिष्ठ रूप से आबद्ध है। मुख्य प्राण वह जीवनी शक्ति है जो अपने निजी स्वभाव में, आवेगों, भावों, बोधों, कामनाओं, महत्वाकांक्षाओं आदि में कार्य करती है।"

मनोमय स्तर में मुख्य मन है जो संकल्प–विकल्प का कार्य करता है। महर्षि ने मन के दो स्वरूप का वर्णन किया है– प्राणिक मन तथा यथार्थ मन। यथार्थ मन, विचार करता है, मानसिक क्रियाओं को गतिशील करता है तथा विचारों को अभिव्यक्त करता है। किन्तु मनोमय सोपान का कार्य इतने से ही समाप्त नहीं हो जाता अपितु वह और अन्तरतम में प्रविष्ट होता है। जब व्यक्ति के व्यक्तित्व में चैत्य–चेतना प्रकट होने लगती है तो व्यक्तित्व के आन्तरकि पक्ष का प्रस्फुटन होता है।

चैत्य, आत्मा का पर्याय है। इसका विकास भी एक क्रम में होता है– सामान्य मन के ऊपर उच्चतर मन होता है। प्रदीप्त मन में आध्यात्मिक प्रकाश, अन्तर्बोधी मन में उच्चतर बौद्धिक क्षमता होती है। श्री अरविन्द के अनुसार, "मन के विकास का चरम बिन्दु अतिमन अथवा अतिमानस में दिखायी देता है। अतिमानस सत्य चेतना है। अतिमानस सत्य चेतना है जहाँ हमें सत् चित्त का साक्षात्कार होता है।"

"चैत्य पुरुष क्रम विकास के अन्दर अन्रात्मा के द्वारा गठित होता है। वह मन, प्राण और देह को सहारा देता है, इनके अनुभवों से बर्द्धित होता है, प्रकृति को एक जीवन से दूसरे जीवन में ले जाता है। यह अन्तः पुरुष या चैत्य पुरुष कहलाता है। यह अपनी आरम्भिक अवस्था में मन, प्राण तथा शरीर के प्रभाव में रहता है। धीरे–धीरे इसका जब विकास होता जाता है तब वह इनको अपने अधिकार में करने लगता है। इस तरह उसके सर्वांगीण व्यक्तित्व निर्मित हो जाता है तो वह आत्म संयमी बन जाता है। वह व्यर्थ के वाद–विवाद, तर्क–वितर्क, आलोचना,–प्रत्यालोचना से बचने लगता है। किसी के प्रति कठोर बचन नहीं बोलता, नहीं ऐसे वाणी से विचलित होता है।

डॉ. इन्द्रसेन महर्षि के विचारों पर सहमति जताते हुए लिखते हैं कि "श्री अरविन्द के लिए मानवीय व्यक्तित्व केवल चेतन और अचेतन मन का संगठन नहीं है बल्कि उसका अत्यधिक महत्वपूर्ण भाग 'अतिचेतन' है। यह व्यक्ति के उच्चतर भावी अवस्थाओं का द्योतक है। मानव का वह विकास जिसे वह तय कर चुका है, उसके अवचेतन को तय करता है। यह हमारे भूत के संस्कारों का संग्रह होगा। यह वर्तमान व्यवहारों को निर्धारित तो करेगा पर सीमित

नहीं कर सकता। यदि ऐसा होता तो उन्नति और विकास सम्भव नहीं होता। यह अतिचेतन पूर्णतर समन्वय की दिशा दिखलाता है।"

श्री अरविन्द बताते हैं कि अतिचेतन एक विस्तृत क्षेत्र है जिसमें अधिकाधिक शक्तिशाली स्तर अनुभव में आते हैं। प्रथम स्तर को वे अन्तरात्मा कहते हैं। यह हमारी नैतिक अन्तरात्मा से सर्वथा भिन्न है। यह वस्तुतः एक आध्यात्मिक सत्ता है। जिसे हम अपने व्यक्तित्व में अन्दर को प्रवेश करते हुए हृदय में अनुभव करते हैं। यह सामान्य चेतना से बहुत अधिक सजग आनन्दमय एवं सशक्त है। यह अपने स्वभाव में एकत्वमय है और व्यक्तित्व के द्वन्दों में उत्तरोत्तर एकत्व सम्पादित करने में सफल होती है। यह मानव में दिव्य तत्व है। आत्मा की अपेक्षा व्यक्तित्व का यह तत्व अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह मानवीय व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर सकता है, दिव्य बना सकता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् महर्षि ने व्यक्तित्व के चतुर्विध रूपों का वर्णन प्रस्तुत किया है–

ज्ञान प्रधान व्यक्तित्व (ब्राह्मण प्रकार व्यक्तित्व)

शक्ति प्रधान व्यक्तित्व (क्षत्रिय प्रकार व्यक्तित्व)

उत्पादन–वितरण प्रधान व्यक्तित्व (वैश्य प्रकार व्यक्तित्व)

श्रम–सेवा प्रधान व्यक्तित्व (शूद्र प्रकार व्यक्तित्व)

सम्भव है कि महर्षि ने वर्ण विभाजन के सैद्धान्तिक आधार की जड़ में घुसने का प्रयास किया है और उसी के अनुरूप उस विभाजन पर सहमति देते हुए व्यक्तित्व के प्रकारों का उल्लेख किया हो क्योंकि भारत में मनीषियों ने इसी के आधार पर वर्ण विभाजन किया होगा। कालान्तर में यह स्थायी रूप ले लिया। हालांकि इस पर प्रश्न खड़े हो सकते हैं परन्तु यह सत्य है कि मानवों में ज्ञान, शक्ति, व्यापार एवं श्रम के आधार पर व्यक्तित्व का निर्माण होता है। ज्ञानवान, शक्तिवान, व्यापारिक कर्म एवं श्रमवान किसी विशिष्ट वर्ण के अनुसार ही हो सकते हैं, ऐसा नहीं है और महर्षि अरविन्द ने वर्ण का कहीं उल्लेख भी नहीं किया।

महर्षि अरविन्द ने 'योग समन्वय' में कहा है कि "मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि हमारे अन्दर परमात्मा की तथा उसकी कार्यवाहिका शक्ति की ये चार सक्रिय शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ हैं और हमारे व्यक्तित्व के अपेक्षाकृत सुगठित भाग में इनमें से किसी एक–दूसरे की प्रधानता के कारण ही हमें हमारी मुख्य प्रवृत्तियाँ, प्रभुत्वपूर्ण गुण और क्षमताएँ कर्म और जीवन की प्रभावशाली दिशा प्राप्त होती है। परन्तु ये न्यूनाधिक मात्रा में भी मनुष्यों में विद्यमान हैं, कहीं प्रकट है तो कहीं प्रच्छन्न, यहाँ विकसित है तो वहाँ दमित एवं अवसन्न या वशीभूत। सिद्ध पुरुष में ये एक ऐसी पूर्णता एवं समस्वरता में लीन हो जायेंगी जो आध्यात्मिक मुक्ति की अवस्था में आत्मा के अनन्त गुणों की मुक्त

लीला के रूप में फूट पडेंगी। वह लीला अन्तर और वाह्य जीवन में तथा अपनी और जगत की प्रकृति शक्ति के साथ पुरुष की आत्मरति पूर्ण एवं सर्जनशील रास क्रीड़ा में प्रकट होगी।"

इस प्रकार व्यक्तित्व के सन्दर्भ में किये गये कार्यों एवं मूल अवधारणाओं को हमने देखा। व्यक्तित्व के स्वरूप, प्रकार तथा व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में जो कार्य पाश्चात्य जगत में किया गया तथा उसकी अवधारणा के संदर्भ में भारत में जो कुछ भी उपलब्ध है, दोनों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया। दोनों दिशाओं के विचारों में जो मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं, उनमें यह बात प्रमुख रूप से उभड़ती है कि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक, व्यक्तित्व को मनोविज्ञान के अपने ढाँचे के बाहर नहीं जाने देना चाहते। वे उसी दायरे में व्यक्तित्व का विवेचन करते हैं। भारत में व्यक्तित्व के संदर्भ में व्यवहार और शरीर रचना से कहीं अधिक, इसके आध्यात्मिक पक्ष पर विचार किया गया है। क्योंकि गुणातीत व्यक्तित्व, देव व्यक्तित्व, सर्वसार व्यक्तित्व, श्रद्धा चरित व्यक्तित्व पर जो तथ्य प्रस्तुत किये गये, वे भारतीय सोच को प्रेक्षपित करते हैं। भारत में व्यक्तित्व के विकास के लिए भौतिक आधार को महत्वपूर्ण माना गया लेकिन सिर्फ उसे भौतिक आधार देकर छोड़ने की कोशिश नहीं हुई। उसे मानव को देव तथा उससे भी अधिक बनने का माध्यम माना गया। इसलिए भारतीय दृष्टि से व्यक्ति का व्यक्तित्व शरीरिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के आधार पर बनता है। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उस समय अत्यधिक प्रदीप्त हो उठता है जब अन्तरतम आत्मज्ञान उसके सौन्दर्य पर भारी पड़ता है। व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करने वाले कारकों में वंश, आकार, आयु, आत्मबल, बुद्धि रंग, दृष्टि मुद्रा, वृत्ति, परिवेश, वस्त्र, संस्कार एवं चरित्र का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव में, भारतीय व्यक्ति और समाज के मनोविज्ञान को समझने के लिए मनोवैज्ञानिकों को भारतीय व्यक्तित्व की संकल्पना का सहारा लेना होगा जो पृथक् संस्कृति में विकसित होता है। पूँजीवादी और भौतिकवादी संस्कृति में पले व्यक्तियों के व्यक्तित्व का अनुप्रयोग भारतीय समाज के लिए बेमानी है। मेरा अपना विचार है कि व्यक्तित्व का पाश्चात्य दृष्टिकोण जो पूर्णतः वैज्ञानिक है एक भारतीय को समझने में कारगर हो सकता है परन्तु एक भारतीय समाज के लिए उतना उपयोगी नहीं हो सकता। हालांकि उसका प्रयोग भारतीय मनोवैज्ञानिक बेहिचक करते हैं और अपने परिणामों की विवेचना करते हैं परन्तु कहीं न कहीं उसमें अधूरापन खटकता है। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय व्यक्तित्व की अवधारणा को बारीकी से समझा जाय तथा उसके काल्पनिक तत्वों को निरसित करते हुए उपयोगी तत्वों पर अनुशीलन किया जाय। इससे भारतीय व्यक्तित्व, जिसका लक्ष्य लौकिक से पारलौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति है, को समझने में मदद मिलेगी।

हमने जाना

- मनोविज्ञान पहले मन का विज्ञान फिर आत्मा का विज्ञान माना जाता था। अब मनोविज्ञान के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

- मनोविज्ञान यह मानकर चलता है कि व्यक्ति के मानसिक संवेग उसके व्यवहार के माध्यम से परिलक्षित होते हैं।

- मनोविज्ञान के अनेक आयाम हैं जैसे– सामाजिक मनोविज्ञान, असामान्य मनोविज्ञान, बाल मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, परामर्श मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान, मनोमिती, शरीर क्रिया मनोविज्ञान, अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान इत्यादि।

- असामान्य मनोविज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के असामान्य व्यवहार का कारण एवं निदान से संबंधित विषयों का अध्ययन किया जाता है।

- किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में आने वाली विकृतियों के कारण उसके द्वारा किये जाने वाले सामान्य व्यवहार से पृथक व्यवहार को असामान्य व्यवहार कहा जाता है।

- मानसिक स्वास्थ्य एवं शारीरिक स्वास्थ्य होने पर ही किसी व्यक्ति को स्वस्थ माना जाता है।

- मानसिक स्वास्थ्य का तात्पर्य है कि व्यक्ति के तनावमुक्त, चिन्तारहित तथा उसका आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों से समायोजन करना।

- मानसिक स्वास्थ्य वर्तमान समय में एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है।

- जो अमूर्त को, अप्रत्यक्ष को, अप्रकट को, अव्यक्त को स्पष्ट करने अथवा दूसरों को समझाने की क्षमता रखता हो उसे व्यक्ति कहते हैं।

- प्रत्येक व्यक्ति का एक व्यक्तित्व होता है।

- फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व के तीन रूप हैं– संतुलित, रचनात्मक एवं विध्वंसात्मक।

- गुणों के कारण ही सुख–दुख की अनुभूति होती है जो गुणों से प्रभावित नहीं होता है उसे गुणातीत व्यक्तित्व कहा जाता है।

कठिन शब्दों के अर्थ

- एरास थेनाटॉस – एरास सकारात्मक एवं रचनात्मक प्रवृत्ति एवं थेनाटॉस नकारात्मक एवं विध्वंसात्मक मूल प्रवृत्ति का द्योतक है।

- इड, इगो एवं सुपर इगो – फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व निर्माण के तीन स्तर हैं।
- चेतन, अवचेतन एवं अचेतन – मन का वह भाग जो चेतन्य अवस्था में वर्तमान समय में रहता है चेतन कहलाता है। अवचेतन भूतकाल की स्मृतियों का वह संग्रह है जो याद करने पर आसानी से प्रकट हो जाता है। अचेतन मन में समस्त स्मृतियां विस्मृति के रूप में पड़ी रहती हैं जो बहुत जोर देने पर प्रकट होती है।

अभ्यास के प्रश्न

1. मानव व्यवहार किसे कहते हैं ?
2. मनोविज्ञान का अर्थ एवं परिभाषा बताइए।
3. मनोविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए।
3. मनोविज्ञान के विविध आयामों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. मानसिक स्वास्थ्य से आप क्या समझते हैं ?
5. असामान्य व्यवहार किसे कहते हैं? असामान्य व्यवहार के निदान करने के लिए क्या किया जाता है।
6. व्यक्तित्व क्या है ? व्यक्तित्व के विभिन्न प्रकार को स्पष्ट कीजिए।
7. संतुलित व्यक्तित्व से आप क्या समझते हैं ?
8. व्यक्तित्व विकास के विविध प्रक्रियाओं को स्पष्ट कीजिए।

आओ करके देखें

- अपने क्षेत्र के स्कूल में अध्ययनरत् असामान्य बच्चों की सूची बनाएँ।
- विध्वंसकारी प्रवृत्ति के बच्चों के समायोजन हेतु अपने क्षेत्र में संचालन करने के लिए एक योजना का निर्माण कीजिए।

अधिक जानकारी के लिए संदर्भ सूत्र

- पान्थरी शैलेन्द्र, सिंह अमरेन्द्र प्रताप, आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, वाराणसी, पृष्ठ 240।

- वही, पृष्ठ 290।
- वहीं, पृष्ठ 247।
- वहीं, पृष्ठ 280।
- दास अभिजित एवं सिंह सतीश कुमार, 2007, सम्भव है बदलाव, सहयोग प्रकाशन, लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ–4।
- कुमार अनुप, जुलाई सितम्बर, 2005 सहवाणी, सहभागी शिक्षण केन्द्र लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ 14–15।
- राव, ब्रिजेश के०पी० जुलाई सितम्बर, 2005 सहवाणी, सहभागी शिक्षण केन्द्र लखनऊ, उ०प्र० पृष्ठ 16–18।

■■■



मध्य प्रदेश–गान

सुख का दाता सब का साथी शुभ का यह संदेश है,
माँ की गोद, पिता का आश्रय मेरा मध्यप्रदेश है।

विंध्याचल सा भाल नर्मदा का जल जिसके पास है,
यहां ज्ञान विज्ञान कला का लिखा गया इतिहास है।
उर्वर भूमि, सघन वन, रत्न, सम्पदा जहां अशेष है,
स्वर-सौरभ-सुषमा से मंडित मेरा मध्यप्रदेश है।

चंबल की कल-कल से गुंजित कथा तान, बलिदान की,
खजुराहो में कथा कला की, चित्रकूट में राम की।
भीमबैठका आदिकला का पत्थर पर अभिषेक है,
अमृत कुंड अमरकंटक में, ऐसा मध्यप्रदेश है।

क्षिप्रा में अमृत घट छलका मिला कृष्ण को ज्ञान यहां,
महाकाल को तिलक लगाने मिला हमें वरदान यहां,
कविता, न्याय, वीरता, गायन, सब कुछ यहां विशेष है,
हृदय देश का है यह, मै इसका, मेरा मध्यप्रदेश है।

सुख का दाता सब का साथी शुभ का यह संदेश है,
माँ की गोद, पिता का आश्रय मेरा मध्यप्रदेश है।

वन्दे मातरम्

सुजलां, सुफलां, मलयज-शीतलाम्॥
शस्य-श्यामलां, मातरम्। वन्दे मातरम्॥

शुभ्र ज्योत्स्नां पुलकित-यामिनीम्,
फुल्लकुसुमित-द्रुमदल-शोभिनीम्,
सुहासिनीं, सुमधुरभाषिणीम्,
सुखदां, वरदां, मातरम्॥ वन्दे मातरम्॥

कोटि-कोटिकंठ कलकल निनाद कराले,
कोटि-कोटि भुजैर्धृतखरकरवाले।
अबला केनो मा एतो बले।
बहुबलधारिणीं, नमामि तारिणीम्
रिपुदलवारिणीं मातरम्॥ वन्दे मातरम्॥

तुमि विद्या, तुमि धर्म, तुमि हृदि तुमि मर्म
त्वं हि प्राणाः शरीरे।
बाहु ते तुमि मां शक्ति, हृदये तुमि मां भक्ति
तोमारई प्रतिमा गड़ि, मन्दिरे-मन्दिरे मातरम्॥ वन्दे मातरम्॥

त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणीं
कमलां कमलदलविहारिणीं
वाणी विद्यादायिनीं, नमामि त्वां, नमामि कमलाम् अमलां अतुलाम्
सुजलां सुफलां मातरम् .... श्यामलां, सरसां, सुस्मितां, भूषिताम्
धरणीं भरणीं मातरम्॥ वन्दे मातरम्॥

Centre for Community Leadership Development Studies
MAHATMA GANDHI CHITRAKOOT GRAMODAYA VISHWAVIDYALAYA
Chitrakoot, Satna (M.P.) - 485 334
Phone : 07670 - 265622, E-mail : cmcldpcourse@gmail.com
www.cmcldp.org